श्री गीता प्रवचनमाला

(द्वितीय भाग)

व्याख्याता
राष्ट्रपति सम्मानित
महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक
राष्ट्रपति सम्मानित
आचार्य डा॰ शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

डॉ. शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
सम्पादक

जन्मतिथि : 16 अप्रैल, 1934
पिता : म. म. पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
माता : श्रीमती गुलाब देवी चतुर्वेदी

प्रारम्भिक शिक्षा तथा माध्यमिक शिक्षा जयपुर, लाहौर, हरिद्वार, अल्वर तथा वाराणसी में। "वाल्मीकीय रामायण में राजनीति" विषय पर शोध-निबन्ध। अध्यापन संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ तथा संस्कृत विद्या धर्म विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में। वहाँ के साहित्य विभागाध्यक्ष पद से सन् 1994 में सेवानिवृत्त। संस्कृत और हिन्दी में 30 पुस्तकें लिखित सम्पादित व प्रकाशित। हिन्दी और संस्कृत की पत्रिकाओं में शताधिक शोध लेख, ललित निबन्ध तथा काव्य रचनाएँ तथा कहानियाँ। सम्प्रति धर्मागम विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अतिथि प्राध्यापक।

संस्कृत वाग्विवर्धिनी परिषद, कविभारती, आन्वीक्षिकी, श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी संस्थान, वाराणसेय संस्कृत संसद आदि अनेक संस्थाओं की स्थापना और मंत्रित्व तथा अध्यक्षता। 15 अगस्त 1999 को राष्ट्रपति डॉ. के.आर. नारायणन् द्वारा राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। संप्रति अपने पुत्रों डॉ. प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, का.हि.वि.वि.) तथा डॉ. संजय चतुर्वेदी (विद्युतव्यवसायनिरत) के साहचर्य में धर्मपत्नी श्रीमती सरोज चतुर्वेदी सहित वाराणसी में निवास करते हुए साहित्यानुशीलन तथा अध्यात्म चिन्तन।
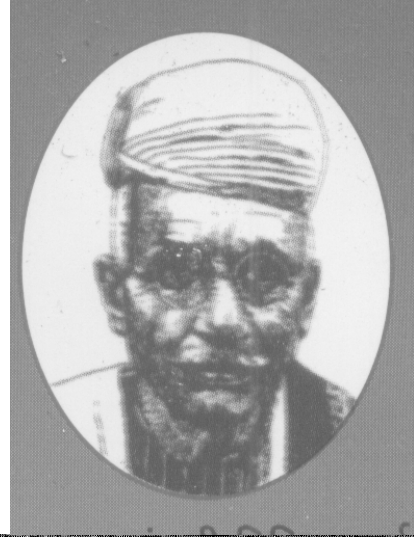
महामहोपाध्याय पं. श्री गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी
प्रवचनकर्ता

जन्मतिथि : पौ.शु. दशमी वि.स. 1938
निधनतिथि : 10 जून 1966
पिता : श्रीमान् गोकुलचन्द्र चतुर्वेदी
माता : श्रीमती लवङ्गी देवी चतुर्वेदी

राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर नगर में उत्पन्न, वहीं के संस्कृत कॉलेज में प्रारम्भ से सर्वोच्च शिक्षा तक प्राप्त। सर्वोच्च परीक्षा में विश्वविख्यात म.म. शिवकुमार शास्त्री की कलम से सौ में से सौ अंक प्राप्त। अध्यापन व्यवसाय का प्रारम्भ सहारनपुर के जैन महाविद्यालय से। अध्ययन काल में ही संस्कृत मासिक पत्र का संपादन एवं प्रकाशन। हरिद्वार के ऋषिकुल के प्रिंसिपल रहते हुए गुरुकुल के शास्त्रार्थ में भारत भर में विख्यात। लाहौर में 15 वर्ष निवासकाल में महामना पंडित मदनमोहनमालवीय, पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि का निकट सम्पर्क। पंजाब सिन्ध क्वेटा, विलोचिस्तान आदि में धर्मव्याख्यानार्थ अनेक बार यात्राएँ। देश के विभिन्न प्रमुख नगरों में अनेक बार यात्राओं में धर्माचार्यों, शंकराचार्यों, संस्कृत विद्वानों, हिन्दी कोविदों का निकट सम्पर्क सहयोग। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन आदि अनेक संस्थाओं के संस्थापक संचालक। ब्रिटिश गवर्नमेन्ट की सर्वोच्च संस्कृत उपाधि महामहोपाध्याय से, तथा स्वतन्त्र भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा 15 अगस्त 1958 को संस्कृत सम्मान में प्रथम स्थान। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जैसे दिग्गज सहाध्यायी। संस्कृत हिन्दी में 50 से अधिक ग्रन्थों के निर्माता। केन्द्रीय साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त। अपनी मातृसंस्था जयपुर संस्कृत कॉलेज के 20 वर्ष प्रिंसिपल रहकर सेवा निवृत्त। पुनः लाहौर और अलवर में प्रिंसिपल। देश विभाजन के उपरान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में सम्मानित शोध संचालक। 86 वर्ष तक निरन्तर लेखन भाषण अध्यापनरत रहते हुए 1966 में काशी में शिवसायुज्य।

श्री गीता प्रवचनमाला

द्वितीय भाग

व्याख्याता

राष्ट्रपति सम्मानित

महामहोपाध्याय पण्डित श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

संपादक

राष्ट्रपति सम्मानित

आचार्य डॉ॰ शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी

प्रकाशन कक्ष

काशीहिन्दूविश्वविद्यालय

वाराणसी–२२१००५

भारत

ISBN No. : 81-85305-23-4

पुस्तक का नाम : **श्री गीता प्रवचनमाला**
द्वितीय भाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५ की प्रकाशन अनुदान योजना के अन्तर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण : २००७

मूल्य : ३६०.००

प्रकाशक :
डा॰ विश्वनाथ पाण्डेय
विशेषकार्याधिकारी (प्रकाशन)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–२२१ ००५

पुस्तक प्राप्ति स्थान :
विशेषकार्याधिकारी, प्रकाशन कक्ष
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय-५ (भारत)
फोन : ९१-५४२-२३०-७२१६
फैक्स : ९१-५४२-२३६८५९८ / २३६८१७४
ईमेल : vnp@bhu.ac.in

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
रथयात्रा-गुरूबाग रोड
कमच्छा, वाराणसी-२२१०१०

प्रारम्भिक वक्तव्य

"श्रीगीता प्रवचनमाला" का यह द्वितीय षट्क भी आज भगवत्कृपा से पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा रहा है। इस द्वितीय षट्क में उपासना का वा अन्य मतानुसार उपास्य तत्त्व-भगवान् के स्वरूप का विस्पष्ट विवरण है। श्री विद्यावाचस्पति जी के मतानुसार भी यह "राजविद्या" अर्थात् भक्तितत्त्व का ही निरूपण है। भक्तितत्त्व, उपासना तत्त्व, वा उपास्य भगवान् के सम्बन्ध में मुख्य भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और अन्य श्रीरामानुजाचार्य आदि वैष्णव व्याख्याकारों का मतभेद होना एक स्वाभाविक सी बात है। इस विषय में हमने यथा सम्भव सभी व्याख्याकारों के उपयुक्त मतों का अपनी व्याख्या में संग्रह करने का प्रयास किया है। विशेषकर "दशम" आदि अध्यायों में जहाँ बहुत मतभेद हैं वहाँ अवश्य ही सब व्याख्याकारों का तात्पर्य स्पष्ट रूप से अपनी "प्रवचन माला" में देने का प्रयास किया है। यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है, इसे तो विज्ञ पाठक ही देख सकेंगे।

इस षट्क में अष्टम अध्याय में श्राद्धतत्त्व का विवरण, दशम-विभूति अध्याय में "श्री शिव" और उनके मस्तक पर विराजमान "भगवती गङ्गा" का पुराणोक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है, एवं, बारहवें अध्याय में "मूर्तिपूजा" को शास्त्र से असम्मत कहने वाले मत का विस्तार से खण्डन किया है, तथा मूर्तिपूजा को वेद, स्मृति, पुराण आदि से सम्मत सिद्ध किया गया है। आशा है इन विस्तृत व्याख्यानों पर विज्ञ पाठक विशेष रूप से ध्यान देंगे।

यह भी हमने स्थान-स्थान पर सप्रमाण निर्देश किया है कि "श्रीभगवद्गीता" में किसी एक ही संप्रदाय का अन्धानुगम नहीं, प्रत्युत निष्कल निराकार परब्रह्म की जो पाँच रूपों में उपासना सामान्य अधिकारियों के लिए शिष्ट सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है उन सभी का संकेत "श्रीभगवद्गीता" में प्राप्त होता है। इसी कारण किसी के भी साथ विरोध न होने से "श्रीभगवद्गीता" सर्वमान्य रही है और रहेगी। अब भगवत्कृपा हुई तो तृतीय-षट्क भी प्रस्तुत करने का हम शीघ्र ही प्रयास करेंगे और उसमें ईश्वरतत्त्व निरूपण, अव्यय, अक्षर, क्षर आदि पुरुषों का विचार, एवं ज्ञान और भक्ति में भगवद्गीता किसे उत्कृष्ट मानती है—इस विषय का भी यथाशक्ति विवेचन किया जायेगा। किन्तु यह सब भगवत्कृपा पर निर्भर है, इसलिए उसी भगवान् के चरण कमलों का ध्यान कर इस छोटे से वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

इस खण्ड को प्रस्तुत करने में भी मेरे शिष्य श्रीरामाधीन शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्य व्याकरण चक्रवर्त्ती, एवं पुत्र श्रीशिवदत्त शर्मा व्याकरण साहित्याचार्य एम०ए० और पौत्र ईश्वरप्रसाद शर्मा एम०ए० की उल्लेखयोग्य सहायता प्राप्त हुई है, अत: उनका आशीर्वाद पूर्वक स्मरण करना भी आवश्यक है।

पौष शुक्ल सप्तमी

२०२० विक्रमाब्द

२३ दिसम्बर १९६३ खृष्टाब्द

गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

श्री गीता प्रवचन माला-द्वितीय खण्ड

भूमिका

ईश्वर की कृपा से श्रीगीताप्रवचन माला का द्वितीय खण्ड पं० गिरिधर जी शर्मा चतुर्वेदी के द्वारा परिपूर्ण हुआ है। इसका पहला खण्ड जिसमें भगवद्गीता के छः अध्यायों की व्याख्या थी, दिसम्बर १९६२ में प्रकाशित हुआ था। उस समय यह योजना थी कि गीता के सम्पूर्ण अध्यायों की व्याख्या तीन खण्डों में समाप्त की जाय। तदनुसार यह दूसरा खण्ड अध्याय ७ से १२ तक इस रूप में प्रकाशित हो रहा है। अब तेरहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय तक का प्रवचन-भाष्य पण्डित जी लिख रहे हैं। आशा है अगले श्रावणी महोत्सव तक वह भी छपकर पाठकों को प्राप्त हो जायेगा। तदन्तर यह भी योजना है कि उपनिषदों पर पण्डित जी द्वारा विरचित इसी प्रकार का प्रवचन-भाष्य विश्वविद्यालय की ओर से प्राकाशित किया जाय। हिन्दू धर्म के महान् ग्रन्थों की व्याख्या प्रस्तुत करने का विचार विश्वविद्यालय की प्रकाशन-योजना के अन्तर्गत निर्धारित हुआ है। ईश्वर से प्रार्थना है कि पण्डित गिरिधर शर्मा जी को ऐसी शक्ति और दीर्घायुष्य प्रदान करें जिससे उनके द्वारा और अन्य विद्वानों के द्वारा यह योजना संसिद्ध हो सके।

गीता के इस अंश में भी पण्डित जी ने वही शैली रखी है जो प्रथम भाग में थी। इसकी दो विशेषताएँ हैं। एक तो श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि प्राचीन आचार्यों का गीतार्थ के विषय में अभिमत यथा संभव उपन्यस्त किया गया है, दूसरे उपनिषद् और वैदिक प्रमाणों से भी गीतार्थ का समर्थन करते हुए बहुत-सी नई सामग्री प्रस्तुत की गई है। इसके साथ ही सनातन धर्म के दृष्टिकोण से भी धर्मतत्त्व के महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस अंश में पण्डित जी की नवीन विवेचना शैली भी है।

गीता भारतीय संस्कृति का महान् ग्रन्थ है। उसके अर्थों का पारावार नहीं है। किन्तु गीता का स्वारस्य आचार में है। उसे जीवन में जितना ही क्रियान्वित किया जाय वही गीता का सच्चा अर्थ है। इस भाग में भगवान् की विभूतियों का और उनके विराट् रूप का विशेष वर्णन है। दशवें और ग्यारहवें अध्याय के ये वर्णन बहुत दिव्य हैं किन्तु उनका सार यही है कि एक ओर यह सारा विश्व भगवान् का दिव्य विराट् रूप है और दूसरी ओर मनुष्य शरीर उसी का सौम्य प्रतिरूप है। हम इस सौम्यरूप को देखने के अभ्यस्त हो गए हैं इसलिए भगवान् की विराट् महिमा का वर्णन नहीं करते। पर यदि एक क्षण के लिए भी हम अपनी बुद्धि के दिव्य चक्षु से भी भगवान् की उस

दिव्य महिमा के दर्शन का अवसर पा जायँ तो हमारी भी वही दशा होगी जो अर्जुन की हुई थी, अर्थात् किसी बड़े भय से मन व्यथा में डूब जायेगा। तब संसार का कार्य मनुष्य नहीं कर सकेगा। इसलिए सौम्य भाव से जीवन स्थिति का निर्वाह और ईश्वर की शक्ति का निरन्तर स्मरण यही व्यक्ति के लिए कर्तव्य मर्ग है। इस दृष्टिकोण को पाठक यथास्थान पल्लवित देखेंगे।

आशा है पहले खण्ड की भाँति इस द्वितीय-खण्ड का भी व्यापक स्वागत किया जायगा।

पौष शुक्ल सप्तमी
२०२० विक्रमाब्द
दिसम्बर १९६३

वासुदेव शरण अग्रवाल

पुरोवाक्

गीता प्रवचन, गीता व्याख्यानमाला ग्रन्थ का यह द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण प्रकाशित होते देखकर बहुत हर्ष का होना स्वभावसिद्ध है। इस द्वितीय भाग का प्रथम संस्करण सन् १९६४ में लेखक के जीवन काल में प्रकाशित हुआ था जिसकी भूमिका म०म०पं० श्री गिरिधर शर्मा जी ने (प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक) स्वयं लिखी थी। उस काल में यह ग्रन्थ नेपाल प्रकाशन समिति के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया था जिसके सम्मान्य सम्पादक स्वर्गीय डॉ० वासुदेव शरण जी अग्रवाल महानुभाव थे। उन्होंने ही तीन भागों की भूमिकाएं भी लिखीं। इस प्रकार लेखक की स्वयं और सम्मान्य संपादक की दो भूमिकाओं सहित यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। वे दोनों भूमिकाएं इस द्वितीय संस्करण में भी प्रकाशित की जा रही हैं।

द्वितीय संस्करण के तीनों भागों के सम्पादन का कार्य श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जनसम्पर्क अधिकारी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा मुझे दिया गया जिसे मैंने सहर्ष स्वीकार करके तीनों भागों का संपूर्ण मुद्रित भाग लाल स्याही की कलम के साथ प्रत्यक्षर पाठ करते हुए उसकी मुद्रण अशुद्धियों का शोधन कर श्रीमान् डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जी को दिया और उनको उन्होंने विश्वविद्यालय के प्रेस में मुद्रणार्थ भेज दिया। मेरे पूज्य पिता जी की अत्यन्त वृद्ध अवस्था में इस ग्रन्थ का मुद्रण होने से तथा सहयोगी विद्वान् की असावधानी से स्थान स्थान पर अनेक अशुद्धियां छप गई थीं।

वर्तनी में भी पर्याप्त सुधार करना था। इसीलिए प्रूफ संशोधन करने से पहिले प्रेस में भेजी जाने वाली मुद्रित प्रति को आद्योपान्त पढ़कर उसका संशोधन करना अनिवार्यतया आवश्यक था। उससे पर्याप्त सुविधा हुई कि प्रूफ में बहुत अधिक संशोधन की आवश्यकता नहीं रही। फिर भी दो बार तो प्रूफ आद्योपान्त पढ़ना ही होता है, तथा कई बार तीन प्रूफ भी पढ़ने पड़ते हैं। यह सारा श्रम अत्यन्त हर्ष देने वाला था क्योंकि इस ग्रन्थ के अनुपलब्ध हो जाने से प्रायः विगत दस वर्षों से इसकी बराबर मांग बनी हुई थी और आत्मीय जनों के सामने हमें इसकी विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित किये जाने की अनुमति न मिलने के कारण लज्जित होना पड़ रहा था। हम बार बार इन वर्षों में कुलपति महोदय तथा सम्बद्ध प्रकाशन अधिकारी महोदय को पत्र लिखकर इसके द्वितीय संस्करण के विश्वविद्यालय के द्वारा प्रकाशित किये जाने के सम्बन्ध में आवेदन करते रहे, यह भी हमने अनेक बार निवेदन किया कि यदि किसी भी असुविधापूर्ण परिस्थिति के कारण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के द्वारा इस द्वितीय संस्करण का प्रकाशन

यदि नहीं हो सके तो कृपया इसके द्वितीय संस्करण को अन्यत्र से प्रकाशित कराने की अनुमति विश्वविद्यालय के द्वारा हमें दी जाय। परन्तु मालुम हुआ कि ऐसा करने में भी वैधानिक अड़चनें थी। अस्तु, अकस्मात् जब डॉ० पाण्डेय जी महानुभाव ने आधिकारिक पत्र भेजकर मुझे इस ग्रन्थ के तीनों भागों के द्वितीय संस्करण के सम्पादन के लिए प्रकाशनार्थ अधिकृत किया तो मुझे इस कार्य को स्वीकार कर तत्काल इस कार्य को पूर्ण करते हुए जितना हर्ष हुआ वह वर्णनातीत है। इसके लिए मैं तथा मेरे समानधर्मा सभी लोग जिन्होंने अनेक पत्र लिखकर इसके उपलब्ध कराने की मुझे प्रेरणा दी, तथा इसके प्रस्तुत द्वितीय संस्करण से लाभान्वित होने वाले समस्त विज्ञ समुदाय के आदरणीय डॉ० विश्वनाथ पाण्डेय जी, तथा विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, अनेकानेक धन्यवाद के अधिकारी हैं। उन सभी को हम सादर धन्यवाद अर्पित करते हैं।

पहिले मैंने इन तीनों भागों को एक ही बड़ी जिल्द में उपलब्ध कराने का निवेदन किया था जिससे अलग अलग भागों के अनुपलब्ध होने की असुविधा न झेलनी पड़े। इस प्रस्तुत द्वितीय भाग के विषय में यह बात सबसे पहिले सामने आई थी कि प्रथम और तृतीय भाग तो उपलब्ध थे, द्वितीय भाग पहिले ही अनुपलब्ध हो गया। मेरी अपनी प्रति माननीय लोगों ने आग्रह से आवश्यकतावश व्याख्यान देने के आधार के लिए लेकर अपने पास रख ली। प्रस्तुत संस्करण की कापी प्रति कहीं भी पुस्तकालय आदि में नहीं मिल सकी। तब मुझे अनेक स्थानों की यात्रा करनी पड़ी जिन्होंने मुझे यह प्रति मांग कर ली थी, उन्हीं से अन्ततः, मैंने प्राप्त कर प्रकाशनार्थ इसे प्रस्तुत किया। ऐसी कठिनाई भविष्य में न आये इसी उद्देश्य से तीनों खण्डों को एक ही जिल्द में प्रकाशन करने का अनुरोध मैंने किया था, परन्तु उसे श्रीमान् पाण्डेय जी ने यह कहते हुए नहीं माना कि एक तो जिल्द अधिक मोटी होने पर पढ़ने वालों के लिए असुविधाजनक हो जायगी और दूसरी बात यह कि उस स्थिति में इसमें छोटे टाइप का उपयोग किया जाना अनिवार्य हागा और वह भी सुविधा जनक न हो सकेगा।

अन्ततः जैसा प्रकाशन प्रथम संस्करण में किया गया था, वैसा ही प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया।

द्वितीय भाग के प्रथम संस्करण की एक दो बातें और भी उल्लेख करने योग्य हैं। जब इसका लेखन हो रहा था उसी काल में कुछ प्रमुख पत्रों में यह प्रश्न छापाा गया किसी विद्वान् के लेख में कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी विभूतियों का जो विस्तार से विवरण किया है, और उनमें जिन जिन का नाम लिया है, उनकी

विशेषता क्या है। पिताजी ने इस लेख को पढ़कर उसके उत्तर के रूप में उन विभूतियों का रहस्य विस्तार से लिखा और अपने उस काल के अनेक व्याख्यानों में भी यह कहा कि गीता व्याख्यानमाला के द्वितीय भाग में इसका वर्णन किया गया है। इसलिए इस भाग की तत्काल प्रतीक्षा की जा रही थी, यही कारण है कि यह भाग सबसे पहिले अनुपलब्ध हुआ।

अस्तु, अब अन्य बातों के विस्तार में न जाकर हम इस पुरोवाक् को यहीं पूर्ण करते हैं और विश्वविद्यालय के अधिकारियों को पुनः धन्यवाद अर्पित करते हैं।

इस भाग को प्रस्तुत करने में भी मेरे पुत्र डॉ० संजय चतुर्वेदी व डॉ० प्रयास चतुर्वेदी (रीडर, फ्रेंच विभाग, कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) ने महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। इन्हें भी आशीर्वाद देता हूँ।

निवेदक

गुरुपूर्णिमा
२००५

शिवदत्त शर्मा चतुर्वेदी
जी. २८, अरविन्दकोलोनी,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

गीता व्याख्यान माला

द्वितीय भाग

विषय-सूची

सप्तम-अध्याय

अष्टम-अध्याय

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

दशम-अध्याय

पुष्प संख्या | पृष्ठ संख्या

एकादश-अध्याय

द्वादश-अध्याय

द्वितीय षट्क

सप्तम-अध्याय

प्रथम-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छ्रणु ।।१।।
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ।।२।।

कर्म, उपासना और ज्ञान का क्रम से गीता में सन्निवेश मानने वालों के मत के अनुसार मध्य षट्क में अर्थात् सप्तम से द्वादश अध्याय पर्यन्त उपासना का निरूपण है। उपासना; उपास्य स्वरूप ज्ञान के बिना नहीं हो सकती इसलिए भगवान् ने अपना स्वरूप निर्देश भी इसी षट्क में किया है। उस स्वरूप निर्देश की ही प्रतिज्ञा श्रोता को सावधान करने के लिए प्रथम पद्य में की गई है, "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के तीनों खण्डों का विवरण तीनों षट्कों में है–इस श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि के मतानुसार त्वं पदार्थ का निरूपण प्रथम खण्ड में हुआ, अब तत्पदार्थ का निरूपण करने के लिए मध्यम खण्ड का प्रारम्भ होता है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार भगवद्गीता में चार खण्ड हैं। बुद्धि के वैराग्य, ज्ञान, ऐश्वर्य और धर्म नाम के चार सात्विक रूपों से वैराग्य का विस्तार प्रथम षट्क में किया गया, सप्तम और अष्टम अध्यायों में "ज्ञान" का निरूपण किया जाता है, जो कि उनके मतानुसार "सिद्धविद्या" है। इस विद्या में भगवान् की रुचि अल्प है, इसलिए इसका उपदेश दो ही अध्यायों में दिया गया है। आगे के चार अध्यायों में "ऐश्वर्ययोग", अर्थात् भक्तिमार्ग कहा गया है, किसी भी प्रकार से देखो, सप्तम और अष्टम अध्यायों में तो भगवान् का स्वरूप निर्देश ही मानना सभी मार्गों से उचित होगा। ज्ञान योग भी बिना ज्ञेय के पूर्ण नहीं होता, इसलिए मुख्य ज्ञेय रूप भगवान् का ही स्वरूप निर्देश मानना यहाँ आवश्यक है। उसी की प्रतिज्ञा प्रथम पद्य में की जाती है।

पूर्व अध्याय के साथ इसकी संगति इस प्रकार है कि उसके अन्त में "सब योगियों में जो अन्तरात्मा को मुझ परमेश्वर में निवेशित कर श्रद्धा पूर्वक मेरा भजन

करता है वह विशेष कर योगयुक्त माना जाता है यह कहा गया है। अब किस प्रकार मुझ परमेश्वर में मन लगाया जाय इसकी विधि बताने के लिए अपना स्वरूप निर्देश इस अध्याय से आरम्भ किया जाता है।

पद्य का अर्थ है कि हे पार्थ तू मुझमें ही अपने मन को आसक्त कर योग का आचरण करता हुआ और मुझे ही अपना आश्रय मानता हुआ, जिस प्रकार संशय रहित रूप से मेरा पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकेगा उस प्रकार को सुन।

यद्यपि अर्जुन को ही यह प्रश्न करना उचित था कि आप में अन्त:करण का निवेश किस प्रकार किया जाय, इसे बतलाने के लिए आप अपना स्वरूप बतलाइये। किन्तु अर्जुन को प्रश्न करता न देख कर परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्ण ही अपनी ओर से अपने स्वरूप का कथन प्रारम्भ करते हैं। जैसे कोई राजा का भृत्य हो तो उसका आश्रय तो राजा होगा और आसक्ति उसकी किसी धन आदि में रहेगी। ऐसा भी यहाँ न हो, यहाँ तो परमात्मा में ही चित्त की आसक्ति रहे और उसी को आश्रय माना जाय। योग शब्द का अर्थ यहाँ शङ्कराचार्य और उनके अनुयायी अन्य व्याख्याकार पूर्व अध्याय में कही गई चित्त की एकाग्रता ही करते हैं। किन्तु लोकमान्य तिलक का तो सिद्धान्त है कि गीता में योग शब्द सर्वत्र ही "कर्मयोग" का वाचक है। तदनुसार वे यहाँ भी "योगं युञ्जन्" का अर्थ "कर्मयोग करता हुआ" यही करते हैं।

"समग्रं मां" ऐसा कहने में यह शङ्का हो सकती है कि क्या भगवान् भी खण्ड और पूर्ण दो रूप में हैं ? वे तो सदा पूर्ण रूप ही रहते हैं फिर पूर्ण रूप से समझ लेना, इसका तात्पर्य क्या है ? इसका उत्तर श्रीशङ्कराचार्य यह दे रहे हैं कि पूर्ण रूप से अर्थात् विभूति, ऐश्वर्य, शक्ति आदि का पूर्ण ज्ञान कर सकेगा। यही भगवान् का तात्पर्य है और इसी के अनुसार इसी षट्क में विभूति, विश्वरूप प्रदर्शन आदि भी अन्तर्गत हैं।

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार तो "समग्र" शब्द का अर्थ जीव, प्रकृति रूप शरीर सहित ही होगा।

श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी ने "समग्र" शब्द का अर्थ सर्वरसयुक्त किया है। उनका तात्पर्य है कि भक्ति दोनों प्रकार से होती है। एक केवल भगवान् का भजन और एक सभी रसों, अर्थात् शृङ्गार माधुर्य आदि रसों को सम्मिलित कर भगवद्भजन। उनमें से उस सम्प्रदाय में दूसरा प्रकार ही श्रेष्ठ माना जाता है, उसी का यहाँ संकेत है (१)

हे पार्थ ! मैं तुझे विज्ञान सहित ऐसा ज्ञान सम्पूर्णरूप कहता हूँ कि जिसके जान

लेने पर फिर कोई जानने की बात शेष नहीं रह जाती" यहाँ "ज्ञान" शब्द को व्याकरण की रीति से करण वाचक ल्युट् प्रत्ययान्त मानना चाहिए। इससे यहाँ ज्ञान का "वक्ष्यामि" क्रिया का कर्म होना और उत्तरार्द्ध में "ज्ञात्वा" का कर्म होना उचित होगा। क्योंकि करण साधन मान लेने पर ज्ञान, विज्ञान शब्दों का अर्थ शब्द ही हो गया। शब्द का ही कहना भी बन सकता है, और उत्तरार्द्ध में भी उन शब्दों का तात्पर्य समझ कर– यह अर्थ सुसंघटित हो सकेगा।

यहाँ ज्ञान और विज्ञान का भेद बताने के लिए श्रीशङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में विज्ञान शब्द का अर्थ विशेष ज्ञान अर्थात् अनुभव सहित ज्ञान किया है। इसका तात्पर्य है कि पहिले वाक्यों से शब्द ज्ञान होता है फिर मनन के द्वारा उस पर असंभावना और विपरीत भावना हटाई जाती है, इसके अनन्तर जो दृढ़ ज्ञान हो गया उसका निदिध्यासन अर्थात् बार बार अभ्यास करने पर ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, यह वेदान्त की प्रक्रिया है। जैसा कि कहा गया है–

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येयः एते दर्शनहेतवः ।।

पहिले श्रुति के वाक्यों से श्रवण करना चाहिये, फिर युक्तियों से मनन करना चाहिये और मनन से दृढ़ कर उस तत्त्व का निरन्तर ध्यान करना चाहिए, इसी से दर्शन अर्थात् साक्षात्कार होता है।

वह साक्षात्कार ही स्वानुभव नाम से कहा जायेगा, वही विज्ञान शब्द का अर्थ है। किन्तु यहाँ प्रश्न यह होगा कि वह स्वानुभव तो कहने की वस्तु नहीं है। वह तो अपनी बुद्धि में ही प्रकट होता है, फिर उसे "वक्ष्यामि" का कर्म कैसे बनाया जाय ? महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी इसका यह समाधान करते हैं कि "दशमस्त्वमसि" इत्यादि वाक्यों से शब्दजनित भी अनुभवरूप ज्ञान होता है। इससे उसका कथन विरूद्ध नहीं माना जायेगा, किन्तु फिर भी यह प्रश्न तो रहेगा ही कि ऐसी कोई स्वानुभव की बात आगे गीता में कही नहीं गई है, तब "वक्ष्यामि" यह प्रतिज्ञा कैसे सुसंगत होगी ?

श्रीरामानुजाचार्य "विज्ञान" शब्द का अर्थ पृथक् रूप का ज्ञान, और ज्ञान शब्द का अर्थ स्वरूप ज्ञान करते हैं। इसका तात्पर्य स्वयं स्पष्ट करते हैं कि चिद् और अचिद् दोनों मेरे शरीर हैं, मैं उनसे पृथग्भूत अनन्त कल्याण गुण वाला हूँ। यहाँ भी यही प्रश्न होगा कि स्वरूप ज्ञान में ही पृथक् होना तो आ गया फिर विज्ञान शब्द कहने का कोई प्रयोजन नहीं रहता ?

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ज्ञान, विज्ञान शब्दों का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि– अनेक में एक भाव को अनुगत देखना ज्ञान है और एक को ही अनेक रूपों में विकसित देखना विज्ञान है। दूसरे शब्दों के कार्यों में कारण को अनुगत देखना ज्ञान, और एक कारण से अनेक कार्यों का उद्भव देखना विज्ञान है। यही बात प्रकृत श्लोक की व्याख्या ज्ञानेश्वरी में श्रीज्ञानदेवजी ने भी कही है कि–

तीरलग्ना तरणीव कुण्ठीभवति शेमुषी,
परावृत्तपदो दूराद् विचारश्चापसर्पति ।
तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन,
प्रपञ्चोऽन्यत्तु विज्ञानमज्ञानं तत्र सत्यधीः ।।

अर्थात् जहाँ तीर पर लगी हुई नौका की तरह बुद्धि आगे चलने से रूक जाती है और बुद्धि की विचार शक्ति भी जिसके समीप जाने में पीछे पैर कर लौट आती है एवं तर्कशक्ति भी जहॉ काम नहीं करती वह ज्ञान है एवं उस एक कारण से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का उद्भव मानना विज्ञान है, तथा उस प्रपञ्च को सत्य मान लेना अज्ञान है। इसमें शब्दों के अर्थ बताने के साथ ही ज्ञान की अत्यन्त दुरूहता भी कही गई है। इससे श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या की भी सुसंगति हो जाती है कि शब्द मात्र से समर्पित परोक्षज्ञान "ज्ञान" है और उसे ही अनुभव में ले लेना "विज्ञान" है। अनेक में एक तत्व को अनुगत देखना केवल शब्द मात्र के आधार पर ही हो सकता हे और एक से अनेक तत्वों का विकास, अनुभव अर्थात् बुद्धि में भी आ सकता है। इस अभिप्राय से श्रीशङ्कराचार्य के अक्षर भी लगाये जा सकते हैं। श्रीभागवत में भी एकादशस्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में ज्ञान विज्ञान शब्द आये हैं और उनका विवरण भी विद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुकूल ही वहाँ मिलता है–

नवैकादश पञ्च त्रीन् भावान् भूतेषु येन वै ।
ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ।।
एतदेव हि विज्ञानं तथैवैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्तिलयान् पश्येद् भावानां त्रिगुणात्मनाम् ।।

(११, १९, १४-१५)

अर्थात् जगत् के अनन्त पदार्थों का नौ, ग्यारह, पाँच और तीन के रूपों में समझना और अन्त में सबमें एक ही मूल तत्व को अनुगत देखना ज्ञान है। यही विज्ञान भी है, किन्तु उसमें इस तरह नहीं देखा जाता, अपितु प्रक्रिया का भेद हो जाता है।

एक से ही त्रिगुणात्मक जगत् में भावों की उत्पत्ति स्थिति और लय देखना यह विज्ञान की प्रक्रिया है। अमरकोश में भी ज्ञान और विज्ञान शब्द के ऐसे ही अर्थ बतलाये गये हैं कि –

"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः"

अर्थात् मोक्ष में बुद्धि लगाना ज्ञान है और शिल्प या शास्त्रों में जो बुद्धि हो वह विज्ञान है।

यह सभी जानते हैं कि मोक्ष प्राप्ति सब जगत् में एक तत्व को देखने से ही होती है और शिल्प या अन्य शास्त्रों में एक का अनेक रूप से विस्तार ही किया या कहा जाता है। इससे ज्ञान विज्ञान शब्द की अनेकार्थकता भी नहीं माननी पड़ती।

आगे प्रतिज्ञा के अनुकूल गीता में भी दोनों ही प्रकार मिलते हैं। अभी चौथे पाँचवें श्लोक में अपनी आठ प्रकार की "अपरा" प्रकृति और एक प्रकार की "परा" प्रकृति बतला कर पहिले विज्ञान का उपदेश दिया गया और छठे सातवें श्लोकों में अपनी सब जगत् में व्यापकता बतलाकर ज्ञान का उपदेश दिया एवं सात्विक ज्ञान अर्थात् उत्तम ज्ञान का यही लक्षण अट्ठारहवें अध्याय के बीसवें श्लोक में भी कहा गया है, जिसकी व्याख्या यथावसर की जायगी। इस प्रकार श्रीविद्यावाचस्पतिजी की ज्ञान विज्ञान शब्दों की व्याख्या सब प्रकार से सुसंगत प्रतीत होती है।

अब उत्तरार्द्ध पर विचार करना प्राप्त है। संसार के सभी विद्वान् भारतीय तथा अन्य देशीय ज्ञान को अनन्त ही मानते हैं। योरोपीय विद्वान् न्यूटन ने अपने अन्तिम समय में कहा था कि "मुझे लाग चाहे बहुत बड़ा विद्वान् समझें किन्तु मेरा अपना अनुभव तो ऐसा कहता है कि मैं ज्ञान समुद्र के तीर पर ही खड़ा था और समुद्र की लहरों से जो सीपी आदि आ जाती थी उनके ही उपयोग से अपना गुजारा करता रहा"। इस कथन से उन्होंने विज्ञान समुद्र का अथाह होना ही बतलाया। हमारे देश के परम विद्वान् श्रीभर्तृहरि ने भी लिखा है कि –

यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विपइव मदान्धः समभवम्,
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित् किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्,
तदामूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः।।

अर्थात् जब मैं बहुत थोड़ा जानता था तब हाथी की तरह मद से अन्धा होकर यह समझता था कि मैं सब जानता हूँ। किन्तु ज्यों ज्यों बुद्धिमान् पण्डितों के पास

बैठकर कुछ कुछ जानने लगा तब वह पहले वाला मद ज्वर की तरह उतर गया और मैं यह समझ गया कि मैं तो निरा मूर्ख हूँ, कुछ भी नहीं जानता।

इन सब कथनों से सभी महा विद्वानों ने ज्ञान-समुद्र की अति गम्भीरता ही प्रकट की है और यही सूचित किया है कि इस समुद्र का पार कोई नहीं पा सकता। फिर यहाँ भगवान् ने इस छोटे से ग्रन्थ में यह प्रतिज्ञा कैसे कर दी कि इसके जानने के अनन्तर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रहेगी। कुछ लोग उपहास करते हैं कि यह तो आजकल के नोटिसबाजों की सी बात हुई। जैसा नोटिसबाज कहा करते हैं कि हमारी एक दवाई खा लेने से फिर शरीर में कोई रोग नहीं रहेगा। वैसा ही यह कथन भी हुआ कि इस ज्ञान विज्ञान के जानने के अनन्तर कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रहती। किन्तु विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह उपहास व्यर्थ है। इस कथन में बड़ी गम्भीरता है।

भगवद्‌गीता उपनिषदों का सार है। छान्दोग्योपनिषद् में पिता उद्दालक और पुत्र श्वेतकेतु का संवाद मिलता है। जब श्वेतकेतु अपने गुरु के घर से विद्या पढ़ कर अपने घर आया तो उसके मुख की आकृति से पिता उद्दालक ऋषि ने समझा कि पुत्र को विद्या का अभिमान अधिक हो गया है, यह अभिमान इसका हटाना चाहिए, अन्यथा इसे अभिमान नाश की ओर ही ले जायेगा। इस विचार से उन्होंने पुत्र को अपने समीप बैठा कर पूछा कि कहो पुत्र, क्या क्या पढ़ आये हो। श्वेतकेतु ने कहा कि पिताजी सब कुछ पढ़ लिया। गुरुजी जितनी विद्या जानते थे वे सब विद्याएँ उन्होंने कृपाकर दे दीं। इस पर उद्दालक पूछने लगे कि तुमने गुरु से ऐसी विद्या प्राप्त की है कि जिससे बिना पढ़ा हुआ भी पढ़े हुए के समान हो जाय। जिस बात का कभी विचार न किया हो वह भी विचारी हुई सी जान पड़े। यह सुन कर श्वेतकेतु चौंक पड़ा और कहने लगा कि पिताजी ऐसी विद्या तो गुरुजी ने नहीं पढ़ाई और जहाँ तक मैं समझता हूँ, गुरुजी भी ऐसी विद्या नहीं जानते होंगे, क्योंकि अगर जानते होते तो मुझे अवश्य बतला देते। इसलिए अब मैं आपसे ही पूछता हूँ, आप ही कृपा कर बताइये कि वह विद्या कैसी है। इस प्रकार पुत्र का अभिमान ढीला हुआ देख कर पिता उद्दालक उसे उपदेश देने लगे कि हे पुत्र मैं तुम्हें बतलाता हूँ अवधान से सुनो।

जैसे मृत्तिका के बने हुए जगत् में जितने पदार्थ हैं, उन सबका पृथक् पृथक् ज्ञान एक मनुष्य के लिए दुष्कर है, किन्तु एक मृत्तिका के गोले को जान लेने से मृत्तिका के बने सभी पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न पदार्थ केवल वाणी के द्वारा ही बनाये हुए हैं, अर्थात् नाम रूप ही सबके भिन्न-भिन्न हैं। सबमें अनुस्यूत सत्य पदार्थ तो केवल एक मृत्तिका ही है। इसी प्रकार एक सुवर्ण को जान

लेने पर सुवर्ण के बने हुए कटक, कुण्डल, केयूर आदि सभी पदार्थ जान लिए जाते हैं एवं लोहे की बनी हुई नख काटने की नापित की नहरनी को जान लेने पर सब लोहे के बने पदार्थ जान लिए जाते हैं क्योंकि एक छोटे से लोहे के बने पदार्थ को देख लेने पर लोहे का ज्ञान हो गया, इससे लोहे के पदार्थ जान लिए गये। इसी प्रकार सब जगत् का एकमात्र मूल कारण जो "सत्" पदार्थ है, उसके जान लेने पर सभी जगत् के पदार्थ जान लिए गये; क्योंकि जगत् के सब पदार्थ तो कल्पना मात्र हैं, उनमें केवल नाम रूप का ही भेद है। सत्य पदार्थ तो सबमें अनुगत एक "सत्" ही है; जिसे ब्रह्म नाम से व्यवहार के लिए कहा जाता है। इसे ही वेदान्त में एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यही हुआ कि एक कारण के ज्ञान से सब कार्यों का ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कोई भी कार्य अपने कारण से भिन्न नहीं है। इसी प्रक्रिया का आलम्बन कर भगवान् ने भी यहाँ यह उपदेश दिया है कि मैं तुम्हें सब जगत् के मूल कारण का ज्ञान करा देता हूँ। उसको जान लेने पर और कुछ भी जानने की बात बाकी नहीं रह जायेगी। इससे यही दिखलाया कि अब मैं तुम्हें सब जगत् का मूलतत्व बतला देता हूँ। उसे जान लेने पर फिर काल्पनिक जगत् में और कोई जानने की बात बाकी नहीं रहेगी। आगे कई प्रकार से मूलतत्त्व का ही विवरण किया गया है और पन्द्रहवें अध्याय में अव्यय पुरुष ही सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल है, यह बतला दिया गया है। इस विचार से भगवान् की यह प्रतिज्ञा बड़ी गम्भीरार्थक प्रतीत होती है (२)

●

द्वितीय-पुष्प

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।।३।।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव ।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।४।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।५।।

यहाँ अर्जुन के मन में यह शङ्का हुई होगी कि जब आप ही सब प्रपञ्च के मूल कारण हैं और घट शराब आदि में मृत्तिका के समान या कनक कुण्डल आदि में सुवर्ण के समान आप सबमें व्यापक हैं तो फिर सभी जीव अपने में भीतर रहने वाले आपका ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त कर लेते। यदि कहें कि मन बुद्धि आदि के आवरण से ढँका हुआ होने के कारण मुझे नहीं जान सकते, तो भी यह प्रश्न होगा कि उस आवरण को हटाने का प्रयत्न सब लोग क्यों नहीं करते। ऐसी अर्जुन की शङ्का जान कर भगवान् स्वयं ही उसका उत्तर दे देते हैं कि मैं यद्यपि सब में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ, परन्तु मेरी माया से मोहित होकर सांसारिक जीव मुझे ढूंढ़ने के प्रयत्न में ही नहीं लगते। अन्य तिर्यग्योनि आदि को तो इतना ज्ञान ही नहीं है कि वे अपने भीतर मुझे देख सकें। केवल मनुष्य ही शास्त्राधिकारी होने के कारण शास्त्रों से मेरा पता पाते हैं। किन्तु वे भी मेरी माया के वश में पड़े हुए संसार के भोगों में ही आसक्त रहते हैं। हजारों में कोई एक पुरुष मेरे ज्ञान की प्राप्ति रूप सिद्धि के लिए प्रयत्न करने लगता है। जो इस प्रयत्न में लगे उसे ही सिद्ध कहना चाहिए। यद्यपि सिद्धि उसे प्राप्त नहीं हुई किन्तु सन्मार्ग पर आ गया, इसलिए सिद्ध कहलाने का अधिकारी हो गया। ऐसे भी हजारों पुरुषों में से कोई एक ही मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिद्धि के ज्ञान दो प्रकार समझने चाहिए–एक सामान्य सिद्धि, दूसरी परमा सिद्ध। सब अज्ञान पतित जीवों में ज्ञानमय आत्मस्वरूप को देखना, अतएव ज्ञान प्राप्ति के लिए यत्न में लगना सामान्य सिद्धि हुई। जिसके कारण प्रयत्न में लगने वाले भी सिद्ध कहलाये और आत्मा के सब आवरण हटा कर परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर स्वयं भी ज्योति स्वरूप बन जाना परमासिद्धि है। इन दोनों का ही इस पद्य में वर्णन किया गया कि ज्ञान के लिए प्रयत्न रूप सिद्धि भी हजारों में कोई एक करता है और मेरा यथार्थ

ज्ञान तो यत्न करने वाले भी हजारों में से किसी एक को होता है। अर्थात् परमासिद्धि प्राप्त करने वाला तो लक्षकोटि में कोई एक निकलता है। जैसा कि इतिहासों में वामदेव, शुकदेव आदि के इने गिने ही उदाहरण मिलते हैं। श्रीरामानुजाचार्यजी पद्य के उत्तरार्द्ध के भी दो भाग करते हैं कि यत्न करने वालों में भी बहुतों में कोई एक सिद्धि प्राप्त करता है; और सिद्धों में से भी कोई एक मेरा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् अवतार विभूति आदि के रूप में चाहे मुझे जान ले, किन्तु सत् चित् आनन्द रूप से मेरा यथार्थ अनुभव तो बहुत ही दुष्कर कार्य है। ऐसे अति दुष्कर ज्ञान का मैं तुम्हें उपदेश देने लगा हूँ। इसलिए तुम अपने को परम सौभाग्यशाली समझो यही तात्पर्य हुआ।

यहाँ ज्ञान के लिए प्रयत्न करने वालों को भी सिद्ध कहा गया है। इसी कारण श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस विभाग को "सिद्धविद्या" नाम से निर्देश किया है। अर्थात् ज्ञानियों के मनन करने योग्य विषय इसमें बतलाये गये हैं, इसलिए "सिद्ध-विद्या" यह नाम अनुगतार्थ है (३)

अब आगे प्रतिज्ञा के अनुसार स्वरूप प्रदर्शन का आरम्भ करते हैं कि पृथिवी, जल, अनल अर्थात् तेज, वायु, ख अर्थात् आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार यह आठ प्रकार की मेरी प्रकृति है। यह अपरा प्रकृति जाननी चाहिए। इससे भिन्न जीव रूप मेरी परा प्रकृति समझो, जिससे कि सम्पूर्ण जगत् का धारण हो रहा है। जीव शब्द "जीव प्राण धारणे" धातु से बनता है; इससे प्राण को धारण करने वाली मेरी परा प्रकृति है, यह भी अर्थसंगत हुआ।

यहाँ पहिले यह प्रश्न उठता है कि भगवान् ने प्रतिज्ञा तो की अपना स्वरूप बतलाने की और करने लगे अपनी प्रकृति का वर्णन, ऐसी विभिन्नता क्यों ? इसका उत्तर है कि समग्र रूप से मुझे जिस प्रकार जानोगे यह प्रतिज्ञा में निर्देश था। समग्र रूप से जानने का यही अर्थ है कि प्रकृतियों सहित भगवान् को जाना जाय। इसलिए प्रकृतियों का भी निर्देश आवश्यक हुआ। अथवा इस प्रकार समझें कि भगवान् का अपना रूप तो वाणी तथा मन से परे है, वह तो किसी का ज्ञेय हो ही नहीं सकता, तब प्रकृति विशिष्ट भगवान् को या माया शबलित ब्रह्म को ही जाना जा सकता है, यही सूचित करने के लिए भगवान् ने पहिले अपनी प्रकृतियों का निर्देश किया है कि प्रकृति में ही मेरा रूप देख सकते हो। प्रकृतियों से अलग कर मुझे नहीं जान सकते। वेदान्तशास्त्र में भी मायाशबलित ब्रह्म को ही ज्ञान का विषय माना जाता है। परब्रह्म अर्थात् निष्कल ब्रह्म तो वाणी और मन से परे ही है। उसके लिए तो उपनिषद् भी "न विद्मः" "न विजानीमः" कहते हैं। अर्थात् सामान्य रूप से या विशेष रूप से हम नहीं जान सकते।

सांख्य शास्त्र में पदार्थों का चार प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। एक मूल प्रकृति, दूसरा प्रकृति विकृति, तीसरा केवल प्रकृति और चौथा भेद प्रकृति विकृति दोनों से भिन्न माना गया है; जिसे वहाँ पुरुष कहा जाता है। उनमें से वहाँ प्रकृति विकृति शब्द से जो सात कहे गये हैं; उनमें से यहाँ बुद्धि और अहङ्कार दो ही आये हैं। पाँच महाभूत और मन केवल विकृति रूप ही लिए गये, ऐसा परस्पर विरोध क्यों हुआ ? और पाँचों महाभूतों को "प्रकृति" शब्द से कैसे कहा गया ? इसका समाधान करने के लिए प्रायः सभी व्याख्याकार यहाँ महाभूत वाचक पाँचों शब्दों से उनके कारण सूक्ष्म भूत या शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामक तन्मात्राओं का ही ग्रहण करते हैं। यद्यपि भूमि आदि शब्द महाभूतों के ही वाचक सर्वत्र माने जाते हैं, तथापि यहाँ लक्षणा वृत्ति से तन्मात्राओं का बोध वे लोग मानते हैं और लक्षणा का कारण बतलाते हैं यहाँ का "प्रकृति" शब्द, क्योंकि पृथिवी, जल आदि को प्रकृति शब्द से नहीं कहा जा सकता। इस तरह सात प्रकार की प्रकृति विकृति तो यहाँ सांख्य दर्शन से मिला दी गई किन्तु मूल प्रकृति नाम यहाँ क्यों नहीं लिया और केवल विकृति मन का नाम यहाँ कैसे आया। इसका समाधान लोकमान्यलिक इस प्रकार करते हैं कि सांख्य शास्त्र में मूल प्रकृति को स्वतन्त्र माना गया है, अर्थात् वह स्वयं ही सृष्टि रचना करती है, उसका कोई प्रेरक नहीं। यह मत गीता को मान्य नहीं। यहाँ आगे भगवान् कहने वाले हैं–

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (९।१०)

अर्थात् मेरी अध्यक्षता अर्थात् प्रेरणा से ही प्रकृति सब जड़ चेतन जगत् को उत्पन्न करती है। इसलिए स्वतन्त्र प्रकृति का नाम यहाँ नहीं लिया गया और मन सब इन्द्रियों का प्रेरक है तथा वासना रूप से जगत् का परिचालक है, इसलिए उसका नाम भी प्रकृतियों में गिन दिया गया है।

श्रीशङ्कराचार्य ने लक्षणा वृत्ति से जिस प्रकार महाभूत वाचक शब्दों से पञ्चसूक्ष्मभूत या तन्मात्राओं को लिया जाता है, उसी तरह लक्षणा से मूल प्रकृति का भी ग्रहण कर लिया है। सांख्य शास्त्र का क्रम इस प्रकार है कि पहिले मूलप्रकृति, उससे महान्, उससे अहङ्कार और अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ। इसी क्रम का आरोह क्रम से निर्वाह करने के लिए उन्होंने महाभूत वाचक शब्दों से तो तन्मात्राओं का ग्रहण किया ही आगे के "मनस्" शब्द से मन के कारणभूत अहङ्कार को लिया। महत्तत्व का वाचक बुद्धि शब्द तो यहाँ है ही। आगे के "अहङ्कार" शब्द से मूल प्रकृति का ग्रहण किया। किन्तु सांख्य का मत तो श्रीशङ्कराचार्य को सर्वथा मान्य नहीं। इसलिए वे अहङ्कार शब्द का अर्थ अविद्या संयुक्त अव्यक्त करते हैं जैसा कि वेदान्त सूत्र के प्रथमाध्याय चतुर्थ पाद

के आरम्भ में ही सूत्रकार ने लिखा है। इस लक्षणा का कारण यह.बतलाते हैं कि अहङ्कार का जनक वासना गर्भित अविद्यारूप अव्यक्त ही है। इसलिए जैसे विष से मिले हुए अन्न को विष ही कह दिया जाता है। इसी प्रकार अहङ्कार की वासना से युक्त अविद्या रूप अव्यक्त को भी अहङ्कार शब्द से कह दिया गया।

श्रीरामानुजाचार्य तो इस निरूपण का सांख्य के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं करते। वे मानते हैं कि भगवद्गीता में यह परा और अपरा नाम की प्रकृति स्वतन्त्र रूप से बतलाई गई है। इसका अन्य शास्त्रों से कोई सम्बन्ध नहीं। इसीलिए उन्होंने किसी पद की लक्षणा नहीं की। आदि में पांच महाभूत अपने विकारों के कारण बनते हैं। जैसा कि पृथिवी में जो वृक्ष अन्न आदि उत्पन्न होते हैं उनका कारण पृथिवी ही है, इसी प्रकार जल में जो फेन बुद्बुद् होते हैं, उनका कारण जल, नानाविध प्रकाश और भिन्न-भिन्न पदार्थों में उष्णता की प्रतीति का कारण अग्नि, विचित्र रूप से भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रवाहित होने वाले सब प्रकार के वायु का एक महाभूत रूप वायु एवं शब्दों का कारण आकाश है। इसीलिए इन पाँच महाभूतों को यहाँ "प्रकृति" नाम से कहा गया एवं सब इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण होने से मन एवं सब बाह्य प्रवृत्तियों का कारण होने से अन्तःकरण रूप बुद्धि और अहङ्कार का भी प्रकृति रूप से उल्लेख किया गया। यह अपरा प्रकृति हुई, क्योंकि यह जीव के भोग का साधन है और इससे विलक्षण अर्थात् इसका भोग करने वाली चेतनरूप जीव शब्द वाच्य परा प्रकृति है। भोग करने वाली होने के कारण वह उच्च श्रेणी की है, इसलिए उसे "परा" कहा गया।

श्रीमधुसूदनसरस्वती बुद्धि, अहङ्कार आदि शब्दों में लक्षणा न मानकर मनस् शब्द से ही प्रकृति का ग्रहण कर लेना चाहिए, इस प्रकार का पक्षान्तर भी कहते हैं और लक्षणा का कारण प्रकृति शब्द के समानार्थक होना ही बतलाते हैं।

श्रीश्रीधरस्वामी तेरहवें अध्याय के क्षेत्र शब्द से जिन-जिन तत्त्वों का वर्णन किया है, उन सबका ही यहाँ संग्रह करने के लिए पाँचों महाभूतों में ही उनके गुणों का भी समावेश मान लेते हैं और मन के धर्मों अर्थात् इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख आदि का मन में समावेश मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि यहाँ प्रकृति शब्द से केवल कारण मात्र ही नहीं कहे गये अपितु माया जनित सभी प्रपञ्च का प्रकृति में समावेश कर लिया है, जो कि तेरहवें अध्याय में क्षेत्र शब्द से कहा गया है। यह पक्षान्तर ही श्रीधरस्वामी ने लिखा है।

महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी ने भी एक पक्षान्तर लिखा है। उनके अनुसार वे सांख्योक्त मूल प्रकृति का "प्रकृतिरष्टधा" इस प्रकृति शब्द से ही ग्रहण कर

लेते हैं और सांख्योक्त सात प्रकृतिविकृतियों में मन को और मिलाकर उनकी आठ संख्या कर दी गई है, यह मानते हैं। मन के संग्रह करने का कारण यह बतलाते हैं कि श्रुतियों में बहुत स्थानों पर मन को ही सब इन्द्रियों का कारणभूत या प्रकृति माना है। इसलिए उसका भी प्रकृतियों में समावेश उचित है। सांख्योक्त प्रक्रिया से ही बद्ध रहने की कोई आवश्यकता वे यहाँ नहीं मानते ओर मूल प्रकृति को यहाँ मेरी कहा गया, इससे उसकी परमात्मा से उत्पत्ति ध्वनित होती है, ऐसा ही पुराणों में वर्णन भी है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी पन्द्रहवें अध्याय में कहे गये क्षर, अक्षर, अव्यय पुरुषों का ही यहाँ से संकेत आरम्भ किया गया है, यह मानते हैं। अव्यय पुरुष स्वयं भगवान् हैं। भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रायः सर्वत्र "अहं" शब्द से ही अव्यय पुरुष का निर्देश किया है और क्षर पुरुष को अपरा प्रकृति एवं अक्षर पुरुष को परा प्रकृति जहाँ माना गया वहाँ अक्षर पुरुष को "कूटस्थ" शब्द से कहा गया है और यहाँ उसे ही जीव शब्द से कह दिया, इसमें कोई विरोध हो ही नहीं सकता, क्योंकि जीव कूटस्थ ही रहता है। अथवा दूसरा पक्ष उन्होंने यह भी लिखा है कि श्रुतियों में "अर्द्धं वै प्रजापतेर्मर्त्यमासीदर्धममृतम्" प्रजापति का अर्द्धभाग मर्त्य अर्थात् क्षर रूप होता है और अर्धभाग अमृत अर्थात् अक्षर ही रहता है। इसके अनुसार यहाँ क्षर और अक्षर दोनों को ही परा प्रकृति कहा गया। दोनों का अर्ध भाग अर्थात् क्षर और अक्षर को मिलाकर एक रूप से ही श्रुति में कहा गया है। इसी कारण से यहाँ भी "परा" इस एकवचनान्त शब्द से ही दोनों का ग्रहण कर लिया गया और यद्यपि परिणाम से विकार प्राप्त करने वाला क्षर पुरुष है, तथापि क्षर के सम्बन्ध से अक्षर में भी विकार प्रतीत होता जाता है। इसी अभिप्राय से—

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ।

(मुण्डकोपनिषत् २।१)

जैसे प्रज्वलित अग्नि से उसकी हजारों चिनगारियाँ उसके समान ही निकलती हैं। इसी प्रकार विविध प्रकार के पदार्थ अक्षर से ही निकलते हैं और उसमें लीन होते हैं इत्यादि श्रुतियों में अक्षर को ही उपादान कारण कहा गया है। इस प्रकार क्षर, अक्षर दोनों का ही परा प्रकृति में समावेश मान लिया जाय और अपरा प्रकृति शब्द से सांख्यमार्गोक्त प्रकृति को ही माना जाय यह भी एक मार्ग है। उस अपरा प्रकृति में ही अपने माने हुए अट्ठारह प्रकार के व्यावहारिक आत्माओं का समावेश भी विद्यावाचस्पतिजी ने माना है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याकारों के मतानुसार इन दोनों पद्यों के अर्थ का यहाँ विवरण किया गया।

पद्यार्थ की दृष्टि से हम यहाँ श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या को ही उत्तम मानते हैं, क्योंकि उसमें किसी दूसरे प्रमाण के साथ समन्वय और उस समन्वय के कारण ही प्रस्तुत पद्यों के पदों में लक्षणावृत्ति का आश्रय नहीं करना पड़ता। गीता का यह "प्रकृतिवाद" स्वतन्त्र रूप ही रहता है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी का गीता के ही पन्द्रहवें अध्याय से समन्वय का मार्ग भी समुचित प्रतीत होता है। (४-५)

●

तृतीय-पुष्प

एत्तद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।।८।६।।
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।७।७।।

हे धनञ्जय ! सब जितने जड़रूप या चेतनरूप भूत अर्थात् उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं, उनकी योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान पूर्व कथित मेरी परा और अपरा प्रकृति को ही निश्चित रूप से समझो। किन्तु ये दोनों प्रकृतियाँ मेरी हैं। इससे सम्पूर्ण जगत् का प्रभव अर्थात् उत्पत्ति का कारण और प्रलय अर्थात् लीन होने का स्थान मैं ही हूँ।

तेरहवें अध्याय में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का निर्देश कर, आगे कहा गया है कि जो कुछ स्थावर जङ्गम संसार में दिखाई देता है, वह सब इन क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से ही जानना चाहिए और उससे आगे यह भी कहा है कि परमेश्वर सभी में समान रूप से विराजमान है, किन्तु उन सब पदार्थों के नष्ट हो जाने पर भी वह विनष्ट नहीं होता, अपितु अपने स्वरूप में सदा बना रहता है। उसी के अनुसार यहाँ भी कहा है कि उत्पन्न होने वाले सब भूत मेरी परा, अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वहाँ जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ हैं वे ही यहाँ क्रमशः अपरा और परा प्रकृति नाम से कहे गए हैं और वहाँ जैसे परमेश्वर को सबमें व्याप्त बतलाया गया, इसी प्रकार यहाँ भी यह कहा गया कि मैं ही प्रकृति द्वारा सब जगत् का उत्पादक और संहारक हूँ। अग्रिम पद्य में मणिसूत्र के दृष्टान्त से यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि भूतों की उत्पत्ति और विनाश से मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं। इन पद्यों में द्वैत अद्वैत का भी संकेत है। इसलिए द्वैतवादी और अद्वैतवादियों के मतानुसार इनका आशय समझ लेना आवश्यक है।

श्रीशङ्कराचार्य ने पूर्व अपरा प्रकृति को माया रूप अव्यक्त ही बतलाया है। इसके अनुसार इन पद्यों का भी आशय उनके मत से यही है कि माया शक्ति के द्वारा मैं ही सब जगत् का उत्पादन और संहार करता हूँ। जगत् के माया जन्य होने के कारण मेरा उसके उत्पाद और विनाश से यद्यपि कोई सम्बन्ध नहीं, तथापि माया का आश्रय मैं ही हूँ, अर्थात् मेरे अवलम्ब के बिना माया कुछ नहीं कर सकती, इसलिए मैं ही सब जगत् का उत्पादक कहलाता हूँ और विनाश काल में जगत् माया शक्ति

में ही लीन होता है, इसका भी यही अर्थ है कि माया द्वारा मुझमें लीन होता है। यह अभिप्राय उनके अनुयायी श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि माया का आश्रय और विषय मैं ही हूँ। इसलिए जिस प्रकार माया के सब कार्यों का कर्त्ता मायावी कहा जाता है इसी प्रकार सब जगत् का उत्पादक और संहारक मैं ही हूँ। जगत् के मायिक होने के कारण ही भगवान् का जगत् के गुण दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता जैसा कि मायावी माया के कार्यों से वस्तुतः असम्बद्ध ही रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार जड़ चेतन रूप प्रकृति और जीव परमात्मा के शरीर रूप हैं और परमात्मा ही उनका आत्मा होने से प्रधान है। उसी अपने मत के अनुसार उन्होंने इन पद्यों का अर्थ लगाया है कि सब जड़ चेतनात्मक जगत् के पदार्थ मेरी इन दोनों प्रकृतियों से अर्थात् मेरे शरीर से उत्पन्न होते हैं और परा, अपरा दोनों प्रकृति भी मुझ से ही उत्पन्न हैं। उनके इस कथन का यही तात्पर्य समझना होगा कि परा, अपरा प्रकृतिरूप मेरे शरीर की परिचालना मेरे द्वारा ही होती है, इसलिए उनका भी कारण मुझे ही मानना चाहिए और अन्त में भी सब मुझ में ही प्रलीन होते हैं, इसलिए प्रलय रूप भी मैं ही हूँ। इसका आशय उनके टीकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि परमात्मा में जड़चेतनात्मक सब प्रकृति और जीवों का लय नीरक्षीर न्याय से है। अर्थात् जल और दुग्ध को मिला देने पर यद्यपि दोनों एकरूप प्रतीत हो जाते हैं, किन्तु वास्तव में जल दुग्ध से पृथक् ही रहता है। इसी प्रकार विनाश काल में प्रकृति और जीव के परमात्मा में लीन होने पर भी वे अपने स्वरूप से पृथक् ही रहते हैं उनका सर्वथा अभाव नहीं होता।

द्वैतवादी श्रीमध्वाचार्य की व्याख्या है कि जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् की सत्ता और प्रतीति मेरे ही कारण है और उनका भोक्ता भी मैं ही हूँ। इसलिए मैं उनका उत्पादक और संहारक कहा जाता हूँ। इसी अंश में उन्होंने कुछ श्रुति और पुराणों के प्रमाण भी उपस्थित किए हैं कि सबका उत्पादक, पालक, संहारक और सबका नियमन अर्थात् अपनी अपनी मर्यादा में स्थापन करने वाला होने के कारण ही परमात्मा उनका प्रभव प्रलय कहा जाता है। इससे यही स्पष्ट हुआ कि यहाँ "प्रभव" और "प्रलय" शब्दों से परमात्मा में सबकी निमित्त कारणता ही समझनी चाहिए उत्पादन कारणता नहीं।

श्रीवल्लभाचार्य तो शुद्धाद्वैतवादी प्रसिद्ध ही हैं। उनके मतानुसार माया प्रकृति आदि भी परब्रह्म से ही उत्पन्न हैं, वे ही अपनी क्रीड़ा के लिए सब खेल बनाते हैं।

इसलिए सबका प्रभव अर्थात् उत्पत्ति स्थान और प्रलय अर्थात् लय स्थान होना परमात्मा का उक्त रीत से सुसङ्गत हो जाता है।

श्रीनिम्बार्काचार्य के मतानुयायी श्रीकेशवाचार्य यहाँ कहते मैं कि जड़ चेतनात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरी परा और अपरा प्रकृतियों से रचा हुआ है, वे दोनों प्रकृतियाँ मेरी शक्ति हैं। शक्ति शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती, इसलिए अपनी शक्ति द्वारा मैं ही सब जगत् का उत्पादक और संहारक हूँ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार तो क्षर-अक्षर दोनों पुरुष जगत् की उत्पत्ति में कारण होते हैं, किन्तु सबका आलम्बन होने के कारण अव्यय पुरुषरूप भगवान् कृष्ण इसका दायित्व अपने पर ही लेते हैं कि मैं ही सब जगत् के उत्पत्ति और प्रलय का आधार हूँ। (६)

मुझसे भिन्न रूप और कुछ भी नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणि समूह की तरह मुझमें ही पिरोया हुआ है।

श्रीशङ्कराचार्य इसका सम्बन्ध पूर्व पद्य के साथ ही जोड़ते हैं कि मुझसे भिन्न और कोई जगत् का कारण नहीं है। यह सब जगत् मुझमें इस प्रकार पिरोया हुआ है कि जैसे सूत्र में मणिगण पिरोये रहते हैं। इसका तात्पर्य है कि उपादान कारण के साथ कार्य के पाँच प्रकार के सम्बन्ध व्यवहार में प्रसिद्ध हैं। जैसा कि तन्तु और पट के सम्बन्ध के विषय में परस्पर आधाराधेय भाव भी कहा जा सकता है कि तन्तुओं में पट है और पट में तन्तु है और भेद या अभेद भी कहा जा सकता है कि तन्तु ही पट रूप हो गये हैं, या नाम रूप और क्रिया भिन्न भिन्न होने के कारण पट तन्तु से सर्वथा भिन्न है जैसा कि न्याय प्रक्रिया में अवयव और अवयवी का भेद माना जाता है। इस प्रकार चार सम्बन्ध हुए। पांचवाँ यह भी कहा जा सकता है कि तन्तु तो पट से भिन्न हैं क्योंकि वे पहिले भी रहते हैं और पट के नष्ट हो जाने पर भी रहते हैं। किन्तु पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तु से पृथक् होकर कभी दिखाई नहीं देता। इस प्रकार के पांचों सम्बन्धों का निष्कर्ष इसी रूप में बतलाया जाता है कि पट अनिर्वचनीय है। इनमें से एक आधाराधेय भाव का निरूपण इस पद्य के उत्तरार्द्ध में किया गया कि सूत्र के आधार पर ही मणि समूह रहता है। इससे अन्य सम्बन्ध भी समझ लेना और एकरूपता, पूर्वार्द्ध में कह ही आये हैं कि मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। इस प्रकार इस पद्य से वही तात्पर्य निकलता है कि मैं अर्थात् परमेश्वर ही सब जगत् का उपादान कारण हैं। यहाँ यह सन्देह फिर भी रह जाता है कि जिस सूत में मणि समूह पिरोया रहता है वह सूत तो मणि समूह से पृथक् ही रहा ? इसके समाधान के लिए कई विद्वान् यहाँ सूत्र शब्द का अर्थ "हार" करते हैं। जैसे एक हार में मणि समूह पिरोया रहता है। वह हार मणि समूह से पृथक् कोई वस्तु भी

सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् मुझमें पिरोया हुआ है अर्थात् मुझसे पृथक् होकर उसकी कोई सत्ता नहीं।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की यही व्याख्या करते हैं कि जैसे शरीर आत्मा से पृथक् रूप मानकर नहीं गिना जाता और आत्मा की शक्ति से ही वह शक्तिमान् भी रहता है, इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अर्थात् प्रकृति और उसके कार्य मुझसें "परतर" अर्थात् सर्वथा भिन्न नहीं है और सब मेरे ही आश्रित हैं। जैसे मणिसमूह सूत्र के आश्रित रहते हैं और ज्ञान, शक्ति, बल आदि ही सब जगत् में व्याप्त रहते हैं। उनसे ही सब जगत् ज्ञानवान्, बलवान् तथा शक्तिमान् रहता है। इस प्रकार मुझे ही सबका कारण और सबका "शेषी" अर्थात् प्रधान समझना चाहिए।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, वह इसका यह भी आशय लगाती है कि जब जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं अर्थात् ब्रह्मरूप ही है, तब उसे अविद्या द्वारा कल्पित कहना भी एक कल्पना मात्र ही है। उनके अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी ने यह आशय बतलाया है कि पूर्व पद्य में उत्पत्ति और संहार का कारण अपने को बतलाया। इस पद्य के उत्तरार्द्ध में यह भी कहते हैं सबकी स्थिति भी मेरे आधार पर है जैसे कि मणिसमूह सूत्र के आधार पर ही स्थित रहता है। सूत्र यदि टूट जाय तो सब मणियाँ भी बिखर जाँय।

श्रीनिम्बार्काचार्य के अनुयायी श्रीकेशवाचार्य इसका अर्थ कहते हैं कि जिस प्रकार आत्मा में शरीर के सब पदार्थ अर्थात् इन्द्रिय अन्तःकरण आदि आश्रय भाव से रहते हैं इसी प्रकार सब जगत् आत्मा रूप मेरे ही आश्रित रहता है। इसी में सूत्रमणि का दृष्टान्त दिया गया।

द्वैतवादी मध्वाचार्य "परतर" शब्द का अर्थ उत्कृष्ट करते हैं। अर्थात् मुझसे बड़ा कोई नहीं है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार जिस प्रकार तरङ्ग, फेन, बुद्बुद् आदि समुद्र के पदार्थ समुद्र से पृथक् नहीं कहे जा सकते इसी प्रकार आलम्बन रूप अव्यय समुद्र से उत्पन्न जगत् के सब पदार्थ भी अव्यय से पृथक् नहीं कहे जा सकते।

इस प्रकार इन पद्यों में अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत तथा द्वैताद्वैत आदि के आचार्यों का अभिमत अर्थ स्पष्ट कर दिया गया।

वास्तव में तो भगवद्गीता में अद्वैत सिद्धान्त ही प्रतिपादित है, यह आरम्भ की पुष्पिका में ही हम स्पष्ट कर चुके हैं। (७)

●

चतुर्थ-पुष्प

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ।।७।८।।
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।।९।।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।१०।।
बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।११।।
ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।१२।।

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मैं जल में रस रूप से विराजमान हूँ। सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा अर्थात् कान्ति रूप से, सब वेदों में प्रणव अर्थात् ओङ्कार रूप से और मनुष्यों में पुरुषत्व रूप से मैं ही स्थित हूँ।

इस प्रकरण के पद्यों का भी आशय व्याख्याकार भिन्न-भिन्न रूप से लगाते हैं। श्रीशङ्कराचार्य पूर्व पद्य के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ते हैं कि मुझमें सब संसार पिरोया हुआ है। इस बात को ही स्पष्ट किया जा रहा है कि किस-किस रूप में कौन कौन पिरोया हुआ है। जल तत्व रस में पिरोया हुआ है। इसी बात को इस रूप में कहा गया है कि मैं जल में रसरूप से स्थित हूँ और विशद रूप से वर्णन किया जाय तो यह तात्पर्य होगा कि जल का सार रस ही है। रस के अतिरिक्त जल तत्व और कुछ भी नहीं है। लोक में यद्यपि इसका आधार जल को माना जाता है, किन्तु रस के अतिरिक्त जल तत्व केवल कल्पना मात्र है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में प्रभा अर्थात् उनका प्रकाश ही सार रूप है। वह प्रकाश ही मण्डल रूप से हमें दीख रहा है। ऐसे ही वेदों में प्रणव ही सार है। वेद वाक्-रूप हैं और वाक् के विषय में श्रुति में कहा गया कि –

"अकारो वै सर्वा वाक् । सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा च भवति"

अर्थात् अकार ही सब वाणी का रूप है। उसके साथ स्पर्श और उष्मा का योग होने पर उनसे अभिव्यक्त होती हुई वाणी बहुत से भिन्न भिन्न वर्णों के रूप में चली जाती है। इनमें उष्मा का रूप विसर्ग है और स्पर्शों का प्रतिनिधि मकार ले लिया गया। इन दोनों को अकार के साथ मिलाने पर ही प्रणव अर्थात् ओङ्कार बना है। इसलिए ओङ्कार को सर्व वाक् रूप कहा जा सकता है। इसी आशय से भगवान् ने कहा कि सब वेदों में प्रणव रूप अर्थात् वाक् रूप मैं ही हूँ। वाक् के अतिरिक्त वेदों में और कुछ भी नहीं बचता। इसी प्रकार पुरुषों में जो पुरुष का मुख्य धर्म है, जिसे पुरुषत्व या पौरुष कहा जाता है, उसके अतिरिक्त पुरुष और कुछ भी नहीं, वही पुरुषत्व आश्रय और धर्म दोनों रूपों में प्रकट हो रहा है। इस कथन से श्रीशङ्कराचार्य का अभिप्राय यही प्रकट हुआ कि धर्मरूप से भगवत्तत्व सबमें व्याप्त है और वह धर्म ही सारभूत है। उसके आश्रय रूप से धर्मी की कल्पना तो केवल नाम मात्र ही है। इसी बात का कुछ विद्वान् इस रूप में भी विवरण करते हैं कि परमात्मा तीन रूप से जीवों का उपासनीय होता है। वे तीन रूप हैं –

विश्व, विश्वचर और विश्वातीत।

विश्व तो सब जगत् का नाम प्रसिद्ध ही है। जगत् के रूप में ही भगवान् की उपासना प्रथमाधिकारी किया करते हैं। विचारक लोग जो यह विचार करें कि विश्व में तो अशुद्धि बहुत व्याप्त है। उसे भगवान् के रूप से कैसे उपासना में लाया जाय, वे विश्वचर अर्थात् विश्व में रहने वाले पवित्र धर्मों के रूप में उपासना करते हैं। यह मध्यम अधिकारियों का मार्ग हुआ। इनके विचार में पवित्र धर्मरूप से भगवान् सब पदार्थों में विराजमान हैं। उन पदार्थों में जो अशुद्धि कहीं प्रतीत हो, वह माया का रूप है। इसी आशय से आगे के पद्यों में "पुण्यो गन्धः" और "धर्माविरुद्धः कामः" यह कहा गया है। इससे स्पष्ट व्यञ्जित हो गया कि माया के अंश को हटाकर पवित्र धर्मरूप से यहाँ अपनी स्थिति ही भगवान् ने बतलाई है। अब जो उत्तम अधिकारी यह सोचते हैं कि विश्व में कितनी भी छाँट करो अन्ततः माया का कुछ न कुछ अंश मिला ही रहेगा, वे विश्वातीत अर्थात् विश्व से सर्वथा बाहर मान कर ही भगवान् की उपासना करते हैं। उनकी उपासना में क्लेश बहुत होता है यह बारहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा। यहाँ सर्वसाधारण मध्यम अधिकारियों की उपासना के योग्य विश्वचर रूप का भगवान् ने वर्णन किया।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या का यह आशय है कि जिस प्रकार शरीर में आत्मा ही सारभूत है उसी की दी हुई शक्तियों से शरीर का परिचालन होता है। इसीप्रकार

मेरे शरीरभूत सब जगत् में मैं ही साररूप से अवस्थित हूँ। जैसा कि जल में रसरूप से, सूर्य और चन्द्र में प्रभारूप से इत्यादि।

श्रीमध्वाचार्य अपनी व्याख्या में इन पद्यों का सम्बन्ध "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्" इत्यादि पूर्वोक्त पद्यों से मिलाते हैं। वे कहते हैं कि "मत्तः परतरं किञ्चित्" इत्यादि पद्य से और "मयि सर्वमिदं प्रोतं" इस पूर्व पद्य से ज्ञान कहा और अब विज्ञान कहते हैं। विज्ञान शब्द का अर्थ वे सारभूत अर्थ ही करते हैं। इन पद्यों से यह प्रकट किया जाता है कि सार के सारपन का और आश्रय के आश्रयपन का भी नियामक भगवान् ही है। मैं जल में रसरूप हूँ, इसका तात्पर्य यह होगा कि रस जो जल का सार है उसका नियमन भी मैंने ही किया है। सार और आश्रय पृथक् पृथक् हैं और इनका नियमन करने वाला भगवान् इनसे पृथक् है, इसलिए भेदवाद ही सिद्ध हुआ।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि मणिसूत्रों के पूर्व पद्योक्त दृष्टान्त से यह सिद्ध हुआ कि सब जगत् भगवान् में पिरोया हुआ है, किन्तु भगवान् जगत् में अनुगत रूप से विराजमान नहीं हैं। तब शङ्का होगी कि कार्यों में अनुगत न होने वाला तो उपादान कारण नहीं कहला सकता। घट, शराव आदि में मृत्तिका अनुगत है, इसीलिए उपादान कारण कहलाती है। इस शङ्का का समाधान यदि जगत् को रज्जु, सर्प या स्वप्न के पदार्थों के समान सर्वथा असत्य कह कर दिया जाय तो अर्जुन की समझ में जगत् की असत्यता एकदम न आ सकेगी, इसलिए क्रम से समझाने के लिए सब जगत् में साररूप भगवान् अपने आपको ही बतलाते हैं कि जल में रस रूप मैं हूँ। इसका तात्पर्य यही है कि जल का एक भी परमाणु रस से रहित नहीं है। रस सब जल में व्यापक है। इसी से जल रस में "प्रोत" है कहा जा सकता है। इसी प्रकार सब जगत् में मैं व्याप्त हूँ। जगत् का एक भी अणु मुझसे अतिरिक्त नहीं है। इससे उपादान भाव स्पष्ट कर दिया गया और बुद्धि दौड़ाने पर जैसे रस का आश्रय कल्पित मात्र है, वैसे ही सब जगत् भी परब्रह्म में कल्पित मात्र है यह भी क्रम से सिद्ध हो जायेगा।

कई व्याख्याकार रस आदि शब्दों का रसतन्मात्रा अर्थ करते हैं। ऐसे ही प्रभा शब्द का अर्थ रूपतन्मात्रा और शब्द का अर्थ शब्दतन्मात्रा ही समझना चाहिए। तन्मात्रा से अतिरिक्त महाभूतों का और कोई स्वरूप नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार भगवान् से अतिरिक्त जगत् का भी कोई स्वरूप नहीं है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार इन पद्यों का यही आशय है कि मैं अव्यय रूप से सब जगत् में व्याप्त हूँ इसका विवरण यहाँ किया गया है। इनके मत का विशेष रूप से स्पष्टीकरण इसी पुष्प के अन्तिम भाग में किया जायेगा।

यहाँ यह भी स्मरण रहे कि दशमाध्याय में जो विभूतियों का वर्णन किया गया है, वहाँ इस प्रकरण की पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ जिस-जिस वर्ग में जो-जो प्रधान हैं वे ही उपासना मं ध्यान करने के योग्य बतलाये जायेंगे और यहाँ जिस-जिस वस्तु में जो-जो सार रूप है, उसका कथन किया गया है। इसी प्रकार प्रकरणज्ञानपूर्वक अध्ययन करने से भगवद्गीता में पुनरुक्ति कहीं न मिलगी। (८)

पृथिवी में पवित्र गन्ध रूप से मैं रहता हूँ। इसका आशय है कि कहीं जो दुर्गन्धि प्रतीत होती है वह मायाकृत है। पृथिवी का मुख्य स्वरूप सुन्दर गन्ध ही है यह कथन उपलक्षण मात्र है। इसका सम्बन्ध सभी के साथ मानना चाहिए। जैसा कि जल में मधुर रस है वही मेरा रूप है इत्यादि। इसका तात्पर्य और स्पष्ट किया जाय तो यह समझें कि पृथिवी में स्वभावतः सुगन्ध ही है। दुर्गन्ध की प्रतीति जो कहीं हो जाती है वह अन्य पदार्थों के सम्बन्ध से होती है। इसीलिए उसे मायाकृत समझना चाहिये। अग्नि में तेज रूप से मैं ही प्रविष्ट हूँ। यहाँ यह विचारने की बात है कि इस प्रकरण में चार महाभूतों में साररूप से अपनी स्थिति भगवान् ने कही। किन्तु वायु का जो पांचवाँ महाभूत है उसका सार नहीं बतलाया गया। इस कारण कई व्याख्याकारों ने यहाँ के चकार पद से वायु का भी ग्रहण मान लिया है कि वायु में स्पर्श रूप से मैं विराजमान हूँ। प्राणियों में जीवन शक्तिरूप से और तपस्वियों में तपरूप से मैं स्थित हूँ। तपस्वियों का जीवन तप के लिए होता है। इसलिए जीवन शक्ति के साथ ही उसका यहाँ ग्रहण किया गया है। (९)

मध्य में ही सब प्रकरण का सार भगवान् कहते हैं कि हे पार्थ ! सब जड़ चेतनात्मक वस्तुओं का बीज अर्थात् मुख्य उत्पादक मुझको ही समझो। किन्तु इतनी विशेषता समझनी होगी कि अङ्कुर को पैदा करने के अनन्तर बीज का अपना स्वरूप कुछ नहीं रहता, किन्तु मैं सब जगत् को उत्पन्न करके भी स्वस्वरूप से जैसा-तैसा बना रहता हूँ। यह बात सनातन शब्द से कही गई। श्रुति में भी कहा है कि –

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

अर्थात् इस जगत् का उत्पादक वह परमात्मा पूर्ण है और यह जगत् भी पूर्ण है, उस पूर्ण से ही यह पूर्ण निकला है, किन्तु पूर्ण निकाल लेने पर भी उस पूर्ण का कुछ भी अंश न्यून नहीं होता किन्तु वह यथावत् पूर्ण बना रहता है। यह कैसे संभव है, इसके उपपादन के लिये ही श्रीशङ्कराचार्य ने जगत् को मायारूप कहा है। अर्थात जगत् उनसे उत्पन्न ही नहीं होता, केवल उस जगत् का भानमात्र अविद्यावश जीव को

हो जाता है और श्रीरामानुजाचार्य आदि बीज का इतना ही अर्थ मानते हैं कि जगत् के प्ररोह अर्थात् फैलाव का कारण परब्रह्म ही है, जैसे कि शरीर के सब धातुओं के फैलाव का कारण जीवात्मा ही होता है। आगे कहते हैं कि बुद्धिमानों में बुद्धिरूप से और तेजस्वियों में तेजरूप से मैं ही स्थित हूँ। इससे धर्मरूप से सब जगत् में अपनी ही स्थिति कई उदाहरणों से स्पष्ट की गई है। तात्पर्य वही पूर्वोक्त है कि धर्मरूप से परब्रह्म सभी पदार्थों में व्याप्त है। (१०)

अन्य उदाहरण देते हैं कि बलवानों में बलरूप से मैं ही स्थित हूँ, किन्तु काम और राग से रहित बल ही मेरा स्वरूप है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर इन्द्रिय और मन इन सबका सामर्थ्य ही बल कहा जाता है। उसमें मन के बलों में काम और राग आ जाते हैं। जो विषय अपने सामने उपस्थित न हो, केवल वासनामात्र मन में उपस्थित हो उसकी इच्छा काम कही जाती है और जो विषय सामने उपस्थित हो, उसके साथ जो मन का दृढ़ सम्बन्ध जुड़ जाता है वह 'राग' कहा जाता है। इन दोनों से भगवान् अपने आपको पृथक् करते हैं कि ये काम और राग तो माया के रूप हैं। इनके अतिरिक्त शरीर मन आदि के जो सामर्थ्य हैं–दान, व्रत तीर्थयात्रा आदि भगवान् के रूप हैं। इस प्रकार काम को अपने रूप से पृथक् बतलाया। किन्तु इस पद्य के उत्तरार्द्ध में कहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ धर्म से जो विरुद्ध न ले जाय ऐसा काम भी मेरा रूप है। इससे यह सूचि होता है कि धर्म के विरुद्ध जो काम हो वह माया का रूप है।

यवनधर्म या ईसाई आदि धर्मों में माना जाता है कि भलाई सब ईश्वर से प्रकट होती है और बुराई शैतान से प्रकट होती है। किन्तु ऐसा मानने में आपत्ति यह होगी कि संसार में अधिकतर बुराई ही देखी जाती है तो क्या शैतान ईश्वर से भी बड़ा है। हिन्दू धर्म ऐसा नहीं मानता। इस धर्म में भलाई बुराई जो कुछ संसार में है, वह सब ईश्वर से ही प्रकट है। ईश्वर ही अपने-अपने पूर्व कर्मों के अनुसार किसी को भलाई में और किसी को बुराई में प्रवृत्त कर देता है। यहाँ जो धर्म विरुद्ध काम और राग आदि को मायाजनित बतलाया गया, वह माया भी ईश्वर से पृथक् कोई वस्तु नहीं, अपितु ईश्वर की ही शक्ति है। हाँ, उसके गुण और धर्म अवश्य ही परमात्मा या परब्रह्म से भिन्न हैं। इसीलिए ऐसा समझा जाता है कि जगत् में जो कुछ बुराई दिखाई देती है वह सब माया का रूप है। संसार माया का ही रचा हुआ है इसलिए संसार में बुराई ही अधिकतर दिखाई देती है। आगे कहा जायेगा कि जो पुरुष परब्रह्म की शरण चले जाते हैं वे माया को पार कर ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकरण में भी यही

उपदेश दिया गया है कि मायाजनित धर्मों से बचना चाहिये और ईश्वरीय धर्मों में यत्न से प्रवृत्त होना चाहिए। (११)

पूर्वोक्त हमारी व्याख्या के अनुसार माया के रूप भी भगवान् से पृथक् नहीं हैं इसी बात को स्पष्ट रूप से इस पद्य में कहा जाता है कि माया या प्रकृति के जो सत्व, रज, तम नाम के तीन गुण हैं; उनके जो-जो कार्य होते हैं वे भी मुझसे ही उत्पन्न हैं ऐसा स्पष्ट समझो। किन्तु मैं उनमें नहीं, वे मुझमें हैं।

इस चौथे चरण की व्याख्या में फिर व्याख्याकारों के मतभेद हैं। श्रीशङ्कराचार्य और उनके कई अनुयायी इसका यह आशय बतलाते हैं कि मैं उनके अर्थात् प्रकृति के गुणों से उत्पन्न संसार के अधीन नहीं हूँ, अपितु वे सभी मेरे अधीन है। तात्पर्य यह कि मैं स्वतन्त्र हूँ माया या प्रकृति मेरे अधिकार में रहती है। माया या प्रकृति के गुण दोषों से मैं लिप्त नहीं होता। परब्रह्म पर माया या प्रकृति कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। यही बात श्रीभागवत के आरम्भ के पद्य में ही कही गई है कि "धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकम्" अर्थात् परमात्मा अपने तेज के द्वारा कुहक अर्थात् माया को दूर रखता है।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या के अनुसार इसका आशय है कि प्रकृति जनित संसार से मेरा कोई उपकार नहीं। प्रकृति की तो मेरे बिना स्थिति ही नहीं हो सकती। इसलिए वह तो मेरे द्वारा सदा ही उपकृत है। इसका आशय वे और भी स्पष्ट करते हैं कि उनके मत में प्रकृति ईश्वर का शरीर है किन्तु इतना भेद है कि शरीर के द्वारा आत्मा का कुछ उपकार होता ही है किन्तु प्रकृति जनित संसार के द्वारा मेरा कोई भी उपकार नहीं। इसका तत्त्व अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता बतलाने में ही है। मैं अपनी इच्छानुसार लीला रूप से जगत् को कभी फैला देता हूँ और कभी समेट लेता हूँ।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें नकार का सम्बन्ध दोनों जगह जोड़ा है। अर्थात् न मैं प्रकृति के गुणों में हूँ, न प्रकृति के गुण मुझमें हैं। प्रकृति के गुण प्रकृति में रहे हैं। प्रकृति के गुणों से उत्पन्न पदार्थ प्रकृति में ही रहते हैं। मुझ पर उनका स्पर्श नहीं होता।

श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह विवरण करते हैं कि जब प्रकृतिजनित संसार आपसे ही पैदा हुआ तो जैसे मृत्तिका घट, शराव आदि में अनुगत रहती है ऐसे आपका भी संसार के पदार्थों में प्रवेश रहेगा और ऐसा प्रवेश रहने पर उनके विकार आप पर भी आने चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर भगवान् देते हैं कि मैं उनमें नहीं हूँ, अर्थात् मेरा संसार के साथ जन्य जनक भाव भृत्तिका घट आदि की तरह नहीं, अपितु रज्जु सर्पादि

की तरह है। जैसे रज्जु में सर्प भासित हो जाता है, अर्थात् वह कल्पितसर्प रज्जु की ही सत्ता ले लेता है और रज्जु में ही उसका भान भी होता रहता है। किन्तु उस कल्पित सर्प के विकारों से रज्जु का कुछ भी बनता बिगड़ता नहीं। इसी प्रकार मैं जगत् को सत्ता और स्फुरण दे देता हूँ; जगत् के विकारों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं और जगत् तो मेरे बिना भासित ही नहीं हो सकता। इसलिए वह तो मेरे ऊपर अध्यस्त ही है। जैसे कि कल्पित सर्प रज्जु पर अध्यस्त रहता है। इसी के अनुसार श्रीमधुसूदनसरस्वती और श्रीशङ्करानन्दजी भी जगत् के मिथ्यात्व में ही इसका तात्पर्य लगाते हैं।

निम्बार्क-संप्रदाय के अनुसार व्याख्या करने वाली तत्त्वप्रकाशिका इस प्रकार विवरण करती है कि सात्विक देवादि राजस मनुष्य और तामस पशु आदि में भी मैंने अवतार धारण किया है। किन्तु वहाँ भी मेरी शक्ति का कोई विघात नहीं हुआ। इसलिए मैं उन देवता मनुष्य आदि के सदृश उस उस जाति का नहीं हुआ और वे सब देव मनुष्य आदि तो सदा ही मरे अधीन हैं।

श्रीलोकमान्यतिलक इसके दो आशय लगाते हैं। एक तो यह कि मैं पूर्वोक्त रस आदि रूपों से जगत् में व्याप्त हूँ किन्तु इन जल आदि में स्थित जो रस आदि मेरा रूप है उतना ही मुझे मत समझो, मैं सब मायिक जगत् से परे भी रहता हूँ। अर्थात् विश्व और विश्वचर दो ही मेरे रूप नहीं हैं किन्तु विश्वातीत भी मेरा रूप है जो कि माया को पार कर जाने वालों की दृष्टि में आता है। दूसरा गम्भीर आशय यह है कि यह त्रिगुणात्मक जगत् यद्यपि मुझसे ही प्रकट हुआ माना जाता है, ऐसा श्रुति स्मृति आदि में वर्णन मिलता है, किन्तु मैं फिर भी प्रकृति के गुणों में नहीं हूँ, अर्थात् अपने निर्गुण स्वरूप में ही रहता हूँ और वह जगत् तो मुझसे पृथक् होकर कुछ रह ही नहीं जाता। इसलिए वह मुझमें है यही मानना चाहिए।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इसकी व्याख्या अपनी टिप्पणी में कुछ विस्तार से लिखते हैं। पाठकों को स्मरण होगा कि ये गीता में आये हुए "अहं" शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष ही मानते हैं। भगवान् कृष्ण ने अपने आपको अव्यय पुरुष रूप ही कहा है, इस कारण वे अव्यय पुरुष के लिए ही "अहं" शब्द का प्रयोग किया करते हैं। यह पन्द्रहवें अध्याय में स्पष्ट किया जायेगा कि अव्यय पुरुष कुछ करता नहीं किन्तु सबका आधार होने के कारण सब कुछ वही करता है यह भी कहा जा सकता है। वह एक समुद्रस्थानीय है। जैसे जल तरङ्ग फेन बुद्बुद् आदि समुद्र में उत्पन्न सब पदार्थ समुद्र से बाहर नहीं हो सकते इसी प्रकार अव्यय समुद्र में उत्पन्न सब जगत् के पदार्थ भी अव्यय से बाहर नहीं हो सकते। यही बात पूर्व "मत्तः परतरं नान्यत्" में कही गई। यहाँ यह कहा जाता है कि चाहे ब्रह्म के विवर्तभाव हों अर्थात् ब्रह्म में

अध्यारोप से भासित होते हों, अथवा प्रकृति के गुणों के विकार हों, वे सब पूर्वोक्त न्याय से अव्यय से ही उत्पन्न कहे जायेंगे, किन्तु अव्यय पुरुष की उनमें विभूति मात्र रहेगी, प्रकृति विकारों में अव्यय का बन्ध या योग नहीं होगा। जहाँ परस्पर सम्बन्ध होने पर भी एक स्वतन्त्र रहे और दूसरा उसके अधीन बन जाय वहाँ उसे "विभूति" कहा जाता है और जहाँ दोनों समानरूप से भासित होते रहें वहाँ "योग" कहा जाता है तथा जहाँ दो पदार्थों का मेल होने पर दोनों ही अपना स्वरूप छोड़ दें और उनसे तीसरा पदार्थ ही उत्पन्न हो जाय वहाँ "बन्ध" नाम का सम्बन्ध कहा जाता है। जैसा कि शोरा और कोयला मिला देने से "बारूद" नाम का एक अतिरिक्त पदार्थ बन जाता है, जिससे कि बड़े-बड़े पर्वत भी उड़ा दिये जाते हैं। दूध और जल मिलाने पर वे दोनों ही अपने-अपने रूप में बने रहते हैं, इसलिए यह "योग" सम्बन्ध का उदाहरण है और हमारी बुद्धि में जगत् के भिन्न-भिन्न पदार्थ आते हैं और उससे निकलते रहते हैं, किन्तु बुद्धि में उनसे कोई विकार नहीं होता। यहाँ बुद्धि का उनके साथ "विभूति" सम्बन्ध कहा जाता है। इस प्रकार का बन्ध या योग अव्यय पुरुष में किसी का नहीं है, किन्तु विभूति मात्र है। यही बात "नत्वहं तेषु" इन पदों से कही गई। मैं उनमें नहीं हूँ अर्थात् मेरा योग या बन्ध उनके साथ नहीं है और वे सब पदार्थ तो अव्यय में रहते ही हैं और अव्यय के अधीन हैं, यह हम समुद्रदृष्टान्त से कह चुके हैं। इससे यही आशय हुआ कि जगत् के पदार्थों में मेरा योग या बन्ध नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण आगे उन्होंने इस प्रकार किया है कि भाव दो प्रकार के होते हैं। एक सात्मक और दूसरा निरात्मक। जो आत्मा के द्वारा धारण किये जायँ वे सात्मक भाव कहे जाते हैं, और जो प्रकृति के द्वारा ही धारण किये गये हों वे प्रकृति में ही रहेंगे, आत्मा में नहीं। जैसा कि किसी पर्वत पर कोई मनुष्य पशु आदि घूम रहे हों, वे पर्वत के अङ्ग नहीं कहला सकते। इसी प्रकार बुद्धि या इच्छा में भिन्न प्रकार के विषय आते भी और उससे निकलते भी हैं किन्तु बुद्धि का उनके साथ विभूति रूप सम्बन्ध ही रहता है। बुद्धि उनमें रहती है ऐसा कोई नहीं कहता, क्योंकि यदि उन विषयों में बुद्धि रहती तो वे चेतन हो जाते, किन्तु बुद्धि में भासित जड़ पदार्थ चेतन नहीं कहलाते, इसलिए बुद्धि उन पदार्थों में नहीं रहती यह ही मानना पड़ेगा, इसी दृष्टान्त से यहाँ भी कहा गया है कि सात्विक राजस और तामस तीनों प्रकार के पदार्थ यद्यपि मुझसे ही उत्पन्न हैं, किन्तु मेरा उनके साथ केवल विभूति सम्बन्ध ही है, मैं उनमें हूँ यह नहीं कहा जा सकता। (१२)

●

पञ्चम-पुष्प

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।७।१३।।
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।
न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

इस प्रकार भगवान् ने स्वयं को सब जगत् का उत्पादक और सबसे निराला रहनेवाला भी पूर्व पद्यों में कहा। यहाँ यह शङ्का होगी कि इस प्रकार जब आप सब जगत् के उत्पादक अर्थात् उपादान और निमित्त दोनों प्रकार के कारण हैं, तो जिस प्रकार घट आदि पदार्थों में उनकी उपादान रूप मृत्तिका अनुस्यूत रहती है, वैसे आपका भी सब जगत् में अनुस्यूत रहना मानना होगा, फिर आपको सब लोग ही क्यों नहीं जान लेते ? कदाचित् कहें कि अज्ञान के आवरण से नहीं जान पाते तो यह प्रश्न होगा कि वैसा आवरण करनेवाला कौन है ? इसी का उत्तर भगवान् यहाँ से आरम्भ करते हैं कि ये अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले सबके ज्ञान में आनेवाले जो तीन सत्व, रज, तम गुणों के विकार रूप भाव अर्थात् राग द्वेष मोह आदि पदार्थों से सब जगत् मोह में पड़ा हुआ है, अर्थात् इन्होंने ही जगत् के जीवों के ज्ञान का आवरण कर रखा है। इसी कारण मैं जो तीनों गुणों से पर अर्थात् ऊपर रहनेवाला अव्यय पुरुष हूँ उसे जीवधारी नहीं जान पाते। फिर ये जीवधारी उस आवरण को हटाने का प्रयत्न क्यों नहीं करते? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यह सुप्रसिद्ध दैवी द्योतन वाले प्रकाशशील परमात्मा की पूर्वोक्त सत्वादि गुणों वाली माया दुःख से भी हटाई नहीं जा सकती। देव-परमात्मा कोई भिन्न माया का स्वामी है, ऐसी शङ्का न हो, इसलिए "मम" पद भी दे दिया गया है। अर्थात् जिसे सब लोग प्रकाश रूप परमात्मा की माया मानते हैं वह मेरी ही है। इस कारण मेरे ही हटाने से वह हट भी सकती है-यह उत्तरार्द्ध में कहा जाता है कि जो-जो मनुष्य आदि प्राणी मेरी शरण में आ जाते हैं, वे इस माया को तिर जाते हैं, अर्थात् इससे पार होकर संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

पूर्व प्रथम षट्क के उपोद्घात में ही कहा जा चुका है कि श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य के "माया" पदार्थ के विषय में मतभेद है। श्रीशङ्कराचार्य सब जगत्

को माया के द्वारा ही भासित कहते हैं। उनके मतानुसार जगत् उत्पन्न नहीं होता किन्तु जीवों को ज्ञान का आवरण करने वाली माया के कारण प्रतीत हो जाता है, किन्तु श्रीरामानुजाचार्य माया को एक प्रकार की ईश्वर की शक्ति ही मानते हैं। वह केवल मोहित करने वाली ही न होकर जगत् का वास्तविक उत्पादन करने वाली है।

इसी अपने मत का समर्थन करते हुए वे इन पद्यों की व्याख्या करते हैं कि इन अत्यन्त हीन सात्विक राजस तामस रूप गुणमय भावों से अर्थात् उन भावों के बने हुए शरीर इन्द्रिय और उनके भोग्य पदार्थों से मोहित होता हुआ, देवताओं से लेकर वृक्ष आदि स्थावर पर्यन्त सब जगत् जो कि मेरा शरीर रूप है, वह सबके प्रधान आत्मा रूप और सदा एक रूप रहने वाले मुझको नहीं जानता। ऐसे निकृष्ट पदार्थों में भोग्य बुद्धि ही सब जीवों को क्यों होती है ? इसके उत्तर के लिये आगे का पद्य कहते हैं कि यह माया जो कि सत्व रज और तम रूप तीनों गुण वाली है, वह देव अर्थात् जगत् रूप से क्रीड़ा करने वाले मैंने ही बनाई है। इसीलिये इसका कोई पार नहीं पा सकता। इसको माया शब्द से इसी आधार पर कहा जाता है कि जैसे असुर, राक्षस और अस्त्र-शस्त्र आदि विचित्र प्रकार के कार्य कर दिखाते हैं, इसी प्रकार यह ईश्वर की शक्ति भी विचित्र कार्य करती है। इसी का उन्होंने विष्णु-पुराण से एक उद्धरण भी दिया है, जहाँ कि असुरों के किये हुए विचित्र दृश्यों को ही माया कहा गया है। आगे और भी स्पष्ट करते हैं कि माया शब्द मिथ्या अर्थ का बोधक नहीं है। इन्द्रजाल फैलाने वाले को जो मायावी कहा जाता है वह भी उसकी फैलाई हुई मन्त्र औषध आदि शक्तियों के कारण ही कहा जाता है। उसके बनाये हुए पदार्थों को भी जो माया शब्द से कह दिया जाता है, वह माया के बने पदार्थों से उत्पादित बुद्धि का विषय होने से ही लक्षणा से कहा जाता है। जैसा कि मञ्च पर स्थित पुरुषों के शब्द करने पर "मञ्चाः क्रोशन्ति" इत्यादि कह देते हैं।

तात्पर्य यह है कि माया शब्द वास्तविक विचित्र कार्य उत्पन्न करने वाली ईश्वरीय शक्ति का ही बोधक है। यही शक्ति भगवान् के स्वरूप को ढँका रखती है और जीवों की अपने पुत्र कलत्र आदि में भोग्यता की बुद्धि भी उत्पन्न करती है। आगे उत्तरार्द्ध का अर्थ पूर्ववत् ही है।

जो हो भगवद्गीता में माया शब्द प्रायः सब जगह मोह करने वाली के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, यह हम चतुर्थाध्याय के आरम्भ के "संभवाम्यात्ममायया" की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं।

श्रीमधुसूदन आदि इस पद्य की व्याख्या में श्रीशङ्कराचार्य के मतानुसार वेदान्त प्रक्रिया का पूर्ण विस्तार करते हैं। आरम्भ के दैवीपद की व्याख्या उन्होंने की है

स्वप्रकाश चैतन्य रूप आनन्द को ही आश्रय और विषय बनाने वाली अर्थात् माया परब्रह्म में ही रहती है इसलिए वह परब्रह्म इसका "आश्रय" हुआ और माया का वाचक दूसरा अज्ञान शब्द भी है, वहाँ यह प्रश्न होगा कि किसका अज्ञान ? जैसे ज्ञान का विषय अवश्य होना चाहिए–घट का ज्ञान, मनुष्य का ज्ञान इत्यादि। इसी प्रकार अज्ञान का विषय अवश्य ही होना चाहिये। यद्यपि वेदान्तशास्त्र में अज्ञान को ज्ञानाभाव रूप नहीं कहा जाता, किन्तु ज्ञान की तरह अज्ञान भी भाव रूप ही माना जाता है। अतः उस अज्ञान का भी विषय कोई होना ही चाहिये। तब इसका उत्तर भी वेदान्त ग्रन्थों में यही दिया जाता है कि मायारूप अज्ञान का विषय भी परब्रह्म ही है। यह "संक्षेपशारीरक" नाम के वेदान्त ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला" अर्थात् माया का आश्रय और विषय दोनों निर्विशेष परब्रह्म ही है। उस दशा में दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं जो कि आश्रय या विषय माना जाय। यह सब निरूपण वेदान्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया हुआ है।

दैवी शब्द का अर्थ हुआ परब्रह्म परमात्मा में ही रहने वाली और उसे ही अपना विषय बनाने वाली। "एषा" पद से यह सूचित किया कि "अहमज्ञः" इस प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध। इस अनुभव में ज्ञान का अभाव भासित नहीं है अपितु ज्ञान का विरोधी भाव रूप अज्ञान ही भासित होता है, यह प्रक्रिया भी वेदान्त ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से बतलाई गई है। यहाँ विस्तार भय से नहीं लिखी जाती। "गुणमयी" पद से उस माया को तीन गुणवाली बतलाया, और आगे "मम" पद से मेरी अर्थात् ईश्वर सम्बन्धिनी कहा। वह "दुरत्यया" है अर्थात् कोई जीव बिना मेरी कृपा से उसका पार नहीं पा सकता। यहीं वेदान्त ग्रन्थों में निरूपित यह प्रक्रिया स्पष्ट की गई है कि जीव, ईश्वर, जगत् आदि का विभाग नहीं था, तब केवल एक शुद्ध चैतन्य में ही माया "अविद्या" सुप्त दशा में उपस्थित थी, क्योंकि माया भी अनादि मानी जाती है उसकी भी उत्पत्ति नहीं कही जा सकती। आगे जब विश्व की उत्पत्ति का अवसर आता है, तब वही माया जिसमें कि सत्व गुण अति स्वच्छ होने के कारण दर्पण के समान है, उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब होता है वे ही जीव कहे जाते हैं। यद्यपि माया एक है, किन्तु उससे उत्पन्न उसी के परिणामभूत अन्तःकरण अनन्त हैं, उनमें प्रतिबिम्ब भी अनन्त होते हैं। इन प्रतिबिम्बों को ही चिदाभास या जीव कहा जाता है। यहाँ यह भी समझना होगा कि परब्रह्म परमात्मा पर उस माया का कोई प्रभाव नहीं होता, प्रतिबिम्बरूप जीव ही उसके वश में रहते हैं। यहाँ श्रीनीलकण्ठजी ने इतना विशेष लिखा है कि परब्रह्म में माया उपाधि रूप से रहती है, किन्तु जब वही विशेषण रूप से उसके स्वरूप में प्रविष्ट हो जाय तब उस माया विशिष्ट का नाम ईश्वर हो जाता है और उस ईश्वर के

ही प्रतिबिम्ब रूप जीव होते हैं। इससे ईश्वर और जीव दोनों में ही माया का प्रभाव सिद्ध हुआ। किन्तु फिर भी ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्बरूप। इससे जैसे प्रतिबिम्बों पर बिम्बों का पूर्ण अधिकार देखा जाता है, बिम्ब में जो कुछ दोष या गुण हों वह प्रतिबिम्ब में भी आ ही जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी ईश्वर के वश में ही रहते हैं। वह ईश्वर ही सृष्टि करता है अर्थात् आकाश आदि क्रम से सब पदार्थों को उत्पन्न करता है और अपने उत्पन्न किये हुए पदार्थों में कुछ अव्यवस्था आ पड़ने पर उसे हटाने के लिए जगत् में अवतार भी वही लेता है। प्रकृत श्लोक में "मम" पद से ईश्वर ही कहा गया। मेरी अर्थात् ईश्वर सम्बन्धिनी। जीव और ईश्वर दोनों में जो प्रविष्ट है वह बिम्ब स्थानीय परब्रह्म साक्षी नाम से वेदान्त में कहा जाता है। वही साक्षी अपने में अध्यस्त माया को और अपने प्रतिबिम्ब रूप जीवों को प्रकाशित करता रहता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि दर्पण आदि में जो प्रतिबिम्ब होता है वह तो अपने को या अन्य को नहीं जानता, फिर जीव अपने को या अपने से भिन्न पदार्थ को कैसे जान जाता है ? इसका उत्तर है कि दर्पण आदि में मुख आदि जड़ पदार्थों का ही प्रतिबिम्ब होता है तब उसमें जानने का सामर्थ्य कहाँ से आवे। मुख आदि शरीर के अवयव तो जड़ ही है, चेतनता तो उनमें आत्मा के सम्बन्ध से ही आती है। इससे दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब जड़ का होना सिद्ध है। किन्तु माया में तो साक्षात् चैतन्य का प्रतिबिम्ब हुआ है इसलिए वे प्रतिबिम्ब रूप जीव अपने तथा पराये आदि सबको समझते हैं। वे जीव जब तक बिम्बरूप परब्रह्म के साथ अपनी एकता न समझें, तब तक उपाधि के धर्मों को अपने ऊपर ही मानते रहते हैं। जैसे जल आदि में जो प्रतिबिम्ब हुआ है, जल में हलचल होने पर उस प्रतिबिम्ब में भी वह हलचल दिखाई देती है, या काच आदि में दरार पड़ जाने पर प्रतिबिम्ब भी टूटा सा दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार जिसमें प्रतिबिम्ब हुआ है उस अन्तःकरण के सुख दुःख रोग ताप आदि धर्म प्रतिबिम्ब में भी अवश्य ही आवेंगे। इसी अभिप्राय से भगवान् ने माया को "दुरत्यय" अर्थात् न पार करने योग्य बतलाया। इसके उपाधिभूत अन्तःकरण में जितनी ज्ञान क्रिया आदि की शक्ति है उतना ही यह जान सकता है या कर सकता है और उस ज्ञान क्रिया आदि को अपना ही मानता रहता है, अतएव उनका फल भी भोगता रहता है तब क्या इसका छुटकारा ही कभी नहीं होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए भगवान् ने पद्य का उत्तरार्ध कहा है कि जब सच्चिदानन्द रूप विविध अवतार धारण करनेवाले मुझमें अपने उपाधिभूत मन का निवेश कर देता है, यही भगवान् का आराधन हुआ। अपने किये हुए सब कर्मों के फलों को भी भगवान् को अर्पण कर देना भी उसी आराधन के अन्तर्गत है। तब जिस प्रकार बिम्ब में लगाया हुआ तिलक आदि प्रतिबिम्ब

में भी अपने आप ही दिखाई दे जाता है, इसी प्रकार उन कर्मों के फलभूत धर्म अर्थ काम रूप पुरुषार्थ भी इसे प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवान् का आराधना करते-करते जब अन्तःकरण निर्मल हो जाता है, अर्थात् उपाधि के सब दोष हट जाते हैं तब उस उपाधि में स्वच्छदर्पण की तरह परब्रह्म का स्वच्छ प्रतिबिम्ब पड़ जाता है और "तू ही परब्रह्म है इस गुरु के उपदेश व शास्त्र के मनन तथा निदिध्यासन से "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् मैं परमानन्द रूप परब्रह्म हूँ यह अखण्डरूप चित्तवृत्ति हो जाती है, वह चित्तवृत्ति अन्तःकरण को पैदा करनेवाली मूल अविद्या का ही नाश कर देती है और जब प्रतिबिम्ब का आधार ही नष्ट हो गया तब प्रतिबिम्ब किस पर रहेगा। इसलिए यह प्रतिबिम्ब रूप जीव बिम्बरूप परब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं। यही माया का तरण हुआ। "मामेव" इस एवकार से यह सूचित किया है कि केवल मुझको ही जो शरण बनाते हैं, अर्थात् शरणता में उपाधि का भी प्रवेश नहीं करते वे ही माया का तरण करते हैं। इसी बात को श्रीशङ्करानन्दजी ने और स्पष्ट कर दिया है कि "मामेव" पद से रथ पर दिखाई देनेवाले सगुण साकार स्वरूप को मत समझ लेना, क्योंकि सगुण रूप की उपासना से माया का तरण नहीं हो सकता। इसलिए मेरे मुख्य सच्चिदानन्द रूप की ही जो शरण आते हैं, वे ही माया का तरण करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इस पद्य पर शीर्षक रूप में टिप्पणी देते हैं कि माया और प्रकृति एक ही है। वह दो प्रकार की होती है–दैवी माया और आसुरी माया। दोनों में से जिस माया या प्रकृति में सत्व गुण की प्रधानता रहे वह "दैवी माया" है, और जहाँ रज या तम की प्रधानता हो वह आसुरीमाया है। सत्व प्रधान दैवी माया आत्मा का अत्यन्त आवरण नहीं करती। इसलिए दैवी माया से बद्ध पुरुष भगवान् को अपना शरण बना सकते हैं और उनकी कृपा से माया का पार भी पा सकते हैं, यह इस पद्य में कहा गया और आसुरीमाया का अत्यन्त आवरण जिस पर हुआ है, उन्हें भगवान की शरणागत होने की बुद्धि ही कभी उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वे सदा संसार में ही घूमते रहते हैं, यह अग्रिम पद्य में बतलाया जायेगा। यह तो हम कई बार कह ही चुके हैं कि उनके मत में गीता में "अस्मत्" शब्द का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिये ही होता है। इसलिये श्रीमधुसूदनसरस्वती और शङ्करानन्दजी ने जो "मां" शब्द की निर्गुण परक व्याख्या की है, वह इनके मत में भी उपपन्न ही है। (१४)

जब ऐसा ही है तो सभी लोग आपकी शरण में आकर माया के पार क्यों नहीं उतर जाते, क्यों संसार के झंझटों में दुःख भोगते रहते हैं ? इसका उत्तर भगवान् अग्रिम पद्य में देते हैं कि जो दुष्कृत अर्थात् पाप कर्मों में अपनी मूढ़ता वश लगे रहते हैं, वे अधम पुरुष मेरी शरण में नहीं आ सकते, क्योंकि माया उनकी मेरी शरण में

आने की बुद्धि का हरण कर लेती है। वे आसुर भावों में ही लगे रहते हैं। आसुर भाव वालों का विशेष विवरण आगे सोलहवें अध्याय में विस्तार से किया जायेगा।

श्रीरामानुजाचार्य यहाँ भगवान् को न भजने वालों के भी चार भेद बताये गये हैं, जैसे कि अग्रिम पद्य में भजने वालों के चार भेद बताये जायेंगे, ऐसी व्याख्या करते हैं। वे चार भेद उन्होंने इस प्रकार बताये हैं कि १. मूढ़, २. नराधम, ३. मायापहृतज्ञान, और ४. आसुरभाववाले। 'दुष्कृतिनः' पद को वे सबका विशेषण मानते हैं। अर्थात् ये चारों ही प्रकार के मनुष्य पापकर्मों में ही लगे रहते हैं। उन्हें मेरी शरण में आने का अवकाश ही नहीं मिलता। मूढ़ वे हैं जो मेरे स्वरूप को या मेरे ऐश्वर्य को जानते ही नहीं। जो सुन सुना कर मेरा या मेरे ऐश्वर्य का कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाने पर भी मेरी ओर प्रवृत्त नहीं होते वे "नराधम" हैं और मेरा ज्ञान हो जाने पर भी कूट युक्तियों से जिन्हें मेरे ऐश्वर्य पर असंभावना रहती है, वे "मायापहृतज्ञान" कहे जाते हैं और जो मेरे भगवद्रूप से द्वेष रखते हैं वे "आसुरभाववाले" कहे जाते हैं। इनमें पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर अधिक दुष्ट होते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पति ने जो इस पद्य में कहा है उसका विवरण पहले ही आ चुका है। श्रीशङ्करानन्दजी यहाँ "दुष्कृतिनः" पद से मीमांसकों का ग्रहण करते हैं, क्योंकि वेद के पूर्ण विश्वासी होकर भी काम्य कर्म रूप दुष्कृत में ही लगे रहते हैं और ईश्वर की ओर झुकने का अवसर ही नहीं पाते। तथा "मूढ़" पद से तार्किक, वैशेषिक आदि का ग्रहण करते हैं। जिनका ज्ञान माया ने हरण कर लिया है, अतएव वे परमाणु आदि वादों में ही लगे रहते हैं एवं "नराधम" पद से चार्वाक, आदि का निर्देश बतलाते हैं, जिन्हें कि ईश्वर पर विश्वास ही नहीं। (१५)

●

षष्ठ-पुष्प

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।७।१६।।
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ।।१७।।
उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ।।१८।।
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।।१९।।

हे अर्जुन ! पुण्य कार्य करने वाले चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं। एक आर्त अर्थात् रोग, शत्रु तथा भयङ्कर जन्तु से पीड़ित। दूसरा जिज्ञासु जो ज्ञान प्राप्ति की इच्छा रखता हो। तीसरा धन, पद, पुत्र आदि अपनी उन्नति चाहने वाला और चौथा ज्ञानी अर्थात् जो मेरा स्वरूप जान चुका हो। (१६)

इन चारों में ज्ञानी विशेष प्रकार का है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है। इस श्रेष्ठता का कारण बतलाने के लिए उसको दो विशेषण दिये जाते हैं कि एक तो वह नित्य युक्त है अर्थात् सदा ही भजन करने वाला है। पीड़ित होकर जो भजन करते हैं, उनका भजन पीड़ा निवृत्त हो जाने पर बन्द हो जाना संभव है। उन्नति चाहने वाला पुरुष भी उन्नति मिल जाने पर या न मिलने पर भी घबरा कर भजन छोड़ देता है, ऐसा लोक में देखा जाता है। जिज्ञासु पुरुष भी ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर संभव है कि अन्य शास्त्रोक्त निदिध्यासन समाधि आदि मार्गों में लग जाय, किन्तु जो तत्व जानकर भगवद् भजन में लगा है, उसका भजन कभी नहीं छूटेगा। इस कारण वह भजन में नित्य युक्त है। दूसरा हेतु यह है कि अन्य तीन प्रकार के भक्तों का लक्ष्य अपने इष्ट साधना की ओर भी रहता है। आर्त अपनी पीड़ा निवृत्त को ही मुख्य लक्ष्य में रखता है। जिज्ञासु का ज्ञान प्राप्ति ही मुख्य लक्ष्य रहता है और उन्नति चाहने वाले का मुख्य लक्ष्य तो अपनी उन्नति पर है ही, किन्तु ज्ञानी को और किसी वस्तु की भी अभिलाषा नहीं, इस कारण वह निष्काम रूप से एक मात्र भगवान् में ही भक्ति रखता है। भगवान ही एक मात्र उसका लक्ष्य हैं। इन्हीं दोनों कारणों से वह सब भजन करने वालों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन्हीं

कारणों से ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय होता हूँ। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का मैत्रेयी के प्रति उपदेश है कि जाया, पति, पुत्र आदि उनके काम के लिए प्रिय नहीं होते अपने ही काम के लिए उनसे प्रेम होता है। इसीलिए प्रत्यक्ष देखा जाता है कि अपने किञ्चित् विरुद्ध होते ही उनके साथ प्रेम शिथिल हो जाता है या टूट जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि सबसे अधिक प्रेम सबका आत्मा पर ही है और ज्ञानी पुरुष अन्तर्यामी परमात्मा को ही मुख्य आत्मा मान चुका है, इसलिए आत्मा रूप से उसका परमात्मा अत्यन्त प्रिय हो यह युक्तियुक्त ही है और वह परमात्मा के साथ एकता ही प्राप्त कर चुका है। अतः परमात्मा का भी वह आत्मा बना हुआ है। इसलिए वह मेरा अत्यन्त प्रिय है–यह परमात्मा श्रीकृष्ण का कहना भी युक्तियुक्त ही है। (१७)

तो क्या अन्य प्रकार के भक्त आपके प्रिय नहीं हैं ? ऐसी शङ्का समझ भगवान् कहते हैं कि ये चारों प्रकार के भक्त ही उदार हैं। उदार शब्द का अर्थ बहुत व्याख्याकारों ने उत्कृष्ट ही किया है। अर्थात् और प्रकार के कार्य छोड़ कर मेरी उपासना में ही लगे हैं, इसलिए उच्च श्रेणी के हैं। उदार शब्द का दाता अर्थ ही लोक में प्रसिद्ध है, उसके अनुसार श्रीरामानुज आदि ऐसा भी अर्थ करते हैं कि भजन करना एक प्रकार से मुझे दान करना ही है। इसीलिए सब भजन करने वालों को भगवान् ने उदार बतलाया। कई व्याख्याकारों ने उदार शब्द का अर्थ अच्छे मार्ग पर चलने वाला कहा है। आगे ज्ञानी की विशेषता का पुनः वर्णन किया जाता है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, ऐसा मेरा मत है। इसका विवरण हम अभी कर चुके हैं कि वह भगवान् के साथ एक भाव को प्राप्त हो गया है, इसलिए भगवान् की आत्मा ही बतलाते हैं। पुनः ज्ञानी की प्रशंसा करते हैं कि वह युक्तात्मा अर्थात् अपने आपको ही वासुदेव रूप मानता हुआ और मुझको ही सबसे उत्कृष्ट प्राप्ति योग्य समझता हुआ मुझ में ही लगा रहता है। (१८)

ऐसा ज्ञान झटपट ही नहीं हो जाता, किन्तु अनेक जन्मों के अन्त में यह ज्ञान प्राप्त होता है कि वासुदेव ही सर्वरूप हैं, अर्थात् उनसे भिन्न जगत् में कुछ भी नहीं। ऐसा ज्ञान प्राप्त करने वाला ही महात्मा कहने योग्य है और वह मनुष्यों में दुर्लभ है अर्थात् कोई कोई मनुष्य ही ऐसा मिलता है। वह ज्ञानी मुझमें ही मिल जाता है।

भजन करने वालों की गणना के आदि में जो "सुकृतिनः" पद दिया है, उसका यह आशय है कि जिनका पूर्व जन्मों का पुण्यकर्म परिपक्व हो चुका है वे ही आर्त्ति आदि की दशा में मेरा भजन करते हैं। यदि पुण्योदय न हुआ हो तो अन्य लौकिक उपायों में लग जायेंगे, या "आरोग्यं भास्करादिच्छेत्" इत्यादि वचनों के अनुसार अन्य देवों की उपासनों में लग जायेंगे। सबसे प्रथम आर्त की जो गणना की, उसका आशय यह है कि किसी प्रकार की भी विपत्ति पड़ने पर सभी भगवान् का भजन किया करते

हैं। अतः व्यापक रूप से भगवान् के भजन का कारण आर्त ही है। इसी आशय से आर्त को प्रथम स्थान दिया। आगे सबको ही जो उदार अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया है उसका यह तात्पर्य है कि चाहे किसी रूप में भी भगवान् के भजन में लगे किन्तु भगवद्भजन की यह विशेषता है कि वह अन्तःकरण में पवित्रता उत्पन्न कर ही देता है और किसी भी कारण से भवगद्भजन में लगे हुए पुरुष बहुधा सच्चे भगवद्भक्त बन जाते हैं, ऐसा भी लोक में देखा जाता है। यदि जिस कारण से भजन में लगे वह अपना इष्ट भी सिद्ध हो जाय–पीड़ित पुरुष की पीड़ा दूर हो जाय, उन्नति की कामनावाले को उन्नति मिल जाय, तब तो कहना ही क्या ! वे तो फिर अवश्य ही भगवद्भक्त बन जाते हैं। इन चारों प्रकार के भक्तों के उदाहरण भी कई व्याख्याकारों ने दिये हैं। आर्त्ति से भजन करने वालों में गजेन्द्र, प्रह्लाद, द्रौपदी, जरासन्ध की कैद में पड़े हुए राजा आदि प्रसिद्ध हैं। जिज्ञासुओं में परीक्षित्, शौनक, अर्जुन और उद्धव आदि हैं। अर्थार्थी भजन करने वालों में ध्रुव, सुग्रीव और विभीषण आदि को लेना चाहिए और ज्ञानी शुकदेव, नारद, भीष्म आदि भी प्रसिद्ध ही हैं। श्रीरामानुजाचार्य ने इन चारों में पहले की अपेक्षा आगे वाले को भजन में श्रेष्ठ बतलाया है। उसका तात्पर्य यही हो सकता है कि उत्तरोत्तर के भजन में लगन अधिक होती है।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी इन चार प्रकार के भक्तों का धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों से सम्बन्ध लगाते हैं, और इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि आर्त अर्थात् सांसारिक दुःखों से उद्विग्न होकर धर्म रूप से मेरी सेवा करता है। धर्म मिल जाने पर भगवत् प्रसाद होकर सांसारिक दुःखों की निवृत्ति हो ही जायेगी यही उसका आशय होता है। जिज्ञासु कामात्मक भगवत्स्वरूप की इच्छा रखने वाला। इस सम्प्रदाय में कामस्वरूप भी भगवान् को ही माना जाता है जैसा कि गोपियों ने अनुभव किया। अर्थार्थी का तात्पर्य है कि मेरी सेवा के लिए उसके उपयोगी धनरूप मुझको ही माननेवाला अर्थरूप से सेवा करता है और ज्ञानी तो मोक्ष रूप भगवान् को मानकर भजन करता है यह प्रसिद्ध ही है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो टीका प्रसिद्ध है उसमें "ज्ञानी च" इस चकार से व्रज गोपिकाओं का संग्रह किया है। वे उक्त चारों प्रकारों में से किसी भी प्रकार में नहीं आतीं और न वे सुकृति अर्थात् धर्म करने वाली ही कही जा सकती हैं, क्योंकि इस जन्म में या पूर्व जन्म में भी उनका भगवत् प्रेम प्राप्ति के लिये धर्माचरण करना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। श्रीमधुसूदनसरस्वती भी चकार से ही उनका संग्रह करते हैं और वे यह भी लिखते हैं कि आर्त और अर्थार्थी ये दोनों पहले जिज्ञासु भाव प्राप्त करके पीछे भगवद्भक्त बनेंगे और जिज्ञासु तो बिना किसी व्यवधान के ही ज्ञान प्राप्त कर भगवद्भक्त बन जायेगा, इसी अभिप्राय से आर्त और अर्थार्थी के मध्य में

जिज्ञासु को रक्खा है कि वे दोनों ही पहले जिज्ञासु भाव प्राप्त करते हैं, और पीछे ज्ञान प्राप्त कर पूर्ण भगवद्भक्त बन जाते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी ने अन्तिम श्लोक पर वेदान्त प्रक्रिया का बहुत कुछ विवेचन किया है। अन्य कुछ व्याख्याकार जो यह संकेत करते हैं कि इस प्रकरण में अपरिपक्व विज्ञान या शब्द मात्र से परब्रह्म को जान लेने वाले का वर्णन है, इसका तो उन्होंने खण्डन किया है, क्योंकि सब पद्यों पर ध्यान देने से जिसका ज्ञान परिपक्व हो चुका है उसी का वर्णन यहाँ सिद्ध होता है। जैसा कि हमने भी पद्यों में व्याख्या की है। किन्तु प्रथम पद्य में चार प्रकार के पुण्यकर्मा भक्त मेरा भजन करते हैं। यहाँ "मां" शब्द से सगुण उपासना ही केवल भगवान् को अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि जिनका ज्ञान परिपक्व हो गया है वे सगुण स्वरूप को कल्पित मानते हुए उसकी उपासना में लग ही नहीं सकते। इसलिए वहाँ "मां" शब्द से दोनों ही प्रकार के सगुण और गुणातीत अर्थात् गुणों से परे रहने वाले रूपों का ग्रहण करना चाहिये। अन्यत्र भी विष्णुपुराण आदि में वासुदेव शब्द का ऐसा अर्थ किया कि –

सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः ।
तेनाऽसौ वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते ।।

इसका आशय है कि उस शब्द में वासु और देव दो शब्द मिले हुए हैं। "वासु" शब्द का अर्थ है जो सबमें रहे और सब जिसमें रहें, और "देव" शब्द तो स्व प्रकाश का वाचक है ही। ऐसा ही "मां" शब्द मानने से और "वासुदेवः सर्वमिति' इस वाक्य खण्ड में भी वासुदेव शब्द का यही अर्थ मानने से सब निर्वाह हो जाता है अर्थात् निर्गुण रूप भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। "मां प्रपद्यते" इन पदों का भी स्वारसिक अर्थ श्रीशङ्करानन्दजी मुझमें तत्काल लीन हो जाता है यही करते हैं। वस्तुतः ज्ञानवान् होने के अनन्तर बहुत जन्मों के बाद मुझे प्राप्त करता है–ऐसा अर्थ तो यहाँ हो ही नहीं सकता। क्योंकि जब आगे के पद्यों में ज्ञानी मेरा आत्मा ही है और मुझे परमप्रिय है, यह स्पष्ट शब्दों में कहा गया, तब अनेक जन्म लेने की ज्ञानी को आवश्यकता ही क्या रही ? इसलिए यहाँ जीवन्मुक्ति दशा का ही वर्णन है। श्रुति में भी स्पष्ट कहा है कि "तस्य तावदेव चिरं यावद्विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये" अर्थात् इतना ही विलम्ब है कि मैं इस शरीर से छूटा कि परब्रह्म में लीन हुआ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो सर्वत्र ही गीता के "अस्मद्" शब्द का अर्थ प्रायः अव्यय पुरुष ही मानते हैं। इसलिए उनके मतानुसार भी श्रीशङ्करानन्द की व्याख्या उपपन्न है। क्योंकि अव्यय पुरुष तो निर्गुण ही है।

यहाँ यह अवश्य विचारणीय विषय है कि भगवद्गीता में ज्ञान को प्रधान माना गया या भक्ति को ? श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भक्ति का अङ्ग ही माना है। श्रीवल्लभाचार्य

का भी ऐसा ही सिद्धान्त है और वे श्रीभागवत के द्वारा अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। अन्य वैष्णव आचार्य भी प्रायः ऐसा ही स्थान स्थान में सङ्केत किया करते हैं, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी ज्ञान को ही प्रधान मानते हैं और कर्म, भक्ति आदि को उसका अङ्ग, अर्थात् ज्ञान प्राप्ति का साधन मानते हैं–यह आचार्यों का मतभेद तो प्रसिद्ध है। किन्तु भगवद्गीता के द्वारा किस मत का समर्थन हुआ यह अवश्य विचारणीय है। "भक्त्या मामभिजानाति" इस अट्ठारहवें अध्याय के पद्य में तृतीया विभक्ति से भक्ति की अङ्गता सिद्ध होती है और ग्यारहवें अध्याय के "भक्त्या त्वनन्यया" पद्य में भी भक्ति की अङ्गता सिद्ध की गई है। इन पद्यों का अर्थ उन्हीं प्रकरणों में स्पष्ट किया जायेगा। ज्ञान को भक्ति का अङ्ग मानने वाले जो यह युक्ति दिया करते हैं कि बिना जाने तो प्रेम हो ही कैसे सकता है। इसलिए ज्ञान तो भक्ति का अङ्ग है ही। इस युक्ति का उत्तर भी भगवद्गीता के पद्यों से मिलता है कि तत्त्व ज्ञान भक्ति से प्राप्त होता है अर्थात् पहिले सामान्य रूप से भगवान् को समझ कर प्रेम किया जाय और आगे भगवान् का तात्त्विक ज्ञान अर्थात् वे ही सर्वरूप हैं उनसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं– यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस प्रकरण में ज्ञानी की जो भजन करने वालों में गणना की गई, इससे अवश्य ही ज्ञान का भक्ति में अङ्गभाव सिद्ध हो जाता है और सब प्रकरणों से यह भी सिद्ध है कि परिपक्व ज्ञानी का ही यहाँ वर्णन है। इस प्रकार भगवद्गीता में आपात दृष्टि से परस्पर विरोध ही प्राप्त होता है। इसी विरोध के समाधान के लिए श्रीशङ्करानन्द आदि ने उक्त व्याख्या की है और ज्ञानी की चाहे निर्गुण की ही भक्ति मानी जाय, किन्तु भक्ति की प्रधानता तो सिद्ध हो ही गई इस प्रकार जो भजन बतलाया गया, उसका वे लोग यही आशय मानते हैं कि ज्ञान प्राप्त होने पर भी शरीर धारण करते हुए यह ज्ञान दृढ़ रहे शिथिल न हो, इसके लिए निर्गुण भगवान् का चिन्तन करते रहना चाहिये।

लोकमान्यतिलक ने भी गीता रहस्य के "भक्ति मार्ग" प्रकरण में इसका विचार किया है। किन्तु अन्त में उन्होंने कर्मयोग में ही भक्ति का समावेश मान लिया।

हमारा विचार तो इस विषय में यही है कि ज्ञान और भक्ति इन दोनों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव चलता रहता है अर्थात् भगवत् प्रेम से तत्त्व ज्ञान विकसित होता रहता है और तत्त्वज्ञान से भगवत् प्रेम बढ़ता रहता है। दोनों की अन्तिम अवस्था जो परज्ञान, परिपक्वज्ञान या पराभक्ति कही जाती है, वे दोनों एक ही हैं। ऐसा ही भगवद्गीता के वर्णनों से सिद्ध होता है। इसी से उक्त पद्यों का विदेहमुक्ति के वर्णन पर पर्यवसान मानना व्याख्याकारों का युक्तियुक्त ही है। इस पर विज्ञपाठक यथोचित विचार कर लेवें। (१९)

●

सप्तम-पुष्प

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।२०।।
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।।२१।।
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान् ।।२२।।
अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ।।२३।।
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।।२४।।

भजन करने वालों का वर्णन समाप्त कर आगे पुनः माया से मोहितों का ही प्रसङ्ग आरम्भ किया जाता है कि भिन्न-भिन्न कामनाओं से मनुष्यों का मुख्य ज्ञान हर लिया जाता है और वे उन कामनाओं के वशीभूत होकर अन्य देवता इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि की शरण में जाकर उनकी उपासना करने लगते हैं। उन उपासनाओं में जिन जिन नियमों की आवश्यकता हो उन नियमों का भी पालन करते हैं–ऐसा ही पूर्व जन्मों का उनका संस्कार होता है। उस संस्कार से बद्ध होकर ही वे ऐसा किया करते हैं। इस पद्य में जो अन्य देवताओं की उपासना कही गई है, उसका तात्पर्य फल की इच्छा से किये गये यज्ञों से जो देवताओं का आराधन होता है, उसमें समझना चाहिये। अथवा अतिक्षुद्र तामस भूत, प्रेत आदि देवयोनियों की उपासना में भिन्न-भिन्न फल प्राप्ति की आशा से जो लग जाते हैं, वे भी यहाँ लिये जा सकते हैं।

निर्गुण निराकार भगवान् के जो उपासना के लिए विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य ये पाँच रूप कल्पित हैं, उनका ग्रहण यहाँ नहीं करना चाहिये। वे तो भगवान् के ही रूप हैं और दशम अध्याय में "रुद्राणां शङ्करश्चास्मि" इत्यादि रूप से यहाँ भी अपना रूप बतलाया गया है। निर्गुण, निराकार परब्रह्म के ही उपासना के लिए पाँच रूप कल्पित किये जाते हैं। उनकी उपासनाओं पर ऐसा आक्षेप कभी नहीं हो सकता। इस पद्य में भी "अन्य देवता" शब्द ही दिया गया है। देवता तो जीवधारी ही हैं उनकी

ही उपासना पर यह कटाक्ष है। ईश्वरोपासना पर नहीं। ईश्वरोपासना तो चाहे किसी भी रूप में हो, वह सब ही भगवद्गीता में मेरी उपासना शब्द से कही गई है। (२०)

सबकी बुद्धि के प्रेरक तो आप ही हैं, फिर ऐसे लोगों की बुद्धि को प्रेरणा कर आप अपने में ही क्यों नहीं लगा लेते ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि जो जो भक्त श्रद्धा से जिस जिस शरीर की पूजा करना चाहता है, उसकी उस ही श्रद्धा को मैं अचल बना देता हूँ। उसका परिवर्तन नहीं करता। तृतीय अध्याय में जो यह उपदेश दिया गया है कि कर्मों में आसक्ति रखने वाले जो अज्ञ पुरुष हैं, उनकी बुद्धि को विचलित नहीं करना चाहिये, वही आशय यहाँ उपासना में भी प्रकट किया गया। उस श्रद्धा को दृढ़ करने में भी उनका हित ही है, क्योंकि जिनकी बुद्धि में पूर्व संस्कार वश रजोगुण या तमोगुण अधिक हैं उन्हें उस राजस, तामस देवताओं की उपासना से हटाया जायेगा तो वे और भी दोषयुक्त लौकिक कार्यों अर्थात् मद्यपान व्यभिचार आदि में लग जायेंगे। अभी श्रद्धा से देवताओं की उपासना में तो लगे हुए हैं। इस उपासना से चाहे आगे कहे जाने वाला नाशवान् ही फल मिले किन्तु मनुष्य योनि से तो ऊपर ही जायेंगे। अन्य क्षुद्र कार्यों से तो नरक प्राप्ति भी संभव है। इसलिए उनकी हित बुद्धि से ही उनकी श्रद्धा को निश्चल बनाना भगवान् ने कहा है। यह तो ठीक है कि भगवान् ही सबकी बुद्धि के प्रेरक हैं किन्तु वे भी पूर्व संस्कारानुसार ही बुद्धि में प्रेरणा देते हैं। तामस बुद्धि को एकदम सात्विक बना देने का काम वे नहीं करते। ऐसा करने से तो संसार का भेदभाव भी मिट जायेगा और फिर सृष्टि ही न चलेगी। इसलिए अपने-अपने कर्मों के अनुकूल ही प्रकृति बनाई जाती है। श्रीभागवत में भी दशमस्कन्ध की गोवर्धन लीला में इन्हीं भगवान् कृष्ण ने कहा कि –

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम्
कर्तारं भजते सोऽपि नह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ।

(अ. २४ श्लो० १४)

अर्थात् कर्मों का फल प्रदाता यदि ईश्वर है तो वह भी कर्म की ही अपेक्षा रखता है, अर्थात् कर्मानुसार ही फल देता है। अकर्ता का वह प्रभु नहीं है, अर्थात् बिना कर्म किये अकस्मात् कोई फल नहीं दे देता। वेदान्त सूत्र में भी यही निर्णय किया गया है कि पूर्व पूर्व संस्कारानुसार आगे के कर्म होते रहते हैं और उन कर्मों का फल भी कर्मों के अनुकूल ही ईश्वर से मिलता रहता है।

श्रीरामानुजाचार्य ने इस पद्य की व्याख्या में यह भी लिखा है कि सब देवताओं में भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से विराजमान हैं। इसलिए उन देवताओं की उपासना

भी एक प्रकार से भगवान् की ही उपासना है। इस अभिप्राय से उनकी श्रद्धा को दृढ़ बनाना उचित ही है। (२१)

वह पुरुष मेरी अचल की हुई श्रद्धा से उन भिन्न देवताओं की आराधना में ही लगा रहता है और उस उपासना के फल रूप में अपनी कामना के अनुसार फल भी प्राप्त करता है। वे फल मेरे ही दिये हुए होते हैं। फल प्रदाता तो ईश्वर ही है। जैसा कि पूर्व पद्य की व्याख्या में हम लिख चुके हैं। शिव महिम्नस्तोत्र में भी कहा गया है कि –

क्रतौ सुप्ते जाग्रत् त्वमसि फलयोगे क्रतुभृताम्,
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते ।
अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवम्,
श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः कर्मसु जनः ।।

अर्थात् हे भगवान् शङ्कर ! यज्ञ करने वाले जब अपनी फल प्राप्ति के सम्बन्ध में सोते रहते हैं तब आप ही जागते हो। तात्पर्य यह कि हमें फल किस प्रकार और कैसा मिलेगा यह ज्ञान उन यज्ञ करने वाले को नहीं होता, यही उनका शयन है और आप उसमें जागते हैं अर्थात् किसे कैसा फल देना इसका विचार आपको ही रहता है। कर्म तो जिस समय किया उसी समय नष्ट हो जाता है। सभी क्रियाएँ क्षणमात्र ही रहती हैं, आगे नष्ट हो जाती है। यदि पुरुषरूप परमात्मा का आराधन न किया जाय तो वह नष्ट हुआ कर्म, फल देने के लिए कहाँ से आवेगा। इसलिए आपको ही फल प्रदान का जिम्मेवार समझकर सब लोग वेद पर श्रद्धा रखकर कर्म करने की कमर बाँधे रहते हैं। यही बात भगवान् कृष्ण ने भी इस पद्य में कही है कि मेरे ही दिये हुए फलों को सब उपासक प्राप्त करते हैं। शिव और कृष्ण एक रूप ही हैं और वे ही फलप्रदाता है। "मयैव" इस एवकार से "हि तान्" इस हि शब्द से मैं ही फल प्रदाता हूँ, इस अंश को दृढ़ किया गया है। अथवा "हितान्" को एक पद मानकर यह अर्थ कर लेना चाहिए कि उस आराधक पुरुष के हित अर्थात् चाहे हुए फल मेरे ही दिये हुए होते हैं। (२२)

जब अन्य देवताओं की उपासना करने वाले भी आप ही का दिया हुआ फल प्राप्त कर ही लेते हैं, तब उन्हें आप हृत-ज्ञान अर्थात् ज्ञान रहित क्यों बतलाते हैं ? इसका उत्तर आगे के पद्य में दिया जाता है कि उन छोटी बुद्धि वालों को अर्थात् किसी धन, पुत्र आदि की कामना को लेकर परमात्मा से भिन्न समझ कर भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना करने वालों को जो फल मिलता है, वह अन्तवान् अर्थात् नष्ट होने वाला

होता है। यहाँ "तु" शब्द से अपने उपासकों की अपेक्षा उन अन्य देवोपासकों का भेद सूचित किया। नाश होने वाला फल उन्हें क्यों मिलता है ? यह उत्तरार्ध में स्पष्ट किया जाता है कि अन्य देवताओं की उपासना करने वालों का अपनी अपनी कामना-सिद्धि के अतिरिक्त अन्तिम फल यह है कि वे देवताओं की पूजा में लगे रहें तो उन देवताओं का लोक प्राप्त कर लें, या अन्ततः उनका सायुज्य प्राप्त कर लें, अर्थात् उनके ही स्वरूप में मिल जावें। जबकि उनका लोक और वे देवता भी स्वयं ही नाशवान् हैं तो उनके लोक में जाना या उनके स्वरूप में मिल जाना भी नाशवान् ही होगा। जब देवता ही अपने स्वरूप से प्रच्युत हो जायेगा तब उसमें मिलने वाले को भी प्रच्युत होना ही पड़ेगा। इनसे मेरे भक्तों का यही भेद है कि मेरे भक्त मुझे भी प्राप्त कर लेते हैं। मैं तो नित्यानन्दमय सदा अविनाशी हूँ इससे मुझे प्राप्त कर लेना तो संसार से छुटकारा पा लेना ही है। जो संसार से छुटकारा पा गया, वह फिर संसार के बंधन में नहीं आ सकता। इसलिए मेरी उपासना का फल अनन्त-अविनाशी ही है। यहाँ "मामपि" (मुझे भी) इस "अपि" शब्द का अर्थ कई व्याख्याकार यह लगाते हैं कि पूर्व जो चार प्रकार के भक्त कहे गये हैं, उनमें से आदि के तीन कुछ कामना रखते हैं। वे अपनी कामना की पूर्ति रूप फल भी प्राप्त कर लेते हैं और अन्त में मेरी उपासना का परमफल ज्ञान प्राप्त कर मुझमें भी मिल जाते हैं। भगवान् परब्रह्म की भक्ति से चित्त शुद्ध होकर सब कामनाएँ दूर हो जाती हैं और अन्त में "भगवान् ही सब कुछ हैं"–यह ज्ञान भी मिल ही जाता है। जैसा कि श्रीभागवत में भगवान् का ही वचन है कि –

"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ।।"

अर्थात् मुझमें जिन्होंने अपनी बुद्धि लगा रखी है, उनकी कामना आगे दूसरी कामना पैदा करने वाली नहीं होती। संसार में कामनाओं का सिलसिला चलता रहता है। वैसा सिलसिला भगवान् के भक्तों में नहीं चलता। इसमें दृष्टान्त दिया गया है कि धान बो देने पर अङ्कुर पैदा करने वाला होता है, किन्तु उसे भूँज दिया जावे या पानी में डाल कर औंटा दिया जावे तो फिर वह बीज बोने लायक नहीं रहता। अर्थात् अंकुर पैदा करने की शक्ति उसकी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार भगवान् में बुद्धि लगाने पर कामनाओं की आगे सिलसिला पैदा करने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है। जब कामनाएँ नष्ट हो गईं तो फिर ज्ञान-प्राप्ति में विलम्ब नहीं लगता।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस पद्य पर विशेष टिप्पणी लिखी है। उनका कथन है कि अमृत, ब्रह्म, सुब्रह्म, शुक्र और पाप्मा–इन पाँचों से मिलकर जीव का स्वरूप

बनता है। अव्यय, अक्षर और क्षर ये अमृत कहे जाते हैं। जिनका कि स्वरूप-विवेचन पन्द्रहवें अध्याय में किया जायेगा। गति और स्थिति रखने वाला "यजुः" नाम का वेद ब्रह्म कहा जाता है, जो कि सब जगत् का उपादान कारण बनता है। स्नेह और तेज जिसमें रहते हैं वह अथर्ववेद सुब्रह्म है। अग्नि और आप (जल) जिसके गर्भ में हैं, ऐसा वाक् का मण्डल शुक्र कहा जाता है। प्रकृति के तीनों गुण, दो प्रकार की बुद्धि, तीन प्रकार की मात्राएँ और स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण--ये तीनों शरीर ये सब पाप्मा कहलाते हैं। इनमें ब्रह्म और सुब्रह्म तो ब्रह्म-सत्य हैं, अर्थात् इनमें ब्रह्म की ही सत्ता अनुस्यूत हुई है और शुक्र देवसत्य कहा जाता है, अर्थात् वह देवताओं के स्वरूप से उत्पादित है और पाप्मा अनृत अर्थात् मिथ्याभूत कहा जाता है। इनमें से भोक्ता रूप भूतात्मा यदि देव-सत्य की ओर झुका हुआ हो अर्थात् शरीर के उत्पादक शुक्र की ओर ही लगे तो वह देवताओं का यजन करने वाला कहलायेगा और अमृत की ओर लगा हुआ हो तो वह आत्मा का भक्त कहा जायेगा। देवताओं का पूजन करने वाला देवताओं में मिलेगा, अर्थात् शुक्र से बार बार भिन्न भिन्न शरीर प्राप्त करता रहेगा और अमृत की ओर लगने से अमृत रूप प्राप्त कर लेगा। इन सबकी विस्तृत व्याख्या से तो एक पूरा स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन जायेगा, इसलिए उनके मत के परिचय के लिए यहाँ सङ्केत-मात्र कर दिया है। (२३)

यदि प्रयास समान है और फल में बहुत बड़ा भेद है तो फिर सब ही लोग आपका ही भजन क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर "अव्यक्तं"–इस पद्य से दिया जाता है। यह पद्य पुनः ऐसा उपस्थित हो गया है कि इसमें व्याख्याकारों के बहुत मतभेद हैं। हम संक्षेप से सबका ही वर्णन कर देते हैं–

श्रीशङ्कराचार्य इसकी व्याख्या करते हैं कि पूर्व अप्रकट और इस समय प्रकट रूप में उपस्थित हुआ मुझको निर्बुद्धिलोग मानते हैं। अर्थात् शरीर ग्रहण से पूर्व में अप्रकट था अर्थात् किसी को ज्ञात नहीं था। अब प्रकट हो गया हूँ, ऐसा ही सब लोग समझते हैं। परन्तु वे निर्बुद्धि क्यों हैं ? उसका कारण बतलाते हैं कि मेरा जो सबसे पर–ईश्वर भाव है, जो कि अविनाशी है और जिससे उत्तम और कोई हो ही नहीं सकता, ऐसे भाव को वे नहीं जानते। इसका तात्पर्य यही हुआ कि जीवरूप ही सबकी दृष्टि में आता है। परमात्मा का स्वरूप ही लोग नहीं जानते, इसलिए जीवरूप देवताओं के ही भजन में लगते हैं। परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से मुझ परमात्मा की उपासना में नहीं लगते।

श्रीरामानुजाचार्य इसे अवतार पर लगाते हैं कि निर्बुद्धिलोग मुझे ऐसा समझते हैं कि जैसे संसारी पुरुष शरीर ग्रहण से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, अर्थात् वे कहाँ हैं ?

इसका किसी को पता नहीं लगता और आगे शरीर ग्रहण करने पर प्रकट हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व द्वितीय अध्याय में "अव्यक्तादीनि भूतानि"–इत्यादि पद्य में कहा गया है। ऐसा ही संसारी पुरुष वसुदेव का पुत्र एक पराक्रमी क्षत्रिय-विशेष मुझे मानते हैं। वे मेरे परं भाव अर्थात् ईश्वर रूप जो कि अविनाशी और अनुत्तम अर्थात् सबसे उत्कृष्ट है, उसको नहीं जानते। इसलिए अन्य देवताओं को बड़ा समझ कर उनकी उपासना में लगे रहते हैं।

श्रीमध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) लिखते हैं कि पूर्व मैं कार्यभूत देह से रहित था, और अब मैंने कार्यभूत देह ग्रहण कर लिया है। इसलिए मेरे तात्विक, अव्यय और अनुत्तम भाव को ब्रह्मा, शिव आदि भी नहीं जानते, साधारण मनुष्यों की तो कथा ही क्या ? इस अज्ञान के कारण ही लोग मेरे भजन में नहीं लगते। अन्य देवताओं को पहिचानते हैं, इसलिए उनके भजन में लगे रहते हैं।

प्रायः बहुत से व्याख्याकारों ने श्रीरामानुजाचार्य के समान ही श्रीकृष्णावतार पर ही इस पद्य को लगाया है। श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी ने इसका अर्थ किया है कि मैं यद्यपि अपने पूर्ण सामर्थ्य से और सच्चिदानन्द रूप से सम्पन्न ही अवतीर्ण हुआ हूँ, किन्तु लोग मुझे ऐसा नहीं समझते। वे साधारण मनुष्य के रूप में ही जानते हैं, इसलिए मेरे भजन में प्रवृत्त नहीं होते।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने व्याख्या की है कि देह-ग्रहण से पूर्व मैं कार्य करने में असमर्थ था और देह-ग्रहण कर कार्य करने में समर्थ हो गया हूँ, ऐसा ही साधारण लोग मुझे संसारी मनुष्यों की तरह ही समझते हैं, किन्तु मैं तो सदा ही सब सामर्थ्य से युक्त रहता हूँ। चाहे अव्यय अर्थात् सोपाधिक रूप में रहूँ चाहे अनुत्तम अर्थात् निरूपाधिक रूप में रहूँ–सर्वदा ही सब प्रकार की सामर्थ्य मुझमें है, इस प्रकार के मेरे परंभाव को बुद्धि-विहीन लोग नहीं समझते, इसीलिए मुझे नहीं भजते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी मुख्य आत्मा पर ही इस पद्य को लगाते हैं कि देह तो व्यक्त अर्थात् प्रकट है और उसका अधिष्ठाता आत्मा अप्रकट अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण न किए जाने वाले रूप में रहता है। वास्तव में अव्यक्त आत्मा ही व्यक्त देहादि के रूप में प्रकट होता है, अर्थात् कर्मवश जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उस आत्मा को बुद्धि रहित लोग नहीं पहिचानते। वह आत्मा व्यय अर्थात् परिवर्तन से रहित है और सबसे ही उत्कृष्ट है, किन्तु अज्ञान के कारण आत्मोपासना में सर्वसाधारण प्रवृत्त नहीं होते। शरीरधारी जीवरूप देवताओं को ही समर्थ समझकर उनकी उपासना में लगे रहते हैं।

श्रीधरस्वामी व्याख्या करते हैं कि वास्तविक रूप में तो मैं अव्यक्त अर्थात्

किसी प्राणी के जानने योग्य नहीं हूँ, किन्तु मत्स्य, कूर्म, मनुष्य आदि आकारों से व्यक्त रूप में आ जाता हूँ। इस मुख्य तत्त्व को न जानते हुए साधारण लाग मेरी उपासना में नहीं लगते।

लोकमान्यतिलक ने आगे के पद्य के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा है कि माया से ढका हुआ रहने के कारण मैं अव्यक्त रहता हूँ, किन्तु कहीं-कहीं व्यक्त रूप में आ जाता हूँ। इसी युक्ति को योग या माया कहा गया है। यहाँ उन्होंने माया के स्वरूप का ही विशेष विवरण लिखा है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी इस पद्य का वास्तविक अर्थ करते हैं कि यह सांख्य मत पर कटाक्ष है कि वे अव्यक्त और व्यक्त दो ही प्रकार के तत्व मानते हैं। इन तत्वों का परस्पर परिवर्तन होता रहता है। अर्थात् व्यक्त कभी अव्यक्त रूप में आ जाता है और अव्यक्त फिर व्यक्त रूप में चला जाता है। इस प्रकार व्यक्त और अव्यक्त का चक्र घूमता रहता है इतना ही वे समझते हैं। भगवद्गीता में "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः"- इस वाक्य से अव्यक्त को अक्षर रूप ही बतलाया गया है। इससे सिद्ध हुआ कि अक्षर और क्षर-इन दो ही रूपों को वे पहिचानते हैं, किन्तु सबसे ऊपर का और सबसे उत्तम जो अव्यय तत्व है, उसे नहीं जानते। इसीलिए निर्बुद्धि कहकर उनकी निन्दा की गई है। उनके ही चक्र में पड़कर साधारण लोग भी मेरा वास्तविक अव्यय स्वरूप जो कि सबका आधार है और जिसके ज्ञान से ही परम पद मिलता है, उसे नहीं जानते। अज्ञान के कारण ही सबके आत्माभूत अव्यय की शरण में नहीं आते, अक्षर के अन्तर्गत देवताओं की ही उपासना में लगे रहते हैं। इस प्रकार अव्यय शब्द को सर्वोत्तम पुरुष पर रूढ़ मानकर ही इस पद्य का अर्थ स्पष्ट होता है। (२४)

●

अष्टम-पुष्प

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढ़ोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ।।२५।।
वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।।२७।।
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ व्रताः ।।२८।।
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।२९।।
साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ।।३०।।

प्रायः अधिकांश लोग आपका तत्त्व नहीं जान पाते, इसका कारण क्या है ? सो वह इस पद्य में बतलाया जाता है कि योगमाया से आवृत अर्थात् ढँका हुआ रहने के कारण मैं सबके द्वारा नहीं जाना जाता हूँ। सबके द्वारा नहीं जाना जाना–इसका तात्पर्य है कि कोई कोई मेरे परमभक्त ही मुझे जान सकते हैं। सब लोग तो माया के द्वारा मूर्ख हो रहे हैं, इसलिए मेरा अज अर्थात् जन्म रहित और अव्यय अर्थात् नाशरहित रूप नहीं जान पाते।

यहाँ भी "योगमाया समावृतः"–इस पद का व्याख्याकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य का अर्थ है कि सत्व आदि गुणों की योजना ही योग है। वही माया कहलाती है। अथवा भगवान में चित्त को एकाग्र करना ही योग है। वही माया है। इसका तात्पर्य यही लगाना होगा कि सत्व आदि गुण ही माया हैं, अथवा भगवान् ने इच्छानुसार माया उत्पन्न की है। वही भगवान् के स्वरूप को ढंका हुआ रखती है, सबको नहीं जानने देती।

श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ है कि "योग" शब्द से यहाँ मनुष्य-साधारण स्वरूप,

वेश-विन्यास आदि का ग्रहण है। वही माया अर्थात् इन्द्रजाल करने वालों की तरह मेरी शक्ति है। उसी से मैं ढंका रहता हूँ। इसका तात्पर्य होगा कि मैंने अपनी इच्छानुसार सर्व-साधारण मनुष्यों का जैसा स्वरूप, वेश आदि धारण कर रखा है, इसी से सब लोग मुझे अजन्मा, अविनाशी अर्थात् ईश्वर के रूप में नहीं जान पाते, साधारण मनुष्य ही मानते हैं।

श्रीमध्वाचार्य (आनन्दतीर्थ) कहते हैं कि योग अपना सामर्थ्य और माया इन दोनों से मैं ढँका हुआ रहता हूँ।

श्रीहनुमत्कृतपैशाचभाष्य में लिखा है कि गुणों के साथ सम्बन्ध ही योग है, वही माया भी कहलाती है। उसने मुझे ढँक रखा है।

श्रीवेङ्कटमाधव लिखते हैं कि योग भगवान् का अर्थ मेरा सङ्कल्प जो है, वही माया है, उससे मैं ढँका रहता हूँ। इसका तात्पर्य होगा कि अपनी इच्छानुसार ही मैंने अपने आपको प्रच्छन्न कर रखा है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें लिखा है कि मैं कभी अंशी रूप में अर्थात् पूर्ण-ब्रह्म-रूप में अवस्थित रहता हूँ और कभी अंश रूप में, अर्थात् सब जीवों के समान रूप में अवतार ग्रहण करता हूँ। सब रूप ग्रहण करने का मेरा जो सामर्थ्य है, वही माया है, अर्थात् सर्व साधारण को मोह करा देती है। वही मुझे नहीं जानने देती।

श्रीवल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि योग के प्रकट करने के लिए जो माया अर्थात् मेरी दासरूप शक्ति है, उसी से मैं ढंका हुआ हूँ और उसने सब लोगों को मूढ़ बना रक्खा है।

श्रीनीलकण्ठजी योग शब्द को पृथक् करके सम्बोधन पद मानते हैं। अच् प्रत्यय करने से जो योग शब्द बनता है–वह योगी के अर्थ में प्रयुक्त हो सकता है, ऐसा मानकर अर्थ उन्होंने यह अर्थ किया कि हे योग ! अर्थात् कर्मयोगी अर्जुन ! माया से ढँका हुआ होने के कारण मुझे सब नहीं पहचानते, इत्यादि।

निम्बार्क सम्प्रदाय की अनुयायिनी ''तत्त्व-प्रकाशिका'' टीका में लिखा है कि योग अर्थात् मेरा संकल्प, उससे उत्पन्न जो माया है अर्थात् सर्व साधारण मनुष्यों का जैसा स्वरूप है उससे मैं ढँका हुआ हूँ।

श्रीमधुसूदनसरस्वती कहते हैं कि योग अर्थात् मेरा सङ्कल्प, उसके वश में रहने वाली जो माया है उससे मैं ढँका हुआ हूँ। यद्यपि वह माया भगवान् को नहीं ढँक सकती, किन्तु जीवों की दृष्टि को ढँक देती है। इससे वे मेरा स्वरूप नहीं देख पाते।

श्रीशङ्करानन्दजी "माया समावृत:" इस पद को "लोक:" का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि अपने प्रवाह से सब जीवों को जन्म, मरण आदि के प्रवाह से युक्त करने वाली, अतएव "योग" पद से वाच्य जो माया, इससे जिनका ज्ञान ढँका हुआ है–वे मूढ लोग मेरे तात्त्विक स्वरूप को नहीं जानते, इत्यादि।

श्रीधरस्वामी की व्याख्या है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति है। यहाँ उसका तात्पर्य है कि मेरा जो अचिन्तनीय प्रज्ञा-विलास है, वही माया कहा जाता है, उससे मैं आवृत अर्थात् प्रच्छन्न हो रहा हूँ।

लोकमान्यतिलक के इस पद्य का अर्थ पूर्व पद्य के साथ ही किया जा चुका है कि अव्यक्त का व्यक्त रूप में होना ही युक्ति अर्थात् योग है और वह योग ही माया शब्द से भी कहा गया है। उससे मैं ढंका हुआ हूँ अर्थात् प्रकट रूप में जो आया हुआ हूँ इसी से मुझे साधारण मनुष्य समझ कर लोग मेरा असली रूप नहीं पहचानते।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने "संशय तदुच्छेदवाद" ग्रन्थ में माया, महामाया, योगमाया इत्यादि शब्दों का पृथक्-पृथक् अर्थ किया है। वे यहाँ योगमाया शब्द का अर्थ करते हैं कि रस और बल जो दो मूल तत्त्व है, उनमें दो बलों का संसर्ग होकर जो एक नई वस्तु उत्पन्न हो जाय और कारणरूप दोनों वस्तुएँ न रहें इस प्रकार का योग कराने वाली जो माया है वही "योगमाया" कही जाती है। इस प्रकार ईश्वर ने अपना ईश्वर रूप छोड़ कर जो मनुष्य रूप धारण किया वही योगमाया है। उससे अर्थात् मनुष्य रूप से आच्छन्न होने के कारण मुझे मूढ लोग नहीं पहचानते। यही उनके मतानुसार पद्य का तात्पर्य होगा। उनके मतानुसार "योगमाया" माया के अन्तर्गत एक छोटी वस्तु हो जाती है। किन्तु मन्त्र शास्त्र में योगमाया को अन्तरङ्ग शक्ति कहा गया है। इस तारतम्य पर विद्वान् पाठक स्वयं विचार कर लें। (२५)

वास्तव में योगमाया मेरा आवरण नहीं कर सकती। क्योंकि माया के अधिष्ठाता पर माया का कोई प्रभाव नहीं होता। वह तो केवल जीवों की दृष्टि को ढँक लेती है, इसी से सब जीव मुझे नहीं पहचानते। जिस प्रकार हमारी दृष्टि और सूर्य के बीच में आया हुआ बादल सूर्य को नहीं ढँक सकता। इतना बड़ा सूर्य छोटे से बादल से कैसे ढँका जाय। किन्तु वह सूर्य पर जाती हुई हमारी दृष्टि को ढँक लेता है। इसी से हम समझ लेते हैं कि बादल से सूर्य ढँक गया। इसी प्रकार जीवों की दृष्टियों में भगवान् ही ढँके हुए प्रतीत होते हैं। इसी बात का स्पष्टीकरण इस पद्य में किया जाता है कि हे शत्रुओं के तपाने वाले भरतवंश अर्जुन, मैं जो हो चुके और जो वर्तमान हैं तथा जो आगे होंगे, उन सब प्राणियों को जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता। इससे यही सिद्ध हुआ कि माया का प्रभाव मुझ पर नहीं है, किन्तु जीवों पर ही है। पूर्वपद्य

की व्याख्या में "सर्वस्य न प्रकाशः" इन पदों का तात्पर्य हमने बतलाया था कि सर्व साधारण मुझे नहीं जानते, कोई-कोई भक्त ही जानते हैं, किन्तु यहाँ कहा जाता है कि कोई भी नहीं जानता, यह विरोध सा प्रतीत होता है, किन्तु वेदान्त की दृष्टि से इसका समाधान है कि ईश्वर तो सबका ज्ञाता है, वह ज्ञान का विषय बन ही नहीं सकता। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में भगवान् याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा है कि-"विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्" अर्थात् जो सबका जानने वाला है उसको कोई कैसे जाने। यदि वह ज्ञान का विषय बने तो ज्ञान का कर्ता कोई दूसरा होगा, क्योंकि कर्ता और कर्म दोनों एक नहीं हो सकते, इस विचार के अनुसार ईश्वर किसी के ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता। यही यहाँ कहा गया है कि मुझे कोई नहीं जानता। पूर्व पद्य में जो भक्तों का जानना सूचित किया वे भी भक्ति के आधार अर्थात् प्रेम पात्र रूप में ही परमात्मा को जानते हैं। सबके अनतर्यामी रूप से तो साक्षात्कार वे भी नहीं कर सकते। (२६)

सब प्राणियों के न जानने का दूसरा भी कारण बतलाते हैं कि सब जीवधारी प्राणियों में इच्छा अर्थात् किसी का अनुराग और द्वेष अर्थात् किसी से वैर ये दोनों भरे रहते हैं। उसी इच्छा द्वेष के जोड़े से सब प्राणियों में एक प्रकार का मोह अर्थात् अज्ञान भरा रहता है। उसी से उनकी दृष्टि में सम्मोह अर्थात् चकाचौंध सी आ जाती है। अतः वे सदा मोह में ही पड़े रहते हैं। सांसारिक बाह्य वस्तुओं का भी ज्ञान यथार्थ रूप से उन्हें नहीं हो पाता, फिर आत्मतत्त्व जो अत्यन्त गम्भीर है उसे जानने की तो कथा ही क्या। इस पद्य के अनुसार पूर्वोक्त पद्य में "योगमाया" शब्द का श्रीविद्यावाचस्पतिजी का किया हुआ अर्थ ही उचित प्रतीत होता है। राग और द्वेष अन्तःकरण और विषयों के सम्बन्ध से एक अतिरिक्त वस्तु रूप में ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उन्हें योगमाया कहना सुसंगत होगा। उस पद्य का ही इसमें स्पष्टीकरण किया गया, यही उनके मतानुसार इस पद्य की व्याख्या होगी। इस पद्य का यह भी अभिप्राय कहा जा सकता है कि प्राणियों में जो राग और द्वेष भरे हुए हैं, उसी के अनुसार वे मुझे भी देखते हैं। बहुत से असुर मेरे साथ द्वेष ही करते हैं बहुत से आप्त बान्धव समझ कर प्रेम करते हैं। इस प्रकार सबकी दृष्टि ही जब विकृत हो रही है तो मेरा ईश्वर रूप उनकी दृष्टि में कैसे आ सकता है। ये राग द्वेष सब सृष्टि में भरे हुए हैं। अथवा ये राग द्वेष ही सृष्टि के कारण हैं। इनसे छुटकारा होना असंभव सा है। (२७)

जब यही दशा है तो आपका भजन कोई भी कैसे करेगा ? इसका उत्तर इस पद्य से दिया जाता है कि जिन मनुष्यों के पाप कर्मों का अन्त आ गया है, अर्थात् पुण्य कर्म करने से जिन के पाप धुल गये हैं, वे पूर्वोक्त प्रकार के राग द्वेष से छूट

कर दृढ़ता से नियम पालन करते हुए मेरा भजन करते हैं। जैसा कि चार प्रकार के भक्तों के निरूपण में लिखा जा चुका है कि पीड़ा आदि में भी बहुतों को अन्य देवताओं का भजन ही सूझता है। पुण्य कर्म करने वाले लोग ही उस समय मेरी ओर झुकते हैं। (२८)

ऐसे ही लोग वृद्धावस्था और मृत्यु से भयभीत होकर उनसे छुटकारा पाने की इच्छा करते हुए मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, अर्थात् मेरा भजन करते हैं। वे ही ब्रह्म और कर्मों को सर्वरूप से समझ पाते हैं और आध्यात्म भी वे ही जानते हैं। इससे यह सूचित किया कि मेरा आश्रय लेने से ही जरामरण आदि संसार के झंझटों से छुटकारा मिल सकता है। (२९)

जो पूर्वोक्त पुरुष मुझे अधिभूत के साथ, अधिदैव के साथ और अधियज्ञ के साथ जानते हैं, वे चित्तको एकाग्र रखते हुए मृत्यु के समय भी मुझे जानते रहते हैं। इन दोनों पद्यों में जो नये-नये शब्द आये हैं, उन सबकी व्याख्या अग्रिम अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के प्रश्न पर भगवान् ने स्वयं की है। वहीं इन शब्दों पर हम भी अपना वक्तव्य लिखेंगे। इन दोनों पद्यों को अग्रिम अध्याय की अवतरणिका के रूप में ही समझना चाहिये। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि पहिले जो चित्त की एकाग्रता का अभ्यास और भगवान् का मनन करता रहेगा, वही मृत्यु काल में उनका स्मरण कर सकेगा। बिना पूर्व यत्न के उस समय भगवान् का स्मरण अत्यन्त कठिन है। (३०)

सातवाँ अध्याय समाप्त ।

●

अष्टम-अध्याय
नवम-पुष्प
अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।८।१।।
अधियज्ञः कथं कोऽत्रदेहेऽस्मिन् मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ।।२।।

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।।३।।
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४।।

सप्तम अध्याय के अन्त में नये शब्दों के जाल में लपेट कर जो भगवान् ने गम्भीर अर्थरूप ढेले से लुढ़का दिये, इससे अर्जुन चकित हो गया और बलात् उसके मुख से जिज्ञासा निकल पड़ी कि हे पुरुषोत्तम ! जो आपने नये नये शब्द यहाँ कहे हैं, उन सबका स्पष्ट विवरण कृपा कर सुनाइये, जिससे कि मैं समझ सकूँ। प्रत्येक शब्द का विवरण पूछते हुए अर्जुन कहते हैं कि आपने जो कहा है कि मेरे उपासक उस ब्रह्म को जान लेते हैं। तो वह ब्रह्म क्या है। उसका स्पष्ट विवरण कीजिए। इसी प्रकार आपने उसी पद्य में अध्यात्म और कर्म शब्द भी कहे हैं। वह अध्यात्म क्या है ? इसका भी स्पष्ट करना अपेक्षित है। दूसरे पद्य में जो अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ अपने को जानना आपने बतलाया है। वहाँ अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञ शब्दों से क्या क्या तत्त्व आपको विवक्षित हैं, यह भी स्पष्ट कीजिए और इस देह में अधियज्ञ क्या है और कैसे रहता है, यह भी जानना चाहता हूँ। हे मधुसूदन! अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को नियत अर्थात् सावधान रखने वाले पुरुषों के द्वारा मृत्युकाल में आप किस प्रकार जाने जा सकते हो। यहाँ प्रकार का प्रश्न किया, इसका तात्पर्य है कि मृत्यु काल में तो विविध प्रकार के रोगों से सबकी चेतना विलुप्त सी हो जाती है, उस समय आपका ज्ञान या स्मरण कैसे किया जा सकता है इसका भी विवरण कीजिए। सब मिलाकर अर्जुन ने सात प्रश्न किये।

यहाँ व्याकरण की प्रक्रिया से "अध्यात्मम्" "अधिभूतम्" "अधिदैवम्" इन शब्दों का अर्थ होता है कि आत्मा में रहने वाला, भूतों में रहने वाला और देवताओं में रहने वाला। अधियज्ञ शब्द पुँल्लिङ्ग, व्याकरण की रीति से अव्ययीभाव समास में नहीं बनता। इसलिए वहाँ तत्पुरुष समास कर यज्ञ का अधिष्ठाता यह अर्थ कर लेना चाहिये।

लोकमान्यतिलक ने इन सभी शब्दों का तात्पर्यार्थ यह बतलाया है कि उनमें रहने वाला अर्थात् उनका अधिष्ठाता। अधिदैवत शब्द का उन्होंने विस्तार से विवेचन किया है कि शास्त्रों में बहुत जगह ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठाता भिन्न-भिन्न देवता माने जाते हैं। उदाहरणार्थ आँख के सूर्य, कान के दिशा, त्वचा के वायु, नाक के अश्विनीकुमार तथा जिह्वा के वरुण हैं एवं कर्मेन्द्रियों में वाणी के अग्नि, हाथ के इन्द्र, पैर के विष्णु, गुदा के मृत्यु और उपस्थ के प्रजापति देवता हैं। इनके विषय में ही अधिदैवत पद से प्रश्न है, ऐसा उन्होंने आशय प्रकट किया है। इसके अतिरिक्त द्वितीय पद्य के पूर्वार्द्ध में वे अपनी व्याख्या में दो प्रश्न निकालते हैं, क्योंकि वहाँ "कथं" और "कः" ये दो प्रश्न वाचक शब्द आये हैं। इसलिए वहाँ यह अर्थ करना चाहिये कि अधियज्ञ कैसा होता है और इस देह में अर्थात् अधिदेह कौन हैं। अधिदेह शब्द यद्यपि सप्तमाध्याय के पद्यों में भगवान् ने नहीं कहा था, तथापि अर्जुन ने अपनी ओर से ही यह प्रश्न उठाया। भगवान् के उत्तर की भी उन्होंने इसी प्रकार व्याख्या की है।

अन्य व्याख्याकार भी "कथं" और "कः" इन दो प्रश्नार्थक शब्दों का पृथक् पृथक् विवरण करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य अपने सिद्धान्तानुसार प्रश्नों का आशय इस प्रकार लगाते हैं कि अपने जरा मरण से मोक्ष के लिए जो पुरुष यत्न करते हैं उनका जानने योग्य ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म क्या है और ऐश्वर्य की अभिलाषा से जो आपकी उपासना करते हैं, उनका जानने योग्य या उपास्य अधिभूत और अधिदैव क्या है। इस प्रकार पूर्व कहे हुए चार प्रकार के भक्तों से इन प्रश्नों का सम्बन्ध जोड़ा गया और पूर्वोक्त उपासकों में ज्ञानी के अतिरिक्त अन्य तीनों का जानने योग्य अधियज्ञ कौन है और उसका अधियज्ञ भाव किस प्रकार है तथा उन तीनों ही के द्वारा मरण काल में आप किस प्रकार जाने जा सकते हैं, अर्थात् ज्ञानी तो पहले ही आपको जानकर आपका प्रिय बन चुका है, अन्य तीनों का जानने का क्या प्रकार और क्या स्वरूप है।

श्रीनीलकण्ठजी सात प्रश्नों का यह अभिप्राय बताते हैं कि मुख्य रूप से जानने योग्य तो एक ही है। उसके विषय में तो एक ही प्रश्न होगा। अन्य छह प्रश्न उपासना के सम्बन्ध में हैं। दूसरे पद्य के "कथं" और "कः" का उन्होंने इस प्रकार विशकलन

किया है कि अधियज्ञ कौन है, यह तो अधियज्ञ के स्वरूप का प्रश्न हुआ और कथं के साथ उत्तरार्ध का "ज्ञेय:" पद जोड़ कर वह किस प्रकार जाना जा सकता है, यह अर्थ किया और ज्ञान पद को उपासनार्थक ही मानकर अधियज्ञ की उपासना किस प्रकार की जाय, यह तात्पर्य उन्होंने निकाला है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने दोनों प्रश्नार्थक शब्दों का आशय लगाया है कि यज्ञ में वर्तमान अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता कोई इन्द्रादि देवता है या स्वयं स्वयं परमेश्वर ही है–यह प्रथम प्रश्न हुआ और दूसरा प्रश्न यह है कि उस अधियज्ञ की उपासना कैसे की जाय ? क्या अपने स्वरूप से अभिन्न मानकर या तादात्म्य अर्थात् भेदाभेद मानकर और वह इस देह में किस प्रकार रहता है, क्या जाने हुए मन, बुद्धि आदि के रूप में या उनसे भिन्न ही उसका कोई रूप है ? इन दोनों को पृथक् पृथक् प्रश्न नहीं मानना चाहिए, किन्तु दोनों मिलाकर एक ही प्रश्न है। अतएव उत्तर एक ही प्रकार का दिया गया है।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने प्रश्नों की व्याख्या भी भिन्न-भिन्न प्रकार से की है जिसका कुछ दिग्दर्शन यहाँ करा दिया गया। विस्तार उत्तर में लिखेंगे। (१-२)

उत्तर के पद्यों की भी व्याख्याकारों की प्राय: भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं, इसलिए इस आवश्यक गम्भीर विषय में भी सबका ही मत प्रदर्शित कर देना आवश्यक है। दो पद्यों की साथ ही व्याख्या की जाती है।

श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है कि हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अक्षर अर्थात् विनष्ट न होने वाला ही परब्रह्म है। "परम" इस विशेषण से "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" इस पद्य में आगे कहे जाने वाले वर्ण समूह रूप ब्रह्म के ग्रहण का यहाँ वारण किया गया है। "परम" इस विशेषता से पर ब्रह्म की सबसे उत्कृष्टता और सबके नियन्त्रण का सामर्थ्य सूचित किया गया है। उसी परब्रह्म का स्वभाव अर्थात् अपना ही रूप जो सब प्राणियों के भीतर आत्मा रूप से प्रविष्ट हो रहा है वही अध्यात्म शब्द से कहा जाता है। सब भूतों की उत्पत्ति करने वाला जो विसर्ग अर्थात् अग्नि में चरु का डालना रूप जो यज्ञ है, वही विसर्ग शब्द से समझना चाहिए। इस यज्ञ से ही अन्नादि के उत्पन्न होने पर भूतों की उत्पत्ति में सहायता प्राप्त होती रहती है, क्षर अर्थात् विनाश होने वाले जो भाव अर्थात् पदार्थ हैं वे ही "अधिभूत" कहे जाते हैं। पुरुष अर्थात् सबको पूर्ण करने वाला या पुर अर्थात् शरीर में शयन करने वाला जो ज्ञान, क्रिया, शक्ति वाला हिरण्यगर्भ है उसे ही "अधिदैवत" समझना चाहिए। इस शरीर में जो यज्ञ है, उसका अधिष्ठाता मैं ही हूँ, यज्ञ देह के द्वारा ही सम्पादित होता है, इस अभिप्राय से उसे देह में बताया गया और श्रुतियों में "यज्ञो वै विष्णु:" अर्थात् यज्ञ विष्णु का ही स्वरूप

है, ऐसा कहा गया है। वक्ता भगवान् कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। इस अभिप्राय से मैं ही अधियज्ञ अर्थात् यज्ञ का अधिष्ठाता हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या है कि परम अक्षर अर्थात् प्रकृति से रहित जो आत्मस्वरूप है वही ब्रह्म है और स्वभाव अर्थात् प्रकृति अध्यात्म कही जाती है। यहाँ आत्मारूप न होती हुई भी जो आत्मा से सम्बन्ध रखती हैं वे वासनाएँ प्रकृत शब्द से समझनी चाहिये। इन दोनों में से ब्रह्म तो ग्राह्य कोटि में है और प्रकृति त्याज्यकोटि में, यह भेद भी जिज्ञासु को स्वयं समझ लेना चाहिये और भूतभाव अर्थात् मनुष्यादि रूपता को उत्पन्न करने वाला पञ्चाग्नि विद्या में पाँचवीं आहुति के रूप में कहा गया जो स्त्री सम्पर्क में होने वाला विसर्ग है, वही कर्म शब्द से कहा जाता है। इस कर्म को छोड़ने के लिए इसका स्वरूप जानना भी आवश्यक है। आगे आकाशादि भूतों में रहने वाले जो शब्दतन्मात्रा आदि सूक्ष्म पदार्थ हैं वे ही अधिभूत कहे जाते हैं। इनका भी ज्ञान मनुष्यों को ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है और देवता जो इन्द्र वरुण प्रजापति आदि हैं इनको भोग्यरूप से मानने वाला जो उनसे विलक्षण भोक्ता पुरुष है, वह "अधिदैवत" कहा जाता है और अधियज्ञ अर्थात् सभी यज्ञों के द्वारा आराध्य मैं ही हूँ। इन्द्र आदि देवता मेरे ही शरीर रूप हैं। "अत्र देहे" पद से हमने देहरूप इन्द्र आदि का ही ग्रहण किया है।

श्रीमध्वाचार्य अपने आनन्द तीर्थ भाष्य में इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि यहाँ "परम" शब्द से शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद का वारण किया गया है। स्वभाव शब्द जीव का भाव बोधक है। भाव शब्द से नित्य पदार्थ लेते हैं। इससे अन्तःकरण की व्यावृत्ति कर दी गई और भूत अर्थात् प्राणी, भाव अर्थात् जड़ पदार्थ, इन्हें उत्पन्न करने वाली ईश्वर की क्रिया कर्म शब्द से कही जाती है। नष्ट और उत्पन्न पदार्थ अधिभूत हैं और पुरुष अर्थात् जीवों का अधिपति जो सब जीवों के ऊपर वर्तमान है वह ब्रह्म या संकर्षण व्यूह अधिदैव शब्द से कहा जाता है। सब यज्ञों का भोक्ता या अधिष्ठाता मैं ही हूँ। यज्ञों के अनुष्ठान में तो अग्नि को प्रधानरूप से देखा जाता है, वह न लिया जाय इसके लिये यहाँ "देहे" कहा गया। "अत्र" पद सामने दिखाई देने वाले देहों का बोध कराता है। इससे भगवान् अपने देह का निराकरण करते हैं, क्योंकि उनके देह में यज्ञ का भोग करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वे तो स्वयं ब्रह्म रूप हैं जिसका कि स्वरूप प्रथम प्रश्न के उत्तर में ही बतलाया जा चुका है। अपनी व्याख्या के समर्थन में गीता कल्पग्रन्थ के अनेक वचन उन्होंने उद्धृत किये हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या है कि सात्वततन्त्र में भगवान् के तीन रूप बतलाये गये हैं। प्रथम रूप प्रसिद्ध महत्तत्व को उत्पन्न करने वाला है, दूसरा समष्टि अर्थात्

सब जीवों का समुदाय रूप और तीसरा प्रत्येक शरीर में स्थित जीव रूप। यहाँ अक्षर पद से पहिला रूप ही लिया गया, क्योंकि उस रूप के साथ क्षरण अर्थात् विनाश का कोई सम्बन्ध नहीं। पहिला रूप लेना ही "परम" पद से सूचित किया। यद्यपि इस सम्प्रदाय में अक्षर पुरुष को पुरुषोत्तम का धाम माना जाता है, तथापि यहाँ उस धाम की और अपनी एकता को सूचित करने के लिए अक्षर ब्रह्म कह दिया गया है और स्वभाव अर्थात् जीव का ही अन्तरङ्ग भाव जो सोलह कलावाला मन कहलाता है, वही अध्यात्म शब्द से कहा गया है और पञ्चभूतों से उत्पादित जो भाव अर्थात् शरीर, उसका वासना द्वारा उत्पन्न करने वाला विसर्ग अर्थात् यज्ञ, वही कर्म शब्द से लिया जाता है। विनाशी सब शरीर अधिभूत कहे जाते हैं। प्रत्येक जीव से लेकर समष्टि विराट् पुरुष तक के सब शरीर अधिभूत के अन्तर्गत माने जाँय और सबमें व्यापक पुरुष अधिदैवत है। इन्द्रिय मन आदि के अधिष्ठाता देवता भी चकार पद से ले लिये जाने चाहिये। इस सम्प्रदाय में भगवान् पुरुषोत्तम के चित्स्वरूप से जो समष्टि जीव प्रकट हुआ माना जाता है जो कि शब्दादि विषयों का भोग करने वाला है, वही यहाँ पुरुष पद से हमने लिया और इस देह में अन्तर्यामी रूप से विराजमान मैं ही सब यज्ञों का अधिष्ठाता या भोक्ता होने से अधियज्ञ हूँ।

इसी वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि पर अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् जिसमें जाने जाते हैं वह परम शब्दार्थ अविनाशी रूप अक्षर ब्रह्म कहा जाता है। वही भगवान् अपनी लीला के लिए सरसता आदि स्वभाव वाले जो जीव की भाव अर्थात् अभिव्यक्ति करते हैं वही भाव अध्यात्म कहा जाता है। भूतों में अर्थात् भक्त मनुष्यों में जो भाव अर्थात् भगवान् का प्रेम विद्यमान है, उसको प्रकट करने वाला जो विसर्ग अर्थात् भगवत्सेवा में सम्पत्ति का व्यय, वही मुख्य कर्म समझना चाहिये। क्षरभाव अर्थात् भगवान् से वियोग हो जाने पर ताप की अधिकता से जिसका नाश हो जाता है, वह शरीर ही अधिभूत कहा जाता है। यह सन्ताप न केवल भक्तों में ही अपितु सभी जीवों में होता है। वे सभी जीव अधिभूत कहे जायेंगे और सब जीवों के हृदय में जो प्रेमरूप पुरुष विद्यमान है, वही अधिदैवत है तथा इस देह में मेरी सेवा आदि का उपायभूत जो यज्ञ किया जाता है, उसका अधिष्ठाता और भोक्ता मैं ही हूँ।

श्रीनीलकण्ठजी अपनी व्याख्या प्रायः श्रीशंकराचार्य के समान ही करते हैं। केवल प्रथम पद्य के पूर्वार्द्ध में एक पक्षान्तर उन्होंने भी लिखा कि "तत्त्वमसि" इस महावाक्य के अनुसार जीव उपाधि विनिर्मुक्त होकर अपना अविनाशी भाव प्राप्त कर ले, तब वही तत् पद वाच्य ब्रह्म रूप हो जाता है। वह अवस्था "अक्षरं ब्रह्म परमं"

से कही गई और जब तक अपनी उपाधि से बद्ध रहे तब तक वह "त्वं" पद वाच्य होता है। वही अवस्था अध्यात्म पद से कही गई है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने भी विभिन्न प्रमाण उद्धृत करते हुए शङ्कराचार्य के भाष्य का ही पूर्णरूप से समर्थन किया है। केवल इतना ही भेद उनकी व्याख्या में मिलता है कि वे विसर्ग पद से यज्ञ, दान, तप इन तीनों कर्मों का ग्रहण करते हुए तीनों को ही कर्म पद वाच्य कहते हैं।

तत्त्वदीपिका प्रायः श्रीरामानुजस्वामी के अनुसार ही व्याख्या करती है। केवल कर्म शब्द का अर्थ उसमें श्रीशङ्कराचार्य के अनुसार ही लिखा है।

लोकमान्यतिलक इन पद्यों की कुछ विलक्षणता से व्याख्या करते हैं। परम अक्षर ब्रह्म है। केवल अक्षर पद कहने से कदाचित् किसी को सांख्य शास्त्रोक्त प्रकृति का भ्रम होना संभव है, क्योंकि नाश प्रकृति का भी नहीं होता, उस भ्रम को मिटाने के लिए यहाँ "परम" विशेषण दिया गया है। परम अविनाशी अर्थात् सर्वथा विनाश के सम्बन्ध से शून्य वेदान्त निरूपित परब्रह्म ही है। प्रकृति में तो अवस्था परिवर्तन होता रहता है, इसलिए वह परम अक्षर नहीं कही जा सकती। प्रत्येक वस्तु का मूल भाव जो सूक्ष्मरूप से वस्तु में विद्यमान रहता वही अध्यात्म कहा जाता है और सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक वस्तुओं की परब्रह्म से उत्पत्ति करानेवाला ही कर्म शब्द से कहा गया है। प्रत्येक वस्तु में जो नाश होने वाली वस्तु रहती है अर्थात् नाम और रूप, वे अधिभूत कहे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ का एक अधिष्ठाता जो चेतन पुरुष माना गया है, जिसे वेदान्त सूत्र में "अभिमानी" शब्द से कहा गया है–वही अधिदैवत शब्द से लेना चाहिये। "अत्र देहे" इत्यादि वाक्य का वे अर्थ करते हैं कि इस नश्वर देह में अन्तर्यामी रूप से मैं ही स्थित हूँ। स्मरण रहे कि प्रश्न में भी इन्होंने अधिदेह का प्रश्न पृथक् निकाला था, उसी के अनुसार उत्तर में भी यही अभिव्यक्त करते हैं कि इस देह का अधिष्ठाता अधिदेह मैं ही हूँ। इसके अतिरिक्त अधियज्ञ की व्याख्या वे पृथक नहीं मानते, क्योंकि पूर्व तीसरे चौथे अध्याय में और आगे भी यज्ञ के भोक्ता आदि का निरूपण हो चुका है। इसके अतिरिक्त "अहमेव" इन पदों का सम्बन्ध वे सब उत्तरों से मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म, कर्म, अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव आदि सब कुछ मैं ही हूँ। इससे भेदभाव का यहाँ सर्वथा खण्डन किया गया।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी पन्द्रहवें अध्याय में जो क्षर, अक्षर और अव्यय नाम के तीन पुरुष बतलाये जायेंगे, उनके अनुसार ही यहाँ के पद्यों की भी व्याख्या करते हैं कि अव्यय पुरुष सबसे प्रधान है, उसके स्वरूप में विद्या और अविद्या दोनों का समावेश है। वे विद्या और अविद्या ही यहाँ ब्रह्म और कर्म शब्द से कही गई हैं। इनमें

विद्याभाग सदा एक रूप रहता है और अविद्याभाग या कर्मभाग प्रतिक्षण बदलता रहता है। अव्यय पुरुष की पाँच कलाएँ हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। उनमें आनन्द, विज्ञान और मन ये तीनों विद्यमान हैं, और मन, प्राण और वाक् ये तीनों अविद्याभाग या कर्मभाग हैं। कर्मभाग से ही सब भूतों की उत्पत्ति होती है, वही क्षर भाग ही सब जगत् का उपादान कारण बनता है। अक्षर तो केवल निमित्त कारण रहता है। पन्द्रहवें अध्याय में जो तीन पुरुष कहे जायेंगे, उनके अव्यय पुरुष परब्रह्म, अक्षर पुरुष परमब्रह्म और क्षर पुरुष अवरब्रह्म कहा जाता है। यह इन तीनों की स्वरूप बोधक परिभाषा है। उसी के अनुसार यहाँ भी अक्षर को परमब्रह्म कहा गया है और बृंहण स्वभाव अर्थात् सब जगत् में व्यापक होने के कारण उसे ही यहाँ ब्रह्म शब्द से कहा गया। वही ब्रह्म-कर्म-मय अव्यय पुरुष सब चेतन प्राणियों में अनुगत रहता है, यही अनुगत रहना उसका अपनाभाव है। वह अध्यात्म कहलाता है और सम्पूर्ण सृष्टि की कारणभूत जो क्रिया है वह कर्म शब्द से कही जाती है। सृष्टि के उत्पादक होने के कारण विसर्ग शब्द से वही कही गई है। उस अव्यय पुरुष का जितना अंश जड़ पदार्थों में रहता है, वह अधिभूत कहा जाता है। वह विनाशी है और देवताओं में जितना अव्यय पुरुष का अंश है, उसे अधिदैवत समझना और देवता और भूत दोनों के उत्पादक प्रजापति में जो अव्यय व्याप्त है वह अधियज्ञ कहा जाता है। वह अव्यय पुरुष का मुख्य रूप है, अर्थात् अव्यय पुरुष ही मुख्य प्रजापति है। इसलिए भगवान् कृष्ण ने अपने को ही अधियज्ञ कहा। भगवद्गीता में भगवान् का प्रयुक्त अहं शब्द अव्यय पुरुष के अभिप्राय से ही होता है अथवा दूसरी व्याख्या है कि प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण नाम से जो तीन शरीर वेदान्त आदि शास्त्रों में वर्णित हैं, उनमें स्थूल शरीर को भूतचिति नाम से वैज्ञानिक भाषा में कहा जाता है, क्योंकि वह पृथिवी आदि भूतों का चयन रूप ही है। सूक्ष्म शरीर को देवचिति नाम से कहा जाता है, क्योंकि द्योतन अर्थात् प्रकाश शील देवता-इन्द्रिय आदि का चयनरूप ही वह है और तीसरा सबका आभ्यन्तर कारण शरीर बीजचिति कहलाता है, क्योंकि देव और भूत सबके बीजभूत अविद्या का चयन रूप ही वह होता है। यहाँ भूतचितिरूप स्थूल शरीर को अधिभूत कहा गया। विनाश वाला होने के कारण उसके साथ क्षर विशेषण भी लगाया। देवचिति रूप सूक्ष्म शरीर को अधिदैवत कहा गया। भूतनिर्मित पुर में शयन करने के कारण उसे पुरुष शब्द से कहा गया है और बीजचिति रूप कारण शरीर को अध्यात्म कहा गया है। स्वभाव अर्थात् प्रकृति के द्वारा स्वरूप संगठन न होने के कारण वह स्वभाव शब्द से भी कहा गया है और सब शरीर में अर्थात् तीनों शरीरों को व्याप्त कर जो इनका परस्पर परिवर्तन रूप यज्ञ हो रहा है, उस यज्ञ का अधिष्ठाता पूर्वोक्त ब्रह्म-कर्ममय अव्ययात्मा ही अधियज्ञ शब्द से कहा गया है।

इस प्रकार प्राणियों के शरीर में ही चारों की स्थिति बतला दी गई और सबके कारणभूत ब्रह्म और कर्म जिन्हें रस और बल शब्द से भी कहा जाता है, वे मूलभूत से सन्निवेशित कर दिये गये। इस प्रकार इन दो पद्यों में जगत् निर्माण के तत्त्व संक्षिप्त शब्दों में कह दिये गये। (३-४)

●

दशम-पुष्प

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
य: प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशय: ।।५।।
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।।६।।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।।७।।
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ।।८।।

सप्तम प्रश्न का उत्तर दिया जाता है कि अन्तकाल अर्थात् मृत्यु के समय जो विष्णुरूप में मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर छोड़कर जाता है, वह मनुष्य मेरे भाव को अर्थात् विष्णु तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए कि स्मरण करने वालों को वैष्णवभाव की प्राप्ति होगी या नहीं, अपितु अवश्य ही होगी–ऐसा निश्चय रखना चाहिए।

श्रीरामानुजाचार्य के मत में मुक्ति हाने पर भी परमात्मा में जीव लीन नहीं होता, अपितु परमात्मा के सदृश ही माया के संसार के झंझटों से छूटकर शुद्ध भाव में अवस्थित हो जाता है। इस अपने सिद्धान्त के अनुसार ही वे यहाँ भी अर्थ करते हैं कि मेरे भाव अर्थात् स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। जैसे कि जड़भरत के उपाख्यान में श्रीभागवत में कहा गया है कि अन्त में उनका ध्यान मृग में लगा रहा इसलिए उन्हें मृग योनि में ही जन्म मिल गया। यहाँ यह तात्पर्य नहीं है कि वे उस मृग के ही रूप में चले गए, किन्तु उस मृग के सदृश अन्य मृग का शरीर उन्हें मिल गया–यही वहाँ स्पष्ट होता है। तदनुसार यहाँ भी समझना चाहिए कि परमात्मा का अन्तकाल में चिन्तन करने से वैसा ही रूप हो जाता है, न कि उसी में लय होता है।

यहाँ चकार से यह बतलाया कि अन्य काल में अर्थात् संसार दशा में भी जब निरन्तर मेरे स्मरण का अभ्यास करता रहेगा, तब ही मरणकाल में भी स्मरण कर सकेगा। अन्यथा उस समय स्मरण दुर्लभ है। इसलिए मनुष्य को ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अन्तकाल में स्मरण करने से ही सद्गति मिल जायेगी, तब फिर पहिले

से अभ्यास में समय क्यों बितावें ? क्योंकि बिना पूर्व के अभ्यास के उस समय नाना रोगों के आक्रमण द्वारा स्मरणशक्ति ही प्रायः जाती रहेगी, तब उस समय स्मरण कहाँ से हो सकेगा ? जैसा कि किसी भक्त कवि ने लिखा है कि–

"कृष्ण, त्वदीयपदपङ्कजपिञ्जरान्ते,
अद्यैव मे वसतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफ-वात-पित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।।"

अर्थात् हे भगवन् कृष्ण ! मेरा मनरूपी हंस आज ही आपके चरणारविन्दरूप पिंजरे में जाकर रहने लगे, ऐसा ही कृपा कीजिए। प्राण निकलते समय तो कफ, वायु, पित्त आदि से जब कण्ठ ही रूक जायेगा अर्थात् रोगों के आक्रमण से स्मृति-शक्ति ही जाती रहेगी तब आपका स्मरण होने की क्या आशा हो सकती है।"

जिनका पूर्व से ही भगवान् के चिन्तन का दृढ़ अभ्यास हो जाता है तो वह अभ्यास ही मरण-काल में भी स्मरण करा ही देता है। यही बात इस पद्य में चकार से सूचित की गई कि "और अन्तकाल में"–अर्थात् पूर्व काल से ही अभ्यास दृढ़ कर मरण-काल में भी मनुष्य शरीर छोड़ते समय जो स्मरण करते हैं, वे मनुष्य मेरे रूप को प्राप्त कर लेते हैं।

"माम् एव"–इस एवकार से यह सूचित किया गया है कि सप्तम अध्याय के अन्तिम पद्यों में जो अधिभूत, अधिदैव आदि के साथ अपना भजना बतलाया था, वैसा सम्मिलित स्मरण अन्तकाल में नहीं होना चाहिए, किन्तु इस समय केवल मेरे शुद्धरूप का ही स्मरण करना चाहिए।

श्रीनीलकण्ठजी ने यहाँ विशेष विवेचन किया है कि यह गति किसकी बतलाई गई है ? क्योंकि पूर्ण ब्रह्म-ज्ञान जिसे हो गया, उसके विषय में तो श्रुति में कहा है कि उसके प्राण निकलकर कहीं जाते ही नहीं। वह तो देह का नाश होते ही सर्वात्मभाव को प्राप्त कर लेता है जैसा कि श्रीशुकदेव के विषय में भागवत में बतलाया गया है और यहाँ देह को छोड़कर जाना वर्णित है–इससे यही मानना होगा कि ज्ञान की पूर्ण काष्ठा जो प्राप्त नहीं कर सके उनके ही विषय में यह कहा जा रहा है और केवल अर्थ-कामना आदि से उपासना करने वालों को इतनी उच्चगति मिल नहीं सकती, क्योंकि वे तो सगुण साकाररूपों में ही लगे रहते हैं–इसलिए साक्षाद् ब्रह्म-भाव उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। तब यह गति उनकी ही कही गई है कि जिन्होंने पूर्वोक्त द्वितीय प्रश्न के उत्तर के प्रकार से "त्वम्" पदार्थ जीव का शोधन तो कर लिंया, किन्तु जीव

और ब्रह्म की एकता का साक्षात्कार न कर पाए, वे भी क्रम-मुक्ति प्राप्त करेंगे। पूर्व ही छठे अध्याय में भगवान् ने कहा है कि कल्याण-मार्ग पर चलता हुआ कोई भी मनुष्य दुर्गति नहीं पा सकता। उसी न्याय के अनुसार ब्रह्म-ज्ञान के लिए प्रयास करते हुए भी जो पूर्ण सफलता न प्राप्त कर सके उनकी ही, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद् में देव-यान-मार्ग का वर्णन है और यहाँ भी थोड़े ही आगे शुक्ल, कृष्ण मार्ग बतलाए जायेंगे, उनमें से ही शुक्ल-मार्ग से गति होती है। उनको ही अन्तकाल का भावनारूप स्मरण भी आवश्यक है। यों शुक्ल-मार्ग से जाते हुए वे पुरुष ब्रह्मलोक तक चले जाते हैं और वहाँ कल्पान्त तक निवास करते हुए अन्त में ब्रह्म के साथ मुक्त होकर भगवान् के स्वरूप में मिल जाते हैं। क्रम-मुक्ति प्राप्त करने वाले भी भगवान् में लीन ही होते हैं। भगवान् के सदृश बनकर पृथक् रहते हैं—ऐसी कल्पना श्रुति और शास्त्रों से विरुद्ध है। इसीलिए यहाँ भी "मद् भाव" पद दिया गया है। भाव शब्द का सदृश अर्थ करना अप्रसिद्ध है। (५)

न केवल मेरे ही विषय में यह नियम है कि अन्तकाल में मेरा स्मरण करने वाला मेरे भाव में आ जावे, किन्तु यह एक सामान्य नियम है कि "हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! जिस जिस पदार्थ का स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्त समय में शरीर छोड़ता है, उसी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उस विषय के भाव की भावना उसमें दृढ़ रूप से स्थिर हो जाती है। इससे वह उसी भावना से भावित रहा करता है।" द्वितीयाध्याय के "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" इत्यादि पद्य की व्याख्या में श्रीभागवत और भगवद्गीता का अविरोध दिखलाते हुए हम इस विषय का विवरण कर चुके हैं कि मरण-समय में जो भावना होती है और उस भावना के कारण जिस पदार्थ का स्मरण उस समय हो जाता है, वह भावना तब तक स्थिर रहती है जब तक कि जीवात्मा के सूक्ष्म-शरीर को उस अपने किए हुए स्मरण के विषयी-भूत शरीर में पहुँचा न दे। स्मरण किए हुए उस स्थूल शरीर को प्राप्त करा कर वह भावना हट जाती है। प्रकृत पद्य में जो "सदा" पद दिया गया है, उसका यही आशय समझना चाहिए कि नये स्थूल शरीर की प्राप्ति तक उस भावना से सूक्ष्म शरीर भावित रहता है। कई व्याख्याकारों ने इस अन्तिम चरण को पूर्व-चरण के साथ जोड़कर यह भी अर्थ लगाया है कि पुरुष सदा ही जिसका स्मरण करता रहेगा, उसी के स्मरण की भावना दृढ़ हो जाने के कारण मरण-काल में भी उसी का स्मरण कर सकेगा। अन्यथा उस समय स्मरण करना दुर्लभ है, जिसका कि विवरण पूर्व-पद्य की व्याख्या में विस्तार से किया जा चुका है। इसी आशय से श्रीशङ्कराचार्य यहाँ भाव शब्द का अर्थ देवता-विशेष ही करते हैं। अर्थात् जिस-जिस देवता का स्मरण करता हुआ शरीर

छोड़ेगा उसी देवता के भाव को अर्थात् उसके समान लोक, समान रूप आदि को प्राप्त कर लेगा। अन्य व्याख्याकार "भाव" शब्द का अर्थ सामान्यरूप से पदार्थ ही करते हैं, जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है। यह दूसरे शरीर की प्राप्ति कैसे होती है, इसका विवरण आगे शुक्ल, कृष्ण मार्गों का निरूपण करते हुए इसी अध्याय में बतलाया जायेगा और हम भी वहीं इस विषय का विशेष रूप से विवरण करेंगे। (६)

इसी का विवरण आगे के पद्य में भी भगवान् करते हैं कि जब अन्तिमकाल की भावना के अनुसार ही आगे जन्म मिलना निश्चित सिद्धान्त है तब तुम्हें भी चाहिए कि सब समय मेरा स्मरण करते रहो और अपने धर्मानुकूल युद्ध भी करते रहो। इसी प्रकार जब भावना के कारण तुम्हारे मन और बुद्धि मुझमें लगा दिए जायेंगे, तब तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त कर लोगे।

यहाँ युद्ध करना प्रस्तुत प्रकरण में उपयोगी होने के कारण उपलक्षणरूप से कहा गया है। सब मनुष्यों को उपदेश करते हुए भगवान् का यही आशय है कि मनुष्य अपने-अपने शास्त्र-विहित धर्म का आचरण करता रहे और धर्म का आचरण करता हुआ भी सदा परमात्मा का स्मरण करता रहे, जिससे कि उसके मन और बुद्धि परमात्मा के स्वरूप से विचलित न हो सकें। यहाँ पुनः "असंशयं" यह पद देकर भगवान् ने इस विषय को अत्यन्त दृढ़ किया है कि सदा मेरा स्मरण करने वाला मुझको अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा परब्रह्म का तो कोई नाम और रूप है ही नहीं, फिर मन और बुद्धि का अर्पण वहाँ कैसे किया जायेगा और बिना नाम तथा रूप के सब समय में स्मरण भी कैसे बन सकेगा ? इसी समस्या को हल करने के लिए शास्त्रों में पाँच रूपों की कल्पना की गई है और उनके नाम भी विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश माने गए हैं। इन पाँचों देवताओं के जो कल्पित रूप हैं, वे भी वैज्ञानिक हैं, अर्थात् जगत् की सृष्टि में भगवान् जिन-जिन पदार्थों का उपयोग करते हैं वे सब ही उनके भुजा, आयुध आदि के रूप में भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना में सम्मिलित किए गए हैं, जिनका कि विवरण तन्त्र-शास्त्रों और पुराणों में विस्तृत रूप से किया गया है। परमात्मा का चाहे पिता समझ कर पुरुष रूप में स्मरण किया जावे या माता समझ कर स्त्री के रूप में स्मरण किया जावे इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं पड़ता। स्पष्टरूप से तन्त्रों में कहा गया है कि "स्त्रीपुंभेदो न जायते" अर्थात् स्त्री रूप से परमात्मा की उपासना की जावे या पुरुष रूप से इसमें किसी प्रकार भेद नहीं है। सभी रूप कल्पित हैं और सभी की कल्पना में वैज्ञानिक रहस्य सम्मिलित हैं। उन ही आकारों में मन, बुद्धि लगाने का भगवान् श्रीकृष्ण का यह उपदेश है। इसलिए भगवद्गीता में साम्प्रदायिक विरोध का कोई अवसर नहीं मानना चाहिए। इसी विषय का आगे के पद्यों में स्पष्ट निरूपण होगा। (७)

मृत्युकाल में किस प्रकार का आपका ध्यान करना चाहिये, इस अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् अन्तकाल में स्मरणीयरूप का विवरण भी साथ ही करते हैं कि हे पृथापुत्र अर्जुन ! एक ही परमात्मा के विषय में जो ज्ञान का प्रवाहरूप अभ्यास है वह योग भी कहा जाता है। उस योग से चित्त को युक्त किया जाय, अर्थात् उसी अभ्यास में मन लगाया जाय और इस प्रकार मन लगाया जाय कि वह अन्य किसी विषय में जा ही न सके। इस प्रकार एकाग्र मन से आदित्य मण्डल स्थित पुरुष का ध्यान करता हुआ मनुष्य उसी पुरुष को प्राप्त कर लेता है।

श्रीनीलकण्ठजी इस पद्य में भिन्न-भिन्न उपासनाओं के क्रम का वर्णन करते हैं कि उपासक दो प्रकार के होते हैं, एक साधना करनेवाले और दूसरे जिनकी उपासना सिद्ध हो चुकी है वे सिद्ध। साधना करने वालों को पहिले मन से ही मूर्त्ति की कल्पना कर, उस मूर्ति में चित्त को स्थिर करने का अभ्यास करना आवश्यक होता है। इनको दोहरा प्रयत्न करना पड़ता है–एक मन से मूर्त्ति कल्पना करने का और दूसरा उस मूर्त्ति में चित्त को स्थित करने का। किन्तु जो सिद्ध हो चुके हैं उन्हें केवल चित्त स्थिर करने का ही यत्न करना पड़ता है। मानस मूर्त्ति में चित्त स्थिरता की सिद्ध हो जाने पर भी आगे क्रम से एक देश शरीर, विराट्, सूत्रात्मा, ईश्वर और परम पुरुष, इनमें चित्तवृत्ति लगानी होती है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे एक शुद्ध श्वेत स्फटिक मणि है, वह उसका शुद्ध रूप हुआ, इसमें जब किसी रक्त पुष्प की छाया पड़ जाय तो वह रक्तरूप दिखाई देने लगेगी। यह स्फटिक में रक्त रङ्ग का भान प्रथम अध्यास हुआ। बार-बार उसी पर दृष्टि रखने से वह स्फटिक रक्तमणि रूप में ही भासित होने लग जाता है। स्फटिक की बुद्धि चली जाती है, यह अध्यास की दृढ़ता से उसका तीसरा रूप हुआ। अब उसे ही चाँदनी में रख दिया जाय तो वह कुछ नील सा दीखने लगेगा, यह अध्यास के द्वारा उसका चौथा रूप बना। उसे ही दूर से देखने वाले मनुष्य को वह नीलकमल सा दीख पड़ेगा। यह अध्यास के द्वारा उसका पांचवाँ रूप हुआ। इस प्रकार एक ही स्फटिक अध्यासों की परम्परा से पांच रूपों में चला जाता है। इसी प्रकार सर्वदोष विनिर्मुक्त शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परब्रह्म का मुख्य रूप है। वही माया के साथ जब रहता है तो माया के धर्मों का प्रतिबिम्ब होकर ईश्वर रूप से उपासनीय हो जाता है और उस ईश्वर रूप में माया की प्रबलता हो जाने पर सबका नियन्त्रणरूप ईश्वर भाव जब छिप सा जाता है तब वही सूत्रात्मा हो जाता है और माया रूप अविद्या से जब दृढ़ हो जाय तो वह विराट् अर्थात् स्थूल आकाशादि प्रपञ्च के रूप में भासित होने लगता है और समष्टि पर से भी बुद्धि हटाकर जब हम देह पर बुद्धि जमा लेते हैं तो केवल एक देहरूप में ही उसका भान होने लगता है। इस प्रकार स्फटिक के समान शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा के भी अध्यास से पाँच रूप बन जाते हैं।

अब आगे प्रकाशन क्रम देखिये। जिस प्रकार एक दीपक किसी घटादि से ढंका हुआ हो तो वह तो उसका प्रकाश केवल उस घट को ही दिखावेगा। घट में यदि एक छिद्र कर दिया जाय तो बाहर के भी कुछ पदार्थों को जहाँ-जहाँ प्रकाश पड़ेगा, उन्हें वह दिखा सकेगा और घड़े में से उसे एकदम बाहर निकाल दिया जाय तो जिस भवन में वह रक्खा होगा उस भवन के सब पदार्थों को प्रकाशित कर सकेगा। इसी प्रकार देह मात्र में रूका हुआ चैतन्य केवल देह मात्र का ही प्रकाश करता है, वही चक्षु के छिद्र से जब बाहर निकल जाता है, तब अपने समीपस्थ कुछ पदार्थों को भी दिखाने लगता है। जब सर्वथा देह का अभिमान भुलाकर केवल चैतन्य रूप में उसे स्वतन्त्र बना दिया जाय तो वह सब जगत् के पदार्थों को प्रकाशित करने लगेगा। इसी प्रकार उपासना का भी क्रम देखिये। जब देह मात्र में मानस ध्यानरूप उपासना में सफल होकर समष्टिरूप विराट् की उपासना में मन लगाया जाय, तो यद्यपि यह उपासना भी ब्रह्म से सम्मिलित ही होगी, किन्तु एक देह में की हुई उपासना से यह श्रेष्ठ कही जायेगी। इसी प्रकार विराट् से आगे बढ़कर सूत्रात्मा की जब उपासना करने लगेंगे तो वह विराट् की उपासना से भी उच्च श्रेणी की होगी। इसी प्रकार उससे भी उच्च श्रेणी की ईश्वरोपासना और सर्वोच्चश्रेणी की ब्रह्मोपासना या ब्रह्मज्ञान होगा। वहाँ विराट्, सूत्रात्मा आदि में मन लगाना यहाँ अभ्यास पद से कहा गया है। इसी प्रकार योगदर्शन में भी क्रम माना गया है। इसलिये वह अभ्यास ही योग कहा जा सकता है। जब क्रम से सर्वोच्चश्रेणी में पहुँच कर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उसको अपने अभेद रूप से "अहमेव वासुदेवः" इस रूप से समझ लेता है, तब वह परमपुरुष को अवश्य प्राप्त कर लेता है-यही पद्य का आशय हुआ है। (८)

●

ग्यारहवाँ-पुष्प

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।९।।
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणामावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।१०।।
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ।।११।।
सर्व द्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याध्यायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ।।१२।।
ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।१३।।

किस प्रकार के पुरुष का ध्यान करना चाहिये या किस प्रकार के पुरुष को प्राप्त कर सकेगा, इसका विवरण यहाँ से आरम्भ करते हैं कि कवि अर्थात् भूत भविष्य को जानने वाला पुरातन, अनुशासन करने वाला, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर तथा सबके आधार या सबको बनाने वाला, अचिन्त्यरूप और अन्धकार से परे सूर्य के समान प्रकाशमान् का जो स्मरण करता है, वह उसे ही प्राप्त करता है—यह अग्रिम पद्य से सम्बन्ध है।

यहाँ "अनुशासितारं" पद से प्रतीत होता है कि यह ईश्वर स्वरूप का वर्णन है, क्योंकि सबका शासन करना ईश्वर का ही काम है। अथवा अन्य विशेषणों से यदि परम पुरुष परमात्मा का ही वर्णन माना जाय तो अनुशासितारं पद का अर्थ होगा— सभी वस्तुओं के भीतर प्रवेश कर सबका शासन करने वाला, अर्थात् जड़चेतनात्मक सब वस्तुओं को अपनी-अपनी मर्यादा में रखने वाला। जैसा कि श्रुतियों में वर्णन किया गया है कि –

"एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः"

(वृहदारण्यक ५।८।९)

अर्थात् इसी अक्षर पुरुष के शासन में सूर्य और चन्द्रमा पकड़े हुए रखे हैं। यह

अन्तर्यामीरूप का ही शासन है। 'अणु से भी अणु' इससे यही तात्पर्य निकलता है कि सूक्ष्म से भी सूक्ष्म। जो जिसका उपादान कारण होता है वह उस वस्तु के भीतर अनुप्रविष्ट रहता है। जैसे वस्त्र के भीतर तन्तु या घट के भीतर मृत्तिका। यह मूल तत्त्वरूप परमात्मा आकाश आदि का भी उपादान कारण है, इसलिये उनमें भी अनुप्रविष्ट है। अनुप्रविष्ट तभी हो सकेगा जब कि उससे भी सूक्ष्म होगा। इससे सिद्ध हुआ कि अणु अर्थात् परम सूक्ष्म आकाश आदि से भी यह अति सूक्ष्म है।

वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य तो जीव को अणुरूप ही मानते हैं, इसलिए उनके मतानुसार यह भी अर्थ हो सकता है कि अति सूक्ष्मभूत जीव से भी यह अति अणु है। सबका मूल कारण होने से ही यह सबसे पुराण अर्थात् प्राचीन है। उत्तरार्द्ध में जो "धातारं" पद आया है, उसके तीन अर्थ व्याख्याकारों ने किये हैं। सबका धारण करने वाला है, अव्यय पुरुष ही सबका आधार है यह एक अर्थ हुआ। अथवा वि उपसर्ग का लोप मानकर विधातारं समझा जाय, तो अर्थ होगा कि सब जगत् को उत्पन्न करने वाला और तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि सबको अपने-अपने कर्म फल का विभाग कर देने वाला। "अचिन्त्यरूप" के भी कई अर्थ हो सकते हैं जिसका रूप वाणी और मन में भी नहीं आ सकता। इसका तात्पर्य होगा कि रूप अर्थात् आकार है ही नहीं, तब वाणी और मन में कैसे आवे। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि यदि कोई रूप माना भी जाय तो वह जीवों के मन और वाणी से परे ही रहता है, अर्थात् किसी के मन और वाणी में नहीं आ सकता। अथवा यदि सम्पूर्ण संसार उसी का रूप है यह माना जाय तो भी अनन्तता के कारण वह भी इन्द्रिय मन आदि के द्वारा जाना नहीं जा सकता। यह भी कहा जा सकता है कि जो संसार के भिन्न-भिन्न रूप हमारे मन और बुद्धि में आते हैं, उनसे मूल कारण का रूप या आकार भिन्न ही प्रकार का है। इसीलिए श्रुति उसे "यह भी नहीं" "यह भी नहीं" ऐसा कहकर ही बतलाया करती है। अथवा यह भी तात्पर्य लगाया जा सकता है कि वे भगवान् जो लीला के लिए विचित्र रूप धारण करते हैं, वही उनकी महिमा है। वे महिमा के बनाये रूप भी किसी एक मर्यादा में बद्ध नहीं रहते। इस कारण वे भी प्राणियों के विचार में नहीं आ सकते। जैसा कि आगे विश्व रूप प्रदर्शन में भगवान् ने अपना विलक्षण रूप अर्जुन को दिखलाया है और उसे न समझकर अर्जुन भी घबरा गया और "को भवान्" "को भवान्" ऐसा पूछने लगा।

यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि भगवान् यह भी उपदेश दे रहे हैं कि ऐसे रूप का स्मरण करो और उसे अचिन्त्य भी बता रहे हैं, जब अचिन्त्य ही है ता उसका स्मरण कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर भी कई प्रकार से दिया जा सकता है कि

भगवान् का मुख्य रूप तो मन आदि में नहीं आ सकता किन्तु महिमारूप जो अवतार आदि हैं, उनका स्मरण किया जाय। अथवा जो पाँच रूप उपासकों के लिए नियत किये गये हैं उनका ही स्मरण किया जाय। अथवा पूर्णरूप से भगवान् ध्यान में नहीं आ सकते तो प्रतीक अर्थात् भाग रूप में उनका स्मरण किया जाय। बिना स्मरण किये तो जीव को सफलता नहीं मिल सकती और स्मरण उनका हो नहीं सकता। इसीलिए उपासकों की सिद्धि के लिए ये भिन्न-भिन्न मार्ग निकाले गये हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी आदि यह भी तात्पर्य निकालते हैं कि पूर्व जन्मों के शुभकर्मों के परिपाक से भगवान् ही जिसकी मुक्ति चाहते हैं उसे अनुस्मरण का प्रकार भी बतला देते हैं। जैसा कि श्रुति ने कहा है कि "यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:" परमात्मा जिसका वरण करता है अर्थात् जिस पर प्रसन्न होता है वही उसे पा सकता है। पाने का मार्ग भी उसे ही मिल सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी लिखा है –

सोइ जाने जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।।

आगे कहते हैं कि वह परम पुरुष परमात्मा आदित्य वर्ण है, अर्थात् सूर्य के समान स्वयं प्रकाशमान है। वह किसी अन्य से प्रकाशित नहीं होता, अपितु स्वयं ही अपने प्रकाश से सबको प्रकाशित करता रहता है और तम अर्थात् प्रकृति के तमोगुण से अथवा संसार में व्याप्त अज्ञानरूप अन्धकार से दूर रहता है। यह अज्ञान उसका स्पर्श भी नहीं कर सकता। ऐसे पुरुष का अन्तकाल में स्मरण करना चाहिये। (९)

अन्तकाल के अनुध्यान का प्रकार आगे बताया जाता है कि प्रयाणकाल अर्थात् अपने अन्तिम समय में मन को निश्चल रूप से स्थिर कर पूर्व पद्योक्त रूप का ध्यान करता हुआ और भगवान् के प्रेम तथा योग बल अर्थात् पूर्वावस्था में साधन की हुई योग प्रक्रिया के द्वार उत्पादित संस्कार से संपन्न होता हुआ, पहिले अपने प्राण को हृदय कमल में रोककर गुरु द्वारा बताई गई प्रक्रिया से चक्रों के भेद क्रम से उसे दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थित आज्ञा चक्र में ले जाकर स्थिर करता हुआ पुरुष अपनी इस प्रक्रिया के द्वारा प्रकाशमान परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है, यह दोनों पद्यों का मिलाकर स्पष्ट आशय हुआ। (१०)

गम्भीर अर्थ को बार-बार प्रकट करने में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता, इस आशय से पुनः स्मरण योग्य पुरुष का ही वर्णन भगवान् प्रस्तुत करते हैं कि जिसे वेद के जानने वाले विद्वान् अक्षर पुरुष कहा करते हैं और अपने हृदय को राग द्वेषों से रहितकर चित्त का संयम करने वाले जिस पुरुष में प्रवेश पा लेते हैं और जिसमें प्रवेश पाने की इच्छा से ही पूर्वावस्था में ब्रह्मचर्य नियम धारण कर द्विजाति लोग वेद का अध्ययन किया करते हैं, वही मुख्य प्राप्त करने योग्य स्थान मैं तुम्हें संक्षेप से और बतलाऊँगा।

इस पद्य के उत्तर भाग का बहुत अंश कठश्रुति से मिलता है। वहाँ ऐसा पाठ है कि –

"यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"

(कठो० २।१५)

इसमें से यहाँ ब्रवीमि के स्थान में "प्रवक्ष्ये" और ओमित्येतत् को आगे के दूसरे पद्य में ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म करके मिला दिया गया। इस परिवर्तन का कारण हम पूर्व कह चुके हैं कि भगवद्गीता को स्मृति रूप ही रखना है, जिससे कि केवल द्विज जातियों के ही अध्ययन करने का बन्धन इसमें न रहे। अपितु सभी मनुष्य इससे लाभ उठा सकें। श्रुति का पाठ जैसा का तैसा रख देने से उसमें अधिकार का बन्धन हो जाता है। श्रुति के अध्ययन करने का अधिकार केवल उपनीत द्विजातियों को ही है और कुछ वर्ण अक्षरों का भी परिवर्तन कर देने पर उसमें श्रुतित्व नहीं रहता, वह सबके पढ़ने के योग्य बन जाती है। इसी आशय से कई जगह श्रुतियों को परिवर्तित करके ही भगवद्गीता में लिया गया है। वैसा ही यहाँ भी किया गया। (११)

पूर्वोक्त प्रक्रिया को ही पुनः स्पष्ट करते हुए आगे कहा जाता है कि इन्द्रियों के सब छिद्रों को रोककर अर्थात् किसी भी इन्द्रिय को विषयों में न जाने देकर और मन को हृदय कमल के भीतर रोककर तथा प्राण को मस्तक में स्थित ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर "ओम्" इस ब्रह्म के प्रतिपादक एक अक्षर का ध्यान करता हुआ और उस अक्षर के द्वार कहे जाने वाले मुझ परमात्मा का स्मरण करता हुआ जो मनुष्य शरीर छोड़कर जाता है वह परम जाति अर्थात् मुक्ति को अवश्य ही प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकरण में क्रम मुक्ति प्राप्त करने का ही प्रकार बतलाया गया है, यह पूर्व पद्यों की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है। जो पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो चुके उनके तो प्राण शरीर से निकलकर कहीं जाते ही नहीं, प्रत्युत शरीर का बन्धन छोड़ कर सबमें लीन हो जाते हैं ऐसा ही श्रुतियों में कहा गया है। इसलिए जो साधक पूर्णरूप से ब्रह्मज्ञान प्राप्त न कर सके वे ही अन्तकाल की यहाँ कही हुई घटनाओं से क्रम मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् आगे कहे जाने वाले शुक्लमार्ग में जाकर सूर्यमण्डल से ऊपर के लोकों से चले जाते हैं और कल्प के अन्त में मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। उनका ही वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में किया गया है। ॐकार को जो यहाँ ब्रह्म रूप कहा गया, वह शब्द और अर्थ को अभिन्न मानकर ही समझना चाहिये। "ओम्" यह शब्द ब्रह्म का वाचक है–यह बात योगदर्शन में और उपनिषदों में भी स्पष्ट निरूपित है। (१२-१३)

●

बारहवाँ-पुष्प

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।१४।।
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।।१५।।
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।१६।।

मैं सबके लिए अति दुर्लभ हूँ, ऐसी मन में शङ्का नहीं करनी चाहिये, इस आशय से अपनी सुलभता का वर्णन भगवान् करते हैं कि हे पार्थ ! अन्य विषयों से अपने चित्त को हटाकर जो सदा जीवन पर्यन्त मेरा स्मरण करते रहते हैं, ऐसे एकाग्रचित्त वाले योगियों के लिए मैं सुलभ हूँ, अर्थात् वे मुझे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। किसी प्रकार का मेरी प्राप्ति में कष्ट उन्हें नहीं होता।

योग दर्शन में कहा गया है कि –

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेविता दृढ़ भूमिः" (यो०सू० १।१४)

अर्थात् चित्त की स्थिरता के लिए जो अभ्यास किया जाय, वह दीर्घकाल तक अर्थात् यावज्जन्म करना चाहिये। ऐसा न हो कि वर्ष दो वर्ष करके छोड़ दिया जाय और निरन्तर अभ्यास होना चाहिये, बीच में विच्छेद न हो एवं आदर पूर्वक अभ्यास होना चाहिये, उपेक्षा पूर्वक नहीं। ऐसे अभ्यास से ही योग की वह भूमिका दृढ़ हो जाती है। इसी बात को प्रकृत पद्य में भी बतलाया गया है। यहाँ "अनन्यचेताः" पद से सत्कार कहा गया। जहाँ अपना आदर हो वहीं और विषयों को छोड़कर चित्त लगा करता है एवं "सततं पद से अविच्छेद अर्थात् बीच में न रूकना बतलाया गया और "नित्यशः" पद से जीवन पर्यन्त उस अभ्यास की स्थिरता बतलाई गई। इस प्रकार दृढ़ता से एकाग्रचित्त होकर जो योगी मेरा स्मरण करते रहते हैं, उनके लिए मैं दुर्लभ नहीं हूँ, अपितु अनायास ही प्राप्त हो सकता हूँ।

लोकमान्यतिलक भगवद्गीता में सर्वत्र योगी पद का अर्थ "कर्मयोगी" ही मानते हैं। तदनुसार यहाँ भी उन्होंने योगी पद का कर्मयोगी ही अर्थ किया है।

भक्तिमार्ग के टीकाकारों के अनुसार तो "योगिनः" का अर्थ भक्ति निरत ही है।

ीविद्यावाचस्पतिजी गीता में प्रयुक्त अहं शब्द का अव्यय पुरुष ही अर्थ करते हैं। नके अनुसार अव्यय पुरुष को प्राप्त कर लेना ही परम सिद्धि है। अव्यय पुरुष द्यपि साक्षात् स्मृति का विषय नहीं बन सकता, तथापि कल्पित पाँच रूपों में से केसी का भी अनन्य भाव से स्मरण करना ही यहाँ अभीष्ट है। (१४)

सुगमता से आपको प्राप्त कर लेने पर आगे क्या होगा सो आगे के पद्य में कहा जाता है कि मुझको जिन्होंने प्राप्त कर लिया, वे ही महात्मा परम सिद्धि अर्थात् साक्षात् मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं और सब दुःखों के स्थान व सदा वेनाशशील जन्म फिर प्राप्त नहीं करते, अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा पाकर नेरन्तर मेरे स्वरूप में लीन रहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि पूर्व के पद्यों में गति, अगति बताने के कारण क्रम मुक्ति का ही प्रसङ्ग मानना पड़ेगा, किन्तु इन पद्यों में साक्षात् भगवत् प्राप्ति रूप विदेह कैवल्य का ही प्रतिपादन है। जिन पुरुषों का चित्त दृढ़ भूमिका को प्राप्त कर चुका है, उनको कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, वे देह छोड़ते ही व्यापक परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। (१५)

मुझको प्राप्त करके ही जन्म मरण से छुटकारा मिल सकता है, इस बात को और दृढ़ करते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक पहुँचते हुए मनुष्य भी पुनरावर्तनशील अर्थात् पुनर्जन्म के अधिकारी रहते हैं। केवल मुझको ही प्राप्त करके पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् जन्म-मरण से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

कई व्याख्याकार ऐसा भी अर्थ करते हैं कि ब्रह्मलोक पर्यन्त स्थान पुनरावर्ती है, अर्थात् उनका उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, इसलिए वहाँ तक पहुँचने वाले प्राणियों का पुनः पतन निश्चित है। जब वह लोक ही न रहेगा तो वहाँ के प्राणी अन्ततः नीचे ही गिरेंगे, किन्तु जो मुझे प्राप्त कर लेते हैं वे अविनाशी हो जाते हैं, क्योंकि मेरा तो उत्पत्ति विनाश है नहीं, इसलिए मुझे प्राप्त करने वाले मनुष्य भी पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाते हैं। ब्रह्मलोक पद से यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक अर्थात् सत्य लोक ही समझना चाहिये, क्योंकि परब्रह्म को प्राप्त करने पर तो पुनर्जन्म का अभाव ही उत्तरार्द्ध में बतलाया गया है। इसलिए पूर्वार्द्ध में ब्रह्म का लोक नहीं लिया जा सकता। यह भी कारण है कि ब्रह्म का लोक तो कोई हो नहीं सकता, वह तो व्यापक है, सर्वत्र ही अवस्थित है।

भगवान् कृष्ण जिनके अवतार हैं उन विष्णु लोक में वैकुण्ठ को भी श्रीवल्लभाचार्य आदि ने व्यापक ही कहा है। इसलिए भी ब्रह्मलोक पद से "सत्यलोक" ही लेना प्राप्त

होगा। हम लोग सन्ध्योपासन के समय जिन सात व्याहृतियों का स्मरण करते हैं, वे ही सात लोक क्रम से अवस्थित हैं। भूःपद से हमारी यह पृथिवी ली जाती है, भुवःपद से पृथिवी और सूर्य के मध्य का अन्तरिक्ष, स्वःपद से सूर्यमण्डल, महःपद से सूर्य के ऊपर का अन्तरिक्ष, जनःपद से सूर्यमण्डल से परवर्त्ती परमेष्ठीमण्डल, तपःपद से उसके ऊपर का अन्तरिक्ष और सत्यम पद से सबसे ऊपर का स्वयम्भूमण्डल लिया जाता है। वही चतुर्मुख ब्रह्मा का लोक है। चतुर्मुख ब्रह्मा वहीं निवास करते हैं।

इस पद्य में जो अर्जुन और कौन्तेय, दो सम्बोधन आये हैं, उनका आशय प्रायः व्याख्याकारों ने यह माना है कि इन सम्बोधनों से भगवान् अर्जुन को यह कहते हैं कि तुम स्वभाव से भी शुद्ध हो, अर्जुन नाम स्वच्छ श्वेत का ही है और मातृकुल से भी तुम पूर्ण शुद्ध हो क्योंकि तुम्हारी माता मेरी बुआ कुन्ती ही है। इसलिए दोनों प्रकार से शुद्ध तुम इस ज्ञान के द्वारा मुझे प्राप्त कर लेने के पूर्ण अधिकारी हो। अथवा यह भी आशय लगाया जा सकता है कि इस समय जैसे तुम कुन्ती के गर्भ से उत्पन्न हो, ऐसा गर्भवास मुझे प्राप्त कर लेने पर नहीं करना होगा। तब तुम पूर्णरूप से अर्जुन अर्थात् स्वच्छ ही रहोगे।

यहाँ यह बड़ी शङ्का उपस्थित होती है कि छान्दोग्य उपनिषद् में जहाँ पितृयाण और देवयान नाम से जीव की दो प्रकार की गति बतलाई गई है, वहाँ देवयान मार्ग के अन्त में लिखा है कि –

''पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति।''

(५ खण्ड ९)

अर्थात् देवयान मार्ग से जानेवाले जीव जब सत्यलोक प्राप्त कर लेते हैं तब उन्हें अमानव पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है। इस मार्ग से जाने वालों की पुनरावृत्ति वहाँ नहीं बतलाई गई। उसी के आधार पर यहाँ भी जो कहा जाने वाला है कि शुक्ल और कृष्ण नाम के दो मार्ग हैं, उनमें कृष्ण मार्ग से जानेवाले फिर लौटते हैं और शुक्ल मार्ग से जानेवाले नहीं लौटते। इसी प्रकार अन्यत्र पुराणों में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है कि जो ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेते हैं वे ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। यथा–

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ।

यह पुराण स्मृति श्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र कार्याधिकरण में उद्धृत की है, फिर इन सब प्रमाणों के विरुद्ध यहाँ ब्रह्मलोक तक से पुनः लौटना कैसे बतलाया गया। इसका समाधान कई व्याख्याकारों ने करने की चेष्ट की है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती और महाभारत के व्याख्याकार श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह व्यवस्था लिखते हैं कि जो आगे बतलाये जानेवाले अर्चि आदि मार्ग से ब्रह्मलोक तक पहुँच जाते हैं उन्हें तो वहाँ से भी लौटना पड़ता ही है, यही बात इस पद्य में बतलाई गई है और जो सगुण उपासना आदि में लगे रहकर ब्रह्मलोक तक जाते हैं वे नहीं लौटते। उनमें पूर्वोक्त पुराण वाक्य चरितार्थ होता है कि वे ब्रह्मलोक में ही ज्ञान की परिपक्वता प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

किन्तु यह व्यवस्था पूरी नहीं उतरती, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् में देवयान मार्ग वा अर्चि आदि मार्ग के अन्त में ही पूर्वोक्त वाक्य लिखा है और यहाँ भी शुक्ल गति से जाने वालों का ही फिर न लौटना बतलाया गया है एवं ब्रह्म सूत्रों के अन्तिम सूत्र "अनावृत्तिः शब्दात्" के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने अर्चि आदि मार्ग से जानेवालों का ही न लौटना माना है। इसलिए ऐसा मानना श्रीशङ्कराचार्य के भी विरुद्ध होगा।

माध्वसम्प्रदाय के अनुयायी व्याख्याकार श्रीराघवेन्द्रजी इसका यों समाधान करते हैं कि इस भूमि में ही जो स्वर्ग आदि लोकों की कल्पना पुराणों में पाई जाती है, जैसा कि सुमेरु पर्वत की उपत्यकाओं में ही ब्रह्मलोक आदि कई पुराणों में बतलाये गये हैं उसी ब्रह्मलोक से पुनरावृत्ति यहाँ मानी गयी है और सब लोकों के उपरिभाग में जो सत्यलोक नाम का ब्रह्मलोक स्थित है, वहाँ तक पहुँचने वाले तो फिर नहीं लौटते। उनके ही सम्बन्ध में पूर्वोक्त न लौटने के वाक्य चरितार्थ होते हैं, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् में जो देवयान मार्ग बतलाया गया है उसमें तो सूर्य आदि के अतिक्रमण का स्पष्ट विवरण मिलता है, इसलिए भूमण्डल स्थित सुमेरु के प्रान्त भाग में ब्रह्मलोक आदि की स्थिति चाहे पुराणों में प्राप्त होती हो किन्तु मृत्यु के अनन्तर उन लोकों में प्राप्त होने का कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं। इसलिए यह समाधान भी उपयुक्त नहीं जँचता।

परमार्थप्रपा नाम की भगवद्गीता की व्याख्या में यह समाधान किया गया है कि यद्यपि त्रिलोकी के ऊपर भाग में अर्थात् सूर्यमण्डल के ऊपर जो महः जनः आदि लोक हैं उनमें पहुँचने वाले जीवों का पुनरावर्तन नहीं होता—ऐसा पुराणों में प्राप्त होता है। तथापि क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जागरण आदि व्यवहार तो उन लोकों में भी रहते हैं, इसलिए सभी व्यवहारों का अभाव रूप परम मुक्ति तो भगवान् को प्राप्त करके ही मिल सकती है। यहाँ पुनरावृत्ति शब्द का यही तात्पर्य है कि ब्रह्मलोक तक पहुँचने वाले भी जीव साधारण व्यवहारों का अतिक्रमण नहीं कर सकते। वह अतिक्रमण मुझे प्राप्त करके ही हो सकता है। इसी से मिलता जुलता वैज्ञानिक समाधान भी कई विद्वान् इस प्रकार किया करते हैं कि भूमि का साममण्डल रथन्तर माना जाता है, अर्थात् सूर्य के रथ का, उनके कुछ ऊपर भाग में स्थित अंश तक पृथिवी का आकर्षण रहता है

जैसा कि निरुक्त में माना गया है कि देवताओं का रथ उनका स्वरूप ही है, कुछ तरण करने तक पृथिवी व्याप्ति रहती है। उस मर्यादा को पार कर जो जीव महः जनः आदि लोकों में या सत्यलोक तक पहुँच गये उनका पृथिवी पर लौटना तो फिर नहीं बन सकता, क्योंकि पृथिवी के आकर्षण से वे विमुक्त हो चुके हैं, किन्तु उन्हीं लोकों में उनका परिभ्रमण होता रहता है और उन लोकों में स्थित अन्य देवताओं के समान असुरों से भय आदि भी उन्हें प्राप्त होते रहते हैं। इससे सर्वथा भय से मुक्त उन्हें नहीं कहा जा सकता। यही पुनरावृत्ति शब्द का अर्थ है कि उन लोकों में ही इधर उधर उनका भ्रमण होता रहता है। "इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" इस श्रुति का भी स्पष्टार्थ यही है कि इस मनुष्य लोक में वे जन्म नहीं लेते, किन्तु सर्वथा जीव के भय आदि व्यवहारों से विमुक्त भी वे नहीं कहे जा सकते। जीव व्यवहारों से विमुक्ति तो मुझको अर्थात् अव्यय पुरुष को प्राप्त करके ही हो सकती है, यही प्रकृत पद्य का तात्पर्य है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने "देवता निवित्" नाम के ग्रन्थ में भूतात्मा की आठ प्रकार की गतियों का विवरण किया है। यहाँ प्रसङ्गागत उनका भी विवरण संक्षेप से लिख दिया जाता है। वे पहिले मुक्ति के दो भेद करते हैं–परामुक्ति और अपरामुक्ति। परामुक्ति के विषय में श्रुतियों में लिखा है कि "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" अर्थात् मुक्ति प्राप्त करने वाले के प्राण निकलकर कहीं जाते नहीं, किन्तु यहीं लीन हो जाते हैं। इस परामुक्ति का ही दूसरा नाम कैवल्य है। इसके भी दो भेद होते हैं–क्षीणोदर्क और भूमोदर्क। शरीर, मन बुद्धि आदि को आत्मा से पृथक् कर आत्मा को केवल रूप में बचा लेना "क्षीणोदर्क' है और आत्मा की व्याप्ति बढ़ाकर सबका आत्मा में समावेश कर लेना "भूमोदर्क" है जैसा कि श्रीशुकदेव का सर्वात्मभाव श्रीभागवत में वर्णित है। क्षीणोदर्क वाला पुरुष जब सबको आत्मा की व्याप्ति से निकाल कर विशुद्ध रह जाता है तो उसमें और ब्रह्म में कोई भेद नहीं रहता, वह व्यापक ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। उसे कहीं जाना आना नहीं पड़ता। इसी प्रकार जिसने सब ब्रह्माण्ड को आत्मा ही मान लिया वह भी यहीं सबमें लीन हो जाता है, उसे भी जाना आना नहीं पड़ता, इन दोनों में केवल प्रक्रिया का भेद है। एक में आत्मा की व्याप्ति में से सबको निकालकर आत्मा को अणु से भी अणु बनाया जाता है, जैसा कि "अप्राणो ह्यमनाश्रयः" इत्यादि श्रुतियों में वर्णित है और दूसरी प्रक्रिया में आत्मा की व्याप्ति बढ़ाकर उसे सर्वरूप बनाया जाता है जैसा कि श्रुति में वर्णित है कि "यस्यत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्"। इसके अतिरिक्त जो लोग सगुण ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूपों की उपासना करते हुए सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य प्राप्त करते हैं अपने इष्टदेव के लोक में चला जाना सालोक्य है, उनके समीप में पहुँच

जाना सामीप्य है। इष्ट देवता के समान ही अपना रूप हो जाना सारूप्य है और अन्त में इष्ट देवता के रूप में ही मिल जाना सायुज्य कहलाता है। इनमें अन्तिम सायुज्य ही मुक्ति कहा जा सकता है। यह अपरामुक्ति हुई, जो कि सगुणोपासकों को ही प्राप्त होती है। कहा गया है कि परामुक्ति में कहीं जाना नहीं पड़ता, किन्तु अपरामुक्ति में अपने आराध्य देवता के लोक में जाना पड़ता है। इनके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में जो देवयान, पितृयाण नाम के दो मार्ग बतलाये हैं, व इसी अध्याय में जो शुक्ल कृष्ण नाम की दो गति बतलाई गई है, उनमें भी प्रत्येक के दो दो भेद होते हैं। पितृयाण मार्ग की एक शाखा ही यममार्ग है। अच्छे कर्म करने वाले चन्द्रलोक की ओर जाते हैं तो बुरे कर्म करने वाले 'यमलोक' अर्थात् सूर्य से दूर विपरीत मार्ग में शनिमण्डल की ओर चले जाते हैं और वहीं नानाविध नरकों की यातना पाया करते हैं। इसी प्रकार देवयान मार्ग के भी आगे चलकर दो भेद हो जाते हैं। एक सूर्यमण्डल के समीप विचरते रहना और दूसरा सूर्यमण्डल को भेदकर आगे के महःजनः आदि लोकों में या सत्यलोक तक चला जाना। इनमें से दूसरे ही प्रकार का वर्णन हम प्रकृत पद्य में कर चुके हैं कि सूर्यमण्डल से ऊपर जाने वाले भी क्रममुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार पितृयान के दो भेद, देवयान के भी दो भेद और तीन प्रकार की मुक्ति, सब मिलकर सात प्रकार गति के हो चुके। आठवाँ प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में ही कहा गया है कि पृथिवी से बाहर के लोकों में कहीं न जाकर पृथिवी के आकर्षण में ही घूमते हुए जो जीव कृमि, कीट, पतङ्ग आदि के रूप में बार-बार जन्म लेते और बार-बार मरते हैं जिनको "जायस्व म्रियस्व" नाम से तृतीयस्थान रूप में वहाँ वर्णित किया गया है यह आठवीं गति हुई। इसकी वहाँ उपनिषद् में बहुत निन्दा की गई है कि इस चक्र से निकलना ही बहुत कठिन है। श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने जो व्यावहारिक आत्माओं के अठारह भेद बतलाये हैं उन सबका भी पृथक्-पृथक् गति का निरूपण इसी "देवतानिवित्" ग्रन्थ में किया है। जैसा कि "ब्रह्मपरिस्थिति" में जो परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर नाम के चार मुख्य आत्मा माने गये हैं, वे तो व्यापक हैं। जहाँ भी जीव की गति होगी, वहाँ वे प्राप्त हो जायेंगे। उनका कहीं आना जाना नहीं होता। व्यापक पदार्थ में जाने आने का कोई संभव नहीं। आगे "देव परिस्थिति" में जो पाँच प्रकार के आत्मा वहाँ निरूपित हुए हैं, वे शरीर नाश के अनन्तर अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं। जैसा कि शान्तात्मा और महानात्मा महतत्त्व में, आकृतिमहान् और प्रकृतिमहान् तथा अहंकृतिमहान् ये तीन जो भेद बतलाये गये हैं, उनमें आकृतिमहान् चौरासी लाख प्रकार के शरीरों का उत्पादक है। जिस योनि में जीव की गति होगी, वहीं वह उसके अनुकूल शरीर बना देगा एवं प्रकृतिमहान् भी उस योनि के अनुसार ही स्वभाव पैदा कर देगा, अहङ्कृतिमहान् परमेष्ठी मण्डल में चला जाता है। विज्ञानात्मा,

जिसे चाक्षुषपुरुष नाम से भी कहा जाता है, वह सूर्य मण्डल में चला जाता है। प्रज्ञानात्मा चन्द्र मण्डल में और प्राणात्मा जो इन्द्रिय रूप से काम करता था, वह शरीर नाश होने पर कर्पूर की तरह इधर-उधर लीन हो जाता है। यों इन नौ आत्माओं का कहीं गमनागमन नहीं होता।

अब आगे भूतात्माओं के जो नौ भेद बतलाये हैं, उनमें शरीर तो पाँच भूतों में ही मिल जाता है और वैश्वानर, तैजस ये दोनों जिस शरीर में जीवात्मा जायेगा, वहीं शरीर की वृद्धि आदि करने में लगेंगे। कर्मात्मा अपने कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि प्राप्त करेगा। चिदाभास और चिदात्मा तो जहाँ ये जन्म लेंगे वहीं अपना काम करने लगेंगे और विभूति, अर्क और श्री भी तत्तत् योनि के अनुसार वहीं प्राप्त हो जायेंगे।

इस प्रकार सभी व्यावहारिक आत्माओं का वहाँ निरूपण किया गया है। (१६)

●

तेरहवाँ-पुष्प

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ।।१७।।
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।।१८।।
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।१९।।

ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों का उत्पत्ति-विनाश पूर्व पद्य में सूचित किया। वह उत्पत्ति विनाश कितने काल में होता है, इसे बतलाने के लिए आगे के पद्य कहे जाते हैं। प्रथम पद्य का अर्थ है कि सहस्त्रयुग तक का काल ब्रह्मा का एक दिन जाना जाता है और इसके अनन्तर हजार युग की ही ब्रह्मा की रात्रि होती है ऐसा दिन रात की व्यवस्था जानने वाले पौराणिक लोग कहते हैं।

यहाँ युग शब्द से एक चतुर्युगी समझनी चाहिये। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये चारों युग मिलाकर एक चतुर्युगी होती है। वही चतुर्युगी यहाँ युग शब्द से विवक्षित है। ऐसे हजार युग अर्थात् हजार चतुर्युगी व्यतीत होने पर ब्रह्मा का एक दिन पूरा होता है। दिन और रात्रि की यही व्यवस्था मानी जाती है कि जो जितने काल तक सूर्य को देखता है, वह उसके लिए दिन और जितने काल तक सूर्य न दिखाई दे वह रात्रि कहलाती है, ऐसा मनुष्यों का व्यवहार प्रसिद्ध है। हमसे ऊपर के प्राणी जो पितृलोक निवासी कहे जाते हैं वे चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में अर्थात् जो चन्द्रमा का भाग हमें दिखाई नहीं देता उस भाग में रहते हैं, जैसा कि ज्यौतिष के आचार्य श्रीभास्कराचार्य ने लिखा है कि "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" अर्थात् चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में पितर लोग निवास करते हैं। उन पितरों को पन्द्रह दिन तक सूर्य का दर्शन बराबर होता रहता है और पन्द्रह दिन नहीं होता। ऐसा सूर्य और चन्द्रमा की गति के तारतम्य से होता है। जिस दिन अमावस्या होती है उस दिन चन्द्रमा और सूर्य एक स्थान पर रहते हैं, अर्थात् चन्द्रमा के ठीक मस्तक पर उस दिन सूर्य रहा करता है, इसलिए वह चन्द्रमण्डलस्थित पुरुषों के लिए मध्याह्न है। चन्द्रमा के इधर के भाग पर बिल्कुल सूर्य का प्रकाश न पड़ने के कारण हम मनुष्य लोकवासी उस दिन चन्द्रमा को नहीं देख पाते। आगे चन्द्रमा तेजी से निकल २जाता है, वह सवा दो दिन में ही एक राशि

का भोग समाप्त कर देता है और सूर्य को एक राशि भोग में एक मास लगता है, इस प्रकार आगे निकले हुए चन्द्रमा के इधर कुछ अंश पर तिरछेरूप में सूर्य का प्रकाश पड़ जाता है, इसलिए इधर का कुछ भाग हम लोगों को दिखाई देने लगता है जो कि क्रमशः बढ़ता जाता है। जितना भाग हमें दिखाई देता है उतना ही दूसरे भाग के लोगों के लिए अदृश्य होता जाता है। इस प्रकार शुक्लपक्ष की अष्टमी को पितर लोगों के लिए सायङ्काल हो जाता है, आगे पूर्णिमा को जिस दिन हमारी ओर का चन्द्रमा का भाग पूर्ण प्रकाशित रहता है उस दिन पितरों के लिए अर्ध रात्रि है। कृष्णपक्ष की अष्टमी को उन्हें सूर्य दिखाई देने लगता है, इसलिये वह उनका दिनोदय है। इस सूर्य के दीखने और न दीखने के कारण उनका दिन-रात एक मास का होता है। इसी प्रकार देवता लोग जो सुमेरु स्थान पर निवास करते हैं वे जब तक सूर्य उत्तर गोल में रहे तब तक अर्थात् मेष राशि से कन्या राशि पर्यन्त सूर्य की स्थिति में छह मास सूर्य को देखते हैं और तुला से मीन पर्यन्त जब तक सूर्य दक्षिण गोल में रहे तब तक सूर्य उन्हें नहीं दिखाई देता, क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपने से नब्बे अंश के आकाश भाग को ही देख सकता है, इसी कारण हमारा एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र समझा जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मा को जितने काल तक सूर्य का दर्शन हो उतने काल तक उनका दिन और जितने काल तक सूर्य का दर्शन न हो वह उनकी रात्रि कही जायेगी। किन्तु ब्रह्मा सब लोकों के ऊपर सत्यलोक में स्थित माने जाते हैं, सत्य लोक के नीचे में ही अन्य सब लोक आ जाते हैं, इसलिए सूर्य कभी भी रहे वह ब्रह्मा को अदृश्य नहीं हो सकता, ब्रह्मा तो उसी दिन सूर्य को न देखेंगे जिस दिन सूर्य न रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि एक सूर्य की आयु ब्रह्मा का एक दिन होता है। फिर इतने ही काल तक सूर्य नहीं रहता अतः वह उनकी रात्रि है। पुनः जब दूसरे सूर्य का संगठन हो जायेगा तब ब्रह्मा के लिए दूसरे दिन का उदय होगा।

इस प्रकार ब्रह्मा के दिन और रात का चक्कर चलता रहता है। ब्रह्मा का एक दिन ही पौराणिक भाषा में एक कल्प कहलाता है। वह ब्रह्मा के दिन का समय एक हजार चतुर्युगी होता है। उसी का निरूपण इस पद्य में किया गया। हमारे वर्षों से गणना की जाय तो तैंतालीस लाख बीस हजार वर्षों में एक चतुर्युगी होती है। इसको हजार गुना कर देने पर ब्रह्मा के दिन का परिमाण निकलेगा, जो कि हम मनुष्यों की गणना से चार अरब बत्तीस कोटि वर्ष होंगे। यही एक सूर्य की आयु है और फिर इतने ही काल तक सूर्य का अभाव रहता है। इस ब्रह्मा के दिन में चौदह मनुओं का राज्य होता है। प्रत्येक मनु के राज्य का समय कुछ अधिक इकहत्तर चतुर्युगी सिद्ध होगी, छह मन्वन्तर बीतने पर आज सातवें वैवस्वतमनु का राज्य कहा जाता

है। इस विचार से प्राय: दो अरब वर्ष से कुछ न्यून समय इस ब्रह्मा के दिन का व्यतीत हुआ, यही सिद्ध होता है। (१७)

ब्रह्मा के दिन और रात में क्या-क्या कार्य होते हैं, इसका विवरण आगे दो पद्यों में किया जाता है कि ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में अव्यक्त अर्थात् अपने कारण में जो अप्रकटरूप कार्य लीन थे उस अवस्था से व्यक्ति अर्थात् इस जगत् के पदार्थ प्रकट हो जाते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में उसी अव्यक्त अर्थात् अप्रकट सूक्ष्म कारणावस्था में लीन हो जाते हैं। हे पार्थ ! इस प्रकार सब जड़ चेतनात्मक तत्त्वों का समूह बार-बार पैदा होकर बार-बार लीन होता रहता है। ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में अपने-अपने कारण में लीन हो जाता है और फिर ब्रह्मा के दिन का आरम्भ होने पर प्रकट हो जाता है। यह प्रकट होना और लीन होना अवश्यंभावी है, इसे रोकने का वश किसी का नहीं है।

पुराणों में चार प्रकार के प्रलय बतलाये गये हैं। एक हमारे दिन रात का प्रलय, जैसा कि हम सो जाते हैं तो हमारी इन्द्रिय, मन आदि लीन हो जाते हैं और जागते ही फिर वे अपने अपने काम में लग जाते हैं। यह सब प्राणियों का नित्य का प्रलय और प्रबोध है, जो कि नैत्यिक प्रलय नाम से कहा जाता है। दूसरा सब जगत् को पैदा करने वाले ब्रह्मा की रात्रि में जो प्रलय होता है, वह ब्रह्मा के प्रतिदिन होने के कारण दैनन्दिन प्रलय कहलाता है, जैसा कि हम पूर्व पद्य में विवरण कर चुके हैं कि एक सूर्य का लीन होना ही ब्रह्मा की रात्रि है। उस समय सूर्य के लीन हो जाने पर सूर्य के वश में रहने वाली हमारी त्रिलोकी नष्ट हो जाती है, किन्तु सूर्य के ऊपर के महः, जनः, तपः और सत्यलोक बने रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के दिन और रात का चक्र चलते रहने पर ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु जब पूरी हो जाती है, तब सबके उत्पादक ब्रह्मा का लय हो जाने पर सातों लोक और उन सबके प्राणी आदि सब जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च प्रकृति में लीन हो जाते हैं। इसे पुराणों में "प्राकृतप्रलय" कहा गया है। इनके अतिरिक्त चौथा "आत्यन्तिकप्रलय" जो कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान हो जाने पर होता है। वहीं से फिर नहीं लौटना पड़ता। इसीलिए उसका नाम "आत्यन्तिकप्रलय" रक्खा गया है। इसकी कोई अवधि नियत नहीं है। जिस समय जीव को ज्ञान हो जाय तभी उसकी अविद्या का लय हो जाता है। इन चारों में से यहाँ "दैनन्दिन प्रलय" का ही वर्णन किया गया है, जो कि ब्रह्मा के सो जाने पर अर्थात् एक सूर्य के लीन हो जाने पर त्रिलोकी का प्रलय होता है। ब्रह्मा की आयु दो परार्द्ध मानी गई है, जिनमें कि आजकल संकल्प में द्वितीय परार्द्ध पढ़ा जाता है।

पूर्वपद्य की व्याख्या में हम ब्रह्मा के दिन की गणना मनुष्यों के वर्षों के विचार

से चार अरब, बत्तीस करोड़ लिख आये हैं। इतनी ही रात्रि का योग करने पर आठ अरब, चौंसठ करोड़ मनुष्यों के वर्ष ब्रह्मा का एक अहोरात्र हुआ। इनको तीन सौ साठ के गुणित करने पर ब्रह्मा का एक वर्ष होगा और उसे सौगुना करने पर ब्रह्मा की आयु के वर्ष निर्णीत होंगे। उनको पुनः तीन सौ साठ के गुनाकर दिन बनाने पर दिन और रात का पृथक्-पृथक् योग कर लेने पर हमारे भारतीयों के गणित शास्त्र के अनुसार दो परार्द्ध के आस पास संख्या पहुँच जाती है। जो कुछ भेद रहे वह प्राचीन और आधुनिक गणित प्रक्रिया के भेद के कारण ही मानना चाहिये। श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण के अवतार के समय देव की स्तुति में स्पष्ट वर्णन है कि –

नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ।
व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः ।।

(१ भाग १०।३।२४)

इसका अर्थ है कि हे भगवान् जब दो परार्ध संख्या का समय पूर्ण हो जाता है और सब लोक नष्ट हो जाते हैं एवं सब महाभूत सबके आदिभूत परमात्मा में लीन हो जाते हैं और यह व्यक्त संसार काल वेग से अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाता है तब एक आप ही शेष रहते हैं, इसी कारण आपका नाम शेष है। अथवा उस समय सब नाम भी आप में ही लीन हो जाते हैं।

इस पुराणोक्त काल प्रक्रिया पर विचार करने से सिद्ध होता है कि इन पद्यों में जिन व्याख्याकारों ने अव्यक्त शब्द का प्रकृति अर्थ किया है, उन्होंने पुराण प्रक्रिया पर ध्यान नहीं दिया, यही कहना होगा, क्योंकि प्रकृति में लय तो ब्रह्मा के सौ वर्ष पूरे हो जाने पर पुराणों में कहा गया है। प्रतिदिन ब्रह्मा की रात्रि में ऐसा नहीं हुआ करता। इसलिए यहाँ अव्यक्त का अर्थ अपनी-अपनी कारणावस्था ही करना चाहिये। अथवा ब्रह्मा की सुषुप्ति अवस्था ही यहाँ अव्यक्त शब्द का अर्थ उचित होगा।

द्वितीय अध्याय के "नासतो विद्यते भावः" इत्यादि पद्य में जो कह आये हैं कि नई वस्तु कोई उत्पन्न नहीं होती और जो वस्तुएँ हैं उनका कभी नाश नहीं होता वही बात यहाँ "स एवायं" पदों से पुनः स्मरण कराई गई है कि सब जगत् की अव्यक्त और व्यक्त नाम की दो अवस्थाएँ हैं। कभी सब कार्य अपने कारण में लीन होकर अप्रकट अवस्था में रहते हैं और कभी वे ही कार्य रूप में प्रकट हो जाते हैं। नई वस्तु कोई नहीं बनती, न किसी सद् वस्तु का अभाव ही होता है। सब जगत् कभी अप्रकट अवस्था में रहता है और कभी प्रकट अवस्था में आ जाता है। यही अवस्था परिवर्तन अव्यक्त और व्यक्त शब्दों का अर्थ है। "अवश" पद से यही सूचित किया कि ये

अवस्थाएँ किसी प्राणी की इच्छानुसार नहीं बनतीं, अपितु प्रकृति के नियमानुसार विवश रूप से इन अवस्थाओं में जाना पड़ता है। प्रकृतिनियमसिद्ध आकर्षण-विकर्षण आदि बलात् इन अवस्थाओं में ले जाते हैं।

इस प्रकार इन पद्यों में संसार की स्थिति और लय का निरूपण किया गया। किन्तु इस पर यह शङ्का होगी कि कभी संसार का व्यक्त अवस्था में रहना, कभी अव्यक्त अवस्था में रहना यह तो सांख्य की प्रक्रिया ही सिद्ध हुई, फिर आपने सप्तम अध्याय के चौबीसवें पद्य में सांख्य प्रक्रिया मानने वालों को अबुद्धि शब्द से क्यों स्मरण किया था ? इसका उत्तर देने के लिए यहाँ भी अपना अधिष्ठाता रूप प्रकट करने के लिए आगे का पद्य कहा जाता है। (१८-१९)

●

चौदहवाँ-पुष्प

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।२०।।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।।२१।।
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ।।२२।।

श्लोकार्थ है कि यह जो कार्य कारण प्रपञ्च बतलाया गया और कारणावस्था को अव्यक्त कहा गया, उस कारणरूप अव्यक्त से भी परे एक दूसरा भाव है वह भी इन्द्रियों से नहीं जाना जाता, इसलिये उसे भी अव्यक्त शब्द से कहते हैं, वह सदा रहने वाला है। सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी वह नष्ट नहीं होता।

जो कार्य कारण प्रपञ्च पूर्व बतलाया गया उसमें जहाँ कार्य अप्रकट रूप में रहे, वह कारण कहा जाता है और जब वह प्रकटरूप में हो जाय तो उसे कार्य कहते हैं। इन दोनों में कारण को सत्य और कार्य को मिथ्या माना जाता है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" अर्थात् घट, शराव आदि जितने मृत्तिका के प्रपञ्च हैं, उनमें शब्दमात्र का ही भेद है, सत्य वस्तु एक मिट्टी ही है। यहाँ मृत्तिका को अपने कार्यों की अपेक्षा सत्य कहा गया, किन्तु उसके भी कारण पर दृष्टिपात करने से वह भी केवल वाणी का आरम्भ ही समझी जायेगी। तब उसका भी कारण ही सत्य रहेगा। इस प्रकार कार्य कारण प्रपञ्च की परम्परा चलते-चलते जहाँ जाकर समाप्त हो जायेगी अर्थात् जहाँ से आगे कार्यकारण परम्परा न चले, वह अन्तिम सबका कारण ही सत्य ठहरेगा। वह अवश्य ही एक और सदा रहने वाला है। बीच-बीच के अवान्तर प्रपञ्च नष्ट होते रहते हैं, किन्तु वह मूल कारण सदा ही रहने वाला है। उसका नाश कभी नहीं हो सकता और वह भी अव्यक्त है अर्थात् किसी इन्द्रिय से नहीं जाना जा सकता। केवल अपने आप ही उसकी सत्ता समझी जा सकती है। इन्द्रियाँ तो अवस्थाओं को जानती हैं। अवस्था रहित मूल तत्त्व को नहीं पहचान सकतीं। जैसा कि एक सुवर्ण के बहुत से आभूषण-कटक, कुण्डल, केयूर आदि बनाये जा सकते हैं। सुवर्ण उन सबमें अनुगत है अर्थात् सबमें प्रविष्ट हो रहा है, इसलिये सुवर्ण सबका कारण और वे कटक, कुण्डल आदि कार्य कहे जाते हैं। किन्तु वह

सुवर्ण क्या है यह जानना कठिन है। क्योंकि सुवर्ण को हम जहाँ देखेंगे, वहाँ किसी अवस्था में ही पायेंगे। कहीं कड़े के रूप में, कहीं कुण्डल के रूप में और जब तक कड़ा कुण्डल आदि न बने, तब तक एक पिण्ड रूप में एवं सुनार यदि उसे गला दे तब उसे द्रव के रूप में, इस तरह किसी न किसी अवस्था में ही वह पाया जायेगा। सब अवस्थाओं का कारणभूत सुवर्ण जिसे कहा जाता है वह क्या वस्तु है, यह इन्द्रियाँ नहीं बतला सकतीं। आप यह कह सकते हैं कि सुवर्ण कोई है अवश्य जो कि इन सबमें अनुस्यूत है। इस प्रकार वह स्वसंवेद्य हो सकता है, किन्तु इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता है। यही प्रकार मृत्तिका में भी समझना चाहिये कि घट, शकोरा, भित्ति चूर्ण आदि अनेक रूपों में हम मृत्तिका को देखते हैं किन्तु वह मृत्तिका क्या है जो कि सबमें व्याप्त दिखाई देती है, यह इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। जब नित्य काम में आने वाले सुवर्ण, मृत्तिका आदि की ही यह स्थिति है कि उनका असली स्वरूप जानना हमारे लिये कठिन है, तब सबके कारणभूत परमतत्त्व के जानने की तो आशा ही क्या की जा सकती है। ऐसा सदा अविकृत रहने वाला मूलतत्त्व सत्, चित्, आनन्द इन तीन रूपों से सब जगत् में व्याप्त है और ये तीनों रूप भी पृथक्-पृथक् नहीं किन्तु एक ही हैं। इन सबका विस्तृत निरूपण द्वितीय अध्याय के सोलहवें पद्य "नासतो विद्यते भावः" में तथा इसके आगे दूसरे पद्य में भी कर चुके हैं। उसकी पुनरुक्ति यहाँ नहीं की जाती। अब प्रश्न यह होता है कि वहाँ तो सत्ता, चेतना और आनन्द तीनों को ही प्रत्यक्ष बतलाया है, फिर यहाँ उस परम तत्त्व को अव्यक्त क्यों कहा गया ? न्याय शास्त्र में वस्तु के साथ उसकी सत्ता को प्रत्यक्ष माना जाता है एवं ज्ञान को भी न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष ही कहा जाता है, मन से उसका प्रत्यक्ष होता है और आनन्द को भी वह सुख शब्द से कहते हैं और उसका भी मन से प्रत्यक्ष मानते हैं तो ये तीनों मूलतत्त्व तो व्यक्त ही हुए फिर प्रकृत पद्य में अव्यक्त शब्द से क्यों कहा गया ?

इसका उत्तर है कि प्रत्येक पदार्थ के साथ जो सत्ता जानी जाती है, उसे ही न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष कहा गया है। इस प्रकार जो विषय संवलित ज्ञान होता है उसे ही वहाँ प्रत्यक्ष कहा गया है और अनुकूल पदार्थ की प्राप्ति होने पर जो मन का एक विकास होता है वही वहाँ सुख शब्द का वाच्य तथा प्रत्यक्ष कहा गया है। ये तीनों ही सत्ता, ज्ञान और आनन्द न जगत् के मूल कारण हो सकते हैं और विषयों के साथ मिले होने के कारण नित्य भी नहीं हो सकते। इनका तो विनाश भी प्रत्यक्ष ही देखा जाता है, किन्तु व्यापक दृष्टि से देखने पर जो सत्ता, ज्ञान और आनन्द प्रतीत होते हैं वे ही नित्य हैं और उन्हें ही अविनाशी तथा अव्यक्त कहा जाता है। किसी भी पदार्थ

में व्याप्त रहती है, जिसका कि विवरण विस्तार से हम पूर्वोक्त पद्य में कर चुके हैं, वही सत्ता जगत् का मूल और अविनाशी तत्त्व है एवं जगत् का मूलभूत जो आनन्द है वह भी मन का विकास रूप नहीं, अपितु सब जगत् में व्याप्त रहने वाला शान्तिरूप आनन्द ही है। ये तीनों ही प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं हो सकते। विषयों के साथ मिलकर ही सत्ता और ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। विषयों को छोड़कर उनका स्वरूप बुद्धि में नहीं आ सकता, वह अव्यक्त ही रहता है। इसी तत्त्व को स्पष्ट करने के लिए गुरुवर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने "संशयतदुच्छेदवाद" ग्रन्थ में इन तीनों तत्त्वों को कृष्ण और शुक्ल नाम से दो प्रकार का बतलाया है। शुक्ल तीनों तत्त्वों का ही प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है। कृष्ण अर्थात् छिपे हुए तीनों कभी व्यक्त नहीं हो सकते। इसीलिए श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध तृतीय अध्याय में उसे अव्यक्त शब्द से ही कहा है–

रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं, ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं, स त्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मदीपः। (२४)

अर्थात् जो रूप सबका आदि, अव्यक्त, ब्रह्मज्योति, निर्गुण, निर्विकार, निर्विशेष तथा निरीह है वही तुम आत्मप्रकाश रूप साक्षात् विष्णु हो। यहाँ पर तत्त्व को निर्विशेष सत्ता रूप कहा गया। इसका यही तात्पर्य है कि विशेषरूप विषयों को छोड़कर सत्ता का स्वरूप अव्यक्त ही रहता है। (२०)

आगे के पद्य की व्याख्याकार भिन्न-भिन्न प्रकार की व्याख्याएँ करते हैं। श्रीशङ्कराचार्य का तो सीधा ही अक्षरार्थ है। पूर्व पद्य में जिसे परभाव कहा गया है, वही अव्यक्त भाव अर्थात् गूढ़ सत्तारूप अक्षर शब्द से कहा जाता है, कभी क्षरण अर्थात् विनाश न होने के कारण अक्षर शब्द अनुगतार्थ है। वही सबसे उत्कृष्ट परप्राप्य स्थान है। जिसे प्राप्त कर लेने पर वहाँ से लौटना नहीं पड़ता। वही मेरा अर्थात् विष्णु का परमधाम समझना चाहिये। श्रुतियों में विष्णुपद शब्द से वही कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि पूर्व पद्य में जो परभाव कहा गया है वही आगे भगवद्गीता के "ये त्वक्षरम्" "कूटस्थोऽक्षर उच्यते" इत्यादि पद्यों में अक्षर शब्द से निर्दिष्ट है, उसे वेदवेत्ता लोग परमगति कहते हैं। भगवद्गीता में भी इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में परमगति शब्द से उसे ही प्राप्य स्थान बतलाया है। प्रकृति जीव और परमात्मा नाम के तीनों तत्त्वों में वही प्रकृति और जीव से पृथक् रहने वाला है। उसे प्राप्त करके कोई नहीं लौटता, वह मेरा परमधाम है, अर्थात् सबको नियन्त्रण में रखने का सर्वोच्च स्थान है। इसका तात्पर्य इस प्रकार लगाया जाता है

कि अचेतनरूपा प्रकृति प्रथम नियमन स्थान है, और चेतनरूप जीव द्वितीय नियमन स्थान है तथा उन दोनों से पृथक् अपने स्वरूप में ही सदा रहने वाला परमोच्च नियमन स्थान है। अथवा धाम शब्द का अर्थ प्रकाश अर्थात् ज्ञान किया जाय तो अर्थ होगा कि प्रकृति तो सर्वथा जड़ है, जीव उसकी अपेक्षा प्रकाशशील है और सबसे उच्च श्रेणी का प्रकाशशील मेरा स्वरूप है।

श्रीवल्लभाचार्य के मतानुसार व्यापकरूप वैकुण्ठ का नाम ही अक्षर है और वह पुरुषोत्तम भगवान् का धामरूप कहा गया है। उनकी व्याख्या है कि अक्षर को ही अव्यक्त शब्द से समझना चाहिये, प्रकृति या जीव अव्यक्त शब्द के वाच्य नहीं हो सकते, क्योंकि उनको प्राप्त करके पुनरावृत्ति होती है, किन्तु अक्षर परमागति है, इसीलिये ज्ञानमार्ग से चलने वालों का वही सबसे उच्च प्राप्ति स्थान है। ज्ञानमार्गी की दृष्टि से उसे परमगति कहा गया। पुरुषोत्तम भगवान् तो केवल भक्तिलभ्य हैं यह अग्रिम पद्य में कहा जायेगा।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि अव्यक्त पद से दृष्टि के विषय होने का अभाव दिखलाया गया और अक्षरपद का व्यापक रूप अर्थ मानकर उससे देश, काल और वस्तु परिच्छेद का अभाव बतलाया गया। उसी दृश्य और तीनों परिच्छेदों से शून्यभाव को परमगति कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मलोकपर्यन्त की गति पुनरावृत्ति होने के कारण परमगति नहीं है, किन्तु यह कार्य और कारण सबसे परे होने के कारण परमगति कही जाती है। जहाँ से फिर नहीं लौटना पड़ता, वही मेरा धाम अर्थात् मेरा परम ज्ञानरूप प्रकाश है, इससे परमप्रकाश को सब उपाधि से पृथक् बतलाया गया। इस पद्य से निर्विशेष, निष्कल ब्रह्म की प्राप्ति को ही मुक्ति बतलाया गया।

निम्बार्क सम्प्रदाय की अनुयायिनी "तत्त्व प्रकाशिका" में लिखा है कि अक्षर शब्द से भगवद्गीता के भिन्न स्थानों में जिसका वर्णन किया गया है, वही जीव की परमगति है। इसका तात्पर्य है कि जीव सदा प्रकृति गुणों से बद्ध रहा करता है। प्रकृति के गुणों को छोड़कर अपने स्वरूप में आ जाना ही उसकी परमगति कही जाती है। यद्यपि गति प्राप्त करने योग्य स्थान का अर्थ है अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेना, गति शब्द से नहीं कहा जाना चाहिये, तथापि प्रकृति के गुणों से पृथक् हो जाने के कारण यहाँ उसे गति शब्द से ही कहा गया। वही प्रकृति से पृथक् हुआ जीवात्मा मेरा मुख्य निवास स्थान है। यद्यपि कई श्रुतियों में प्रकृति से मिले हुए जीवात्मा को भी मेरा निवास स्थान बतलाया है, किन्तु वह गौण स्थान है, केवल संसारियों पर अनुग्रह करने के लिए उसे भी "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः" इत्यादि श्रुतियों में मेरा निवास स्थान बतला दिया गया है, तथापि मुख्य निवास स्थान (परमधाम) प्रकृति से पृथक हुए मुख्य आत्मा को ही समझना चाहिए।

श्रीमधुसूदनसरस्वती की व्याख्या है कि जो भाव यहाँ अव्यक्त और अक्षरपद से कहा गया है, वही परमागति अर्थात् सबसे उच्च प्राप्ति का स्थान श्रुतियों ने बतलाया है जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा धाम अर्थात् वास्तविक स्वरूप है। यद्यपि परब्रह्म और उसके स्वरूप में किसी प्रकार का भेद नहीं होता तो भी यहाँ "राहो शिरः" की तरह षष्ठी विभक्ति का प्रयोग कर दिया गया है। राहु और शिर यद्यपि एक ही रूप हैं, सिर का ही नाम राहु है, तब भी व्यवहार में राहु का सिर बोल दिया जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी मेरा धाम अर्थात् स्वरूप यह भेद व्यवहार कर दिया गया। वस्तुतः जहाँ पहुँच कर जीव नहीं लोटते, वही मैं हूँ यही तात्पर्य है।

श्रीशङ्करानन्दजी ने यहाँ "मम" शब्द का अर्थ मायारूप उपाधि से संवलित ब्रह्म किया है और परमधाम शब्द का माया विरहित शुद्ध ब्रह्म अर्थ किया है।

श्रीलोकमान्यतिलक ने इस पद्य की व्याख्या में लिखा है कि सांख्यों की मानी हुई प्रकृति ही केवल अव्यक्त शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु इससे परे जो अक्षर पुरुष कहा जाता है वह भी अव्यक्त शब्द का वाच्य है। भगवद्गीता में दोनों ही के लिए अव्यक्त और अक्षरपद आये हैं। भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में अक्षरपद से पहिले सांख्य की कही हुई प्रकृति को ही बतलाया है और आगे जो उससे भी पर अव्यय पुरुष बतलाया है, वह परब्रह्म है, किन्तु यह व्याख्या इसलिए ठीक नहीं उतरती कि वहाँ अक्षर का स्वरूप कूटस्थ कहा गया है और सांख्यों की प्रकृति कूटस्थ नहीं कही जा सकती। सांख्योक्त प्रकृति परिणामी नित्य कही जा सकती है, किन्तु जब उसमें परिणाम मान लिया गया तब कूटस्थ नित्य वह कहाँ रही।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी यद्यपि अव्यय को ही परमागति मानते हैं, किन्तु जीव के प्रयत्न से जो गति प्राप्त होती है, उन सबमें उच्च गति अक्षर पुरुष की प्राप्ति ही है। अक्षर पुरुष को प्राप्त कर लेने पर फिर जीव को किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, अव्यय पुरुष की प्राप्ति उसे स्वतः ही हो जाती है, क्योंकि अक्षर पुरुष और अव्यय पुरुष सदा मिले ही रहते हैं। (२१)

हे पार्थ वह परपुरुष अनन्य भक्ति से ही प्राप्त हो सकता है, जिसके कि भीतर सब जड़ चेतनात्मक प्रपञ्च समाया हुआ है और जिसने सब प्रपञ्च को फैला रक्खा है।

श्रीशङ्कराचार्य यहाँ परपुरुष का अर्थ "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः" पुरुष से पर और कोई वस्तु नहीं है, वहाँ परत्व की समाप्ति है और वही सबका परम प्राप्य स्थान है इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सबसे परपुरुष करते हैं और

अनन्य भक्ति शब्द का यह अर्थ कहते हैं कि जहाँ आत्मा और परमात्मा भिन्न-भिन्न न रहें, "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार का ज्ञान हो जाना ही अनन्य भक्ति है। जैसा कि किसी वेदान्ती भाषा कवि ने कहा है –

"मैं हूँ तो हरि हैं नहीं हरि हैं तो मैं नाहिं ।
ज्ञान पन्थ अति सांकरो यामे दो न समाहिं ।।"

इस प्रकार अद्वैत की वासना को दृढ़ करना ही अनन्यभक्ति यहाँ कही गई है। भक्तिशब्द का ज्ञान अर्थ प्रसिद्ध है ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भाग और भक्ति दोनों शब्द एक ही भज धातु से बनते हैं और प्रत्यय भी दोनों शब्दों में एक ही अर्थ का है, इसलिए व्याकरण प्रक्रिया के अनुसार भाग और भक्ति शब्द एकार्थ ही सिद्ध होते हैं। परब्रह्म का भाग अर्थात् अंशरूप ही जीव है, यही अद्वैतवाद है और यही परमज्ञान भी कहा जाता है। अंशरूपता शक्ति की दृष्टि से कही जाती है। परब्रह्म सर्वशक्तिमान है और जीव में आवरण हो जाने के कारण शक्ति अल्प रह जाती है। इसी अभिप्राय से जीव को "ब्रह्मसूत्र" आदि में अंश रूप कहा जाता है। ब्रह्म का अंश होता हुआ भी जीव अपनी अंशरूपता का अनुभव नहीं कर पाता। जब आचार्य द्वारा "तत्त्वमसि" अर्थात् तू ही परब्रह्म है, यह सुनकर 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान प्रकट हो जाता है तभी अनन्य भक्ति समझनी चाहिये। इसी भक्ति से परपुरुष अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति होती है। प्राप्ति भी यहाँ "कण्ठचामीकर" न्याय से ही समझनी चाहिये। जैसे कोई पुरुष नशा आदि में मत्त होकर अपने गले में पड़े हुए सुवर्ण के आभूषण को भूल जाय और कण्ठाभूषण खो गया ऐसा समझकर रोने लगे, तब यदि कोई सावधान पुरुष उसे आकर बतला दे कि भाई खो कहाँ गया, आभूषण तो तुम्हारे गले में ही है। तब उसे बड़ा हर्ष होता है और कहने लगता है कि अहा मेरा आभूषण मिल गया। यही कण्ठचामीकरन्याय कहलाता है। इसी प्रकार जीव ब्रह्मरूप होता हुआ भी अविद्या के नशे में अपनी ब्रह्मरूपता को भूल बैठा है। जब आचार्य के उपदेश से अपना ब्रह्मभाव समझ लेता है, तब मैंने परब्रह्म को प्राप्तकर लिया, ऐसा मानने लगता है।

उत्तरार्द्ध में जो परपुरुष का लक्षण बतलाया है कि जिसके उदर में सब प्रपञ्च समाया हुआ है, उसके अनुसार अद्वैत ज्ञान ही भक्तिशब्द का अर्थ करना यहाँ उचित प्रतीत होता है।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की अवतरणिका में कहते हैं कि ज्ञानी पुरुष जिसे प्राप्त कर लेता है, वह तो पूर्व की अपेक्षा भी विलक्षण है और आगे परपुरुष का अर्थ भी भगवद्गीता में जो पहिले "मत्तः परतरं नान्यत्" इत्यादि पद्य में कहा गया है वही

है। अर्थात् जिसमें सब जगत् पिरोया हुआ है वह परपुरुष है और पहिले अनन्य चेताः इत्यादि पद्य में बतलाई गई भक्ति ही यहाँ अनन्यभक्तिशब्द से कही गई है। वहाँ इनकी व्याख्या के अनुसार भगवत् कृपा प्राप्त होना ही पदार्थ है। इसलिए यहाँ भी यही अर्थ है कि मेरी कृपा से मनुष्य मुझे प्राप्त कर सकते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी श्रीपुरुषोत्तमजी गोस्वामी यहाँ परपुरुष का अर्थ पुरुषोत्तम ही करते हैं, जो कि पन्द्रहवें अध्याय में क्षर, अक्षर से पर बतलाया गया है और अनन्य भक्ति शब्द का अर्थ करते हैं कि मुझसे अतिरिक्त और किसी का ज्ञान जिसमें न रहे इस प्रकार की प्रेमरूपा भक्ति। वह केवल भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त हो सकती है यही पुष्टिमार्ग का सिद्धान्त उन्होंने यहाँ कहा है।

श्रीनीलकण्ठजी यहाँ यह व्याख्या करते हैं कि निर्विशेष सर्वोत्तम परमपुरुष में लीन हो जाना पूर्वपद्य में बतला दिया गया। इस पद्य में जिन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ है और अभी अपने से अभिन्न समझ कर परब्रह्म की उपासना कर रहे हैं उन्हीं का वर्णन किया गया है, क्योंकि इस पद्य में परपुरुष को "लभ्य" अर्थात् प्राप्त करने योग्य बतलाया गया है और जो परमज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मरूप ही हो चुका वह तो परब्रह्म से अभिन्न ही हो गया उसे ब्रह्म का "लभ्य" कैसे बतलाया जाय ? इसलिये इस पद्य में अवर कक्षा के अधिकारियों का विवरण है। उत्तरार्द्ध में जो सब भूतों का अपने उदर में रखना और सब भूतों में व्याप्त रहना बतलाया गया है, वह भी माया शबलित ब्रह्म में ही घट सकता है। इससे इस पद्य में उपासकों की अवरकक्षा की गति बतलाई गई है, यही माना उचित होगा। किन्तु प्राप्ति तो पूर्व पद्य में भी बतलाई गई है। "प्राप्य" और "लभ्य" पदों में व्याकरण की दृष्टि से कोई भेद नहीं कहा जा सकता, इससे जैसा कि हम पूर्व में कह आये हैं कि कण्ठचामीकर न्याय से ही प्राप्ति कहना यहाँ उचित है और उत्तरार्द्ध में कहे गये धर्म भी परब्रह्म में वेदान्त के सभी ग्रन्थों में बतलाये जाते हैं। पहिले उत्तम कोटि की गति बताकर आगे उससे अवरकोटि की गति बतलाना गीता की शैली में अन्यत्र नहीं मिलता, इससे यह व्याख्या समुचित नहीं प्रतीत होती।

निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्रीकाश्मीरिभट्ट महोदय अपनी "तत्त्वप्रकाशिका" व्याख्या में कहते हैं कि परपुरुष क्षेत्रज्ञ पुरुष से विलक्षण पुरुष ही यहाँ बतलाया गया है और उसकी प्राप्ति का साधन अन्य देवता ओर अन्य मनोरथों के स्पर्शरहित भक्ति को बतलाया गया। जीवात्मा और परमात्मा में स्वाभाविक भेदाभेद है, यह सिद्धान्त यहाँ स्फुट हुआ।

श्रीमधुसूदनसरस्वती ने अनन्यशब्द का अर्थ अपने को ही ब्रह्म समझना करके

भी भक्तिशब्द से प्रेमरूपा भक्ति ही ली है। किन्तु एकरूपता हो जाने पर प्रेम कहाँ रहा ? प्रेम तो अपने से भिन्न में ही व्यवहार में आता है। इसलिए यह व्याख्या भी विचारणीय है।

श्रीशङ्करानन्दजी ने इस पद्य की विस्तृत और उत्तम व्याख्या की है। वे परपुरुष शब्द का अर्थ सब व्यक्त और अव्यक्त से अस्पृष्ट रहने वाला पुरुष ही करते हैं और अनन्यभक्ति का अर्थ करते हैं कि "अहं" और "इदं" दोनों जिसमें न रहे, ऐसा केवल परब्रह्म को विषय बनाने वाला ज्ञान। इससे योगदर्शन में कही हुई "समाधि" ही सिद्ध होती है। वेदान्तों में इसे ही अद्वैत की परमकाष्ठा, चरमवृत्ति शब्द से कहा गया है। उस वृत्ति से ही वह परमपुरुष प्राप्त होता है। यहाँ भी प्राप्ति कण्ठचामीकर न्याय से ही कही गई यही मानना उपयुक्त होगा। आगे उत्तरार्द्ध का विवरण करते हुए लिखते हैं कि जिसके उदर में सब भूत स्थित हैं, यह कहने से माया रहित शुद्ध ब्रह्म बतलाया गया। जैसे बाहर के पदार्थ किसी दर्पण में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार माया का रचित सम्पूर्ण प्रपञ्च जिसमें प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो रहा है, ऐसी भावना करनी चाहिये। इसका आशय यह होगा कि परब्रह्म से अतिरिक्त वास्तविक सत्ता किसी पदार्थ की नहीं है। सब प्रपञ्च माया का ही रचा हुआ है और वह परब्रह्म में अर्थात् अपने आप में प्रतिबिम्बरूप से प्रविष्ट हो रहा है। अब इस प्रकार की भावना जिनकी नहीं बन सकती, उनके लिए इससे सरल उपाय चौथे चरण में बतलाया गया कि वे परब्रह्म को सब प्रपञ्च में व्यापक समझने का अभ्यास करें। इसी अभ्यास से आगे की प्रतिबिम्ब समझने की भावना भी बन जायेगी।

इस प्रकार सब साम्प्रदायिकों की अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुकूल व्याख्या इन दोनों पद्यों की प्राप्त होती है। (२२)

●

पन्द्रहवाँ-पुष्प

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ।।८।२३।।
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ।।२४।।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।।२५।।
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ।।२६।।

पूर्व पद्यों में जिन्हें पूर्ण ब्रह्म ज्ञान हो चुका है उनकी अक्षर या अव्यय पुरुष में प्राप्ति होने का विवरण किया गया। अब ज्ञान के लिए प्रयत्न करते रहे, किन्तु ज्ञान की पूर्णता प्राप्त न कर सके या जो वैदिक कर्मकाण्ड या स्मार्त इष्टापूर्त (कूप, तड़ाग, धर्मशाला आदि) के निर्माण में ही लगे रहे, उन लोगों की क्या गति होती है उसका भी विवरण प्रसङ्गागत सुनाने के लिये भगवान् अर्जुन को सम्बोधित करते हैं कि हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन ! जिस काल में मृत्यु होने से योगययुक्त मनुष्यों को फिर नहीं लौटना पड़ता, अथवा (जिस काल में मृत्यु होने से) फिर संसार में आना पड़ता है, उनका भी विवरण मैं तुम्हें बतला देता हूँ। अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष और जिन छह महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है वह उत्तरायण का समय, इन समयों में मृत्यु होने से ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् उनको इस संसार में फिर नहीं आना पड़ता और धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और जिन छह महीनों में सूर्य दक्षिण की ओर रहता है वह दक्षिणायन का काल। इनमें मृत्यु को प्राप्त हुआ योगी चन्द्रमण्डल को प्राप्त कर (वहाँ भोग कर) फिर संसार में लौट आता है। यही शुक्ल और कृष्ण नाम के दो गमन मार्ग सम्पूर्ण जगत् के पुरुषों के सदा से चल रहे हैं। जिनमें कि एक से जाने पर संसार में फिर नहीं आना पड़ता और दूसरे से जाने पर फिर संसार में आवागमन होता रहता है–यह चार पद्यों का अक्षरार्थ बताया गया।

यहाँ पूर्व के योगी शब्द से तृतीय अध्याय में कहे गये ज्ञानयोगी और कर्मयोगी दोनों ही समझने चाहिये। पहिले जो ज्ञानयोग में लगे हुये थे किन्तु उसमें पूर्णता प्राप्त न कर सके उनकी गति कही गई है। ब्रह्मवेत्ता पद से भी ऐसे अपरिपक्व ज्ञानी ही

समझने चाहिये, क्योंकि परिपक्व ज्ञानियों के लिये तो श्रुतियों ने स्पष्ट कहा है कि "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते" अर्थात् उस ब्रह्मवेत्ता पुरुष के प्राण निकल कर कहीं नहीं जाते, यहीं व्यापकरूप हो जाते हैं। आगे केवल कर्मकाण्ड में कामनापूर्वक लगे रहने वालों की गति बतलाई गई है। इन्हीं दोनों मार्गों को छान्दोग्य उपनिषद् में देवयान और पितृयाण शब्दों से कहा गया है। यहाँ भगवान् ने दोनों मार्गों का संक्षेप से संकेत मात्र किया है, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् तथा अन्य उपनिषदों में भी इनका पूरा विवरण प्राप्त होता है। छान्दोग्य आदि उपनिषदों में देवयान मार्ग में उत्तरायण के आगे संवत्सर, आदित्य, चन्द्रमा तथा विद्युत् इनके नाम हैं और आगे कहा गया है कि जो जीव विद्युत् तक पहुँच जाते हैं, उनको एक अमानव पुरुष ब्रह्म में प्राप्त करा देता है, वे फिर इस संसार में नहीं लौटते। ब्रह्मसूत्र के श्री शङ्कराचार्य कृत भाष्य में अन्यान्य श्रुतियों के आधार पर विद्युत् से आगे वरुण, इन्द्र और प्रजापति के नाम और गिनाये हैं। यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् में जो आदित्य के अनन्तर चन्द्रमा कहा गया है वह हमारा परिचित चन्द्रमा नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो आदित्य से बहुत नीचे रह जाता है। आदित्य में पहुँच कर फिर इस चन्द्रमा में यात्रा नहीं बन सकती। इसलिये वहाँ सूर्य से ऊपर वर्तमान परमेष्ठी मण्डल रूप चन्द्रमा समझना चाहिये। सोम प्रधान होने के कारण दोनों ही में चन्द्र शब्द का प्रयोग श्रुतियों में किया जाता है। अन्यान्य पुराणों में वर्णन मिलता है कि इस प्रकार ब्रह्मलोक तक पहुँचे हुए जीव वहीं निवास करते रहते हैं और अन्त में ब्रह्मा जब मुक्त होते हैं, तब वे भी ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाते हैं। प्रस्तुत गीता के पद्य में भी उन सबका समावेश समझ लेना चाहिये। इसके आगे के पद्य में जो फिर लौटने वालों का मार्ग बतलाया गया है, जिसे कि पितृयाण मार्ग कहते हैं, उसका क्रम छान्दोग्य उपनिषद् में इस प्रकार मिलता है कि धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन, (इस मार्ग से जाने वाले जीव संवत्सर में अभिव्याप्त नहीं हो सकते, यहाँ संवत्सर शब्द से सब संवत्सर मण्डल में व्याप्त संवत्सराग्नि ही जाननी चाहिये। कर्म करने वाले उस अग्नि-मण्डल में पूर्ण व्याप्त नहीं होते उसके एक देश में ही रहते हैं।) ये स्थान गीता में भी गिनाये गये हैं। इसके आगे पितृलोक आकाश और चन्द्रमा ये नाम मिलते हैं। चन्द्रमण्डल में रहकर अपने पुण्य कर्मों का फल वहाँ भोग कर फिर वे संसार में लौट आते हैं। यहाँ चन्द्रमण्डल के आसपास के स्थान ही पितृलोक शब्द से कहे गये हैं और पितृलोक तथा चन्द्रमण्डल के मध्य का अवकाश आकाश शब्द से कहा गया है। यह वही चन्द्रमा है जिसे हम लोग चन्द्रमा कहा करते हैं।

श्लोक के आरम्भ में ही "काल" शब्द दिया गया है। इससे सुनने वाले यही समझ सकते हैं कि रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन में मरने वाले पितृलोक में जाकर

फिर लौट आते हैं और दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण में मरने वाले फिर नहीं लौटते, किन्तु वेदान्त सूत्रों तथा उनके भाष्यों में विचार किया गया है कि इस प्रकार तो फिर ब्रह्मविद्या या उसके उपयोगी कार्य करने का कोई भी महत्त्व नहीं रहा ? जिसने जन्म भर तपस्या आदि की और निष्काम भाव से उपासना करता रहा, वह भी दैवात् यदि रात्रि में मर गया तो उसे भी फिर जन्ममरण के चक्कर में यदि पड़ना पड़े और जिसने काम वासना न छोड़ी वह भी दैवात् दिन में मर जाय तो उसे फिर न लौटना पड़े, ऐसी व्यवस्था मान लेने पर विद्या के लिये प्रयत्न करने का कोई महत्व ही नहीं रहा? दिन या रात्रि में मरना ही सब कुछ सिद्ध रहा। इन सब बातों पर विचार कर ब्रह्मसूत्र और उसके भाष्य में यही निश्चय किया गया है कि यहाँ श्रुति और स्मृति में कालवाचक शब्द उनके अभिमानी देवताओं के वाचक हैं। आर्य संस्कृति में सब जड़पदार्थों के अधिष्ठाता एक-एक अभिमानी देवता माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि चेतनरूप परब्रह्म जगत् के जड़चेतन सभी पदार्थों में व्यापक है, वही जड़ पदार्थों का अभिमानी कहा जाता है। अथवा उसी के द्वारा नियुक्त सूक्ष्म प्रपञ्च के प्राणी देवता कहे जाते हैं। वे भी जड़ चेतन सभी में व्याप्त रहते हैं। उनको ही अभिमानी देवता समझना चाहिये। वे ही यहाँ कालवाचक शब्दों से कहे गये हैं। इसलिये इस प्रकरण के दिन, रात्रि शुक्ल, कृष्णपक्ष आदि शब्द आतिवाहिक अर्थात् उन मार्गों में जीवों को ले जाने वाले देवताओं के ही वाचक हैं। वे देवता सदा ही उनमें व्याप्त रहते हैं। इसलिये यहां दिन, रात शुक्ल, कृष्ण पक्ष आदि का कोई भेद नहीं समझना चाहिये। अपने-अपने कर्म के अनुसार सबकी गति होती है, चाहे वे किसी काल में भी मरें। यहाँ प्रश्न उठाया गया है कि फिर भीष्म का शरीर त्याग के लिये उत्तरायण की प्रतीक्षा करना महाभारत में क्यों वर्णित है ? वे तो ज्ञानी और तपस्वी थे जब कभी भी शरीर त्याग कर देवयान मार्ग से ही चले जाते, फिर इतने काल तक शर शय्या का कष्ट उनने क्यों भोगा ? इसका वहाँ उत्तर दिया गया है कि केवल आचार परिपालन के लिये ही उनने इतना कष्ट सहा। अर्थात् लोक में जो दक्षिणायन का मरण निन्दित माना गया है, उस रूढ़ि की रक्षा करने के लये ही वे समय की प्रतीक्षा करते रहे। अथवा मैं स्वच्छन्द मृत्यु हूँ, इस बात को जनता को प्रत्यक्ष दिखाने के लिये ही उनने ऐसा किया। मध्य में युधिष्ठिर को नीति, धर्म और मोक्ष आदि का उपदेश देना था, यह भी समझ लेना चाहिये।

इन पद्यों की व्याख्या में लोकमान्यतिलक ने बहुत कुछ विवेचन किया है, और यह सिद्ध किया है कि पुराने समय में इन शब्दों को कालवाचक ही माना जाता था, आगे चलकर इनमें आतिवाहिक देवता का अर्थ प्रचलित हुआ। यह उनकी पाश्चात्य विद्वानों की विवेचन दृष्टि के संस्कारों से प्राप्त ऐतिहासिक दृष्टि ही कही जा सकती

है। आर्यसंस्कृति में ऐसा कालभेद नहीं माना जा सकता। आर्यसंस्कृति के अनुसार तो केवल इतना कहा जा सकता है कि तपस्या और ज्ञान के लिये यत्न करने वाले आदि की मृत्यु दिन, शुक्ल तथा उत्तरायण आदि में ही होती है, ऐसा ही दैव विधान है और कामना में कर्म करने वालों की मृत्यु रात्रि में होने का दैव विधान है। इस प्रकार भी काल की और आतिवाहिक देवताओं की संगति लगाई जा सकती है। भगवद्गीता में भी आरम्भ में जो अग्नि, ज्योति, धूम आदि शब्द आये हैं वे प्रसिद्धि में कालवाचक नहीं हैं। वे शब्द भी इस बात का संकेत करते हैं कि यहाँ भी अभिमानी देवताओं से अभिप्राय है। आगे जो शुक्ल, कृष्ण को गति नाम दिया गया है और इन सबसे भी अग्रिम पद्य में जो "सृति" शब्द दिया गया है, वह भी इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि यहाँ मार्ग में मिलने वाले और क्रम से आगे बढ़ने वाले आतिवाहिक देवता ही कहे गये हैं। आर्यसंस्कृति में मृतपुरुष का शव अग्नि में जलाने की प्राथा अनादि काल से प्रचलित है। इसी के अनुसार देवयान मार्ग में पहले अग्निशब्द दिया गया है। उस शब्द को दूसरे मार्ग में भी लगा लेना चाहिये। इससे यह अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा कि मृतपुरुष के शव को जब अग्नि में जलाया जाता है तो उस जलाने के समय ही उसके सूक्ष्म शरीर की तीन प्रकार की गति हो जाती है। जो शुक्ल मार्ग अर्थात् प्रकाश में जाने का अधिकारी है, उसका सूक्ष्म शरीर अग्नि की ज्वाला में होकर बाहर होता है और आगे भी वह केवल प्रकाश की ओर ही (दिन, शुक्ल पक्ष उत्तरायण आदि क्रम से) चलता रहता है एवं जिनको कृष्ण मार्ग अर्थात् अन्धकार में जाना है उनका सूक्ष्म अन्धकार की ओर रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन आदि क्रम से जाता रहता है। उसका प्रकाश से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता और जिनकी दूसरे लोगों में गति होती ही नहीं, जिनका कि छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरी गति के रूप में जाना बतलाया गया है, उनका सूक्ष्म शरीर अग्नि से उत्पन्न होने वाले भस्म के साथ मिलता है और वे इस पृथिवी में कीटपतङ्ग आदि के रूप में बार-बार पैदा होते और मरते रहते हैं। इसको उपनिषद् में बहुत ही बुरी गति बतलाया गया है। इस चक्कर से निकलना ही बड़ा कठिन है। हम पूर्व लिख चुके हैं कि चन्द्रमण्डल की ओर जाने वालों की भी मध्य से दो प्रकार की गति हो जाती है। अच्छे कर्म करने वाले चन्द्रमण्डल की ओर जाते हैं और बुरे कर्म करने वाले यममार्ग अर्थात् नरक की ओर चले जाते हैं। उनका ही विवरण गरुड़पुराण में वैतरणी नदी तिरने आदि के रूप में किया गया है। इस प्रकार सब मिलाकर जीव की गतियों का वर्णन पूर्व हो चुका है। आर्य संस्कृति में जो श्राद्ध कर्म किया जाता है, उसका प्रधान रूप से पितृयाण मार्ग से ही सम्बन्ध है। श्राद्ध के भोक्ता पितर ही कहे जाते हैं। इस प्रसङ्ग से यहाँ श्राद्ध का विवरण भी कर देना प्राप्त हो गया है। वही अगले पुष्पों में लिखा जाता है। (२३-२६)

●

सोलहवाँ-पुष्प

"श्राद्ध की उपपत्ति पर व्याख्यान"

पहिले श्राद्ध शब्द पर ही विचार करना चाहिये कि श्राद्ध शब्द का मुख्य अर्थ क्या है। कई आधुनिक विद्वान् आर्य समाजी आदि इस शब्द का यह अर्थ करते हैं कि श्रद्धा से जो कर्म किया जाय वही श्राद्ध कहा जाता है। इसका अभिप्राय वे इस प्रकार लगाया करते हैं कि श्रद्धा अर्थात् बड़े आदर से जो अपने पिता माता आदि की सेवा करना या उनको खिलाना, पिलाना ही श्राद्ध है, किन्तु यह अर्थप्रसिद्धि के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि श्रद्धा अर्थात् आदर बुद्धि से तो देवपूजा, कथाश्रवण, दान आदि बहुत कर्म किये जाते हैं। उन सबको "श्राद्ध" शब्द से कोई नहीं कहता। वास्तव में तो श्राद्ध शब्द का जिस श्रद्धा से सम्बन्ध है, वह श्रद्धा उक्त छान्दोग्य उपनिषद् की प्रथम आहुति के रूप में ही बतलाई गई है। वहाँ लिखा है कि परलोक यात्रा के समय जो जीव अर्थात् सूक्ष्म शरीर की प्रथम आहुति होती है, उस प्रथम आहुति में परलोक को ही अग्नि माना जाता है। उसमें सूर्य ही समिधा रूप है, सूर्य की किरणें ही धुआँ रूप में, दिन ही उसकी ज्वाला है आदि। इस अग्नि में देवता लोग श्रद्धा का हवन करते हैं। इसके भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य ने व्याख्या की है कि मरने वाले के प्राण ही देवता हैं, वे जिस श्रद्धा का हवन करते हैं, वह यज्ञ आदि कर्मों में जो जल का व्यवहार होता है, उसका सूक्ष्म अंश ही है। इसका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है कि मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर ही स्थूल शरीर को छोड़ कर जाया करता है, क्योंकि जीव तो व्यापक है। व्यापक वस्तु एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में जा ही नहीं सकती। तब व्यापक जीव शरीर को छोड़ ही कैसे सकता है। इसलिए जैसे उस घट का आकाश भी दूसरी जगह चला जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर के स्थूल शरीर से बाहर हो जाने पर उसके घेरे में आया हुआ जीव भी गया मान लिया जाता है। सूक्ष्म शरीर का सांख्यदर्शन में स्वरूप बतलाया गया है कि ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण और मन बुद्धि, इनका ही सम्मिलित नाम सूक्ष्म शरीर है। वेदान्तदर्शन के तृतीय अध्याय के आरम्भ में विचार हुआ है कि ये सब सूक्ष्मशरीर के पदार्थ तो शक्तिविशेष रूप हैं, इनके साथ भूतों का अर्थात् "मैटर" का भी कोई अंश जाता है कि नहीं ? वहाँ निर्णय यही किया गया है कि जैसे किसी पात्र में घृत या तैल रक्खा जाय तो उसके निकालने पर उस पात्र के भी सूक्ष्म अवयव उस घृत या तैल के साथ अवश्य ही आते हैं। मिट्टी के पात्रों में यह पात्रों के अंशों का आना स्पष्ट दिखाई देता है। इसी प्रकार जिस सूक्ष्म

शरीर का स्थूलशरीर के साथ इतने वर्षों तक सम्बन्ध रहा, उसके निकलने पर स्थूलशरीर के कुछ अंशों का जाना भी युक्तिसिद्ध है। इन स्थूलशरीर के सूक्ष्म अंशों के अतिरिक्त सूक्ष्मशरीर के साथ और क्या वस्तु जाती है यह भी श्रुति में बतलाया गया है कि –

"तं विद्या कर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च"

अर्थात् जो कुछ यहाँ जाना गया है उसके संस्कार और जो कर्म किये हैं उनके संस्कार तथा अनादिकाल से साथ लगी हुई कारण शरीररूप वासना भी साथ ही रहती है। इनमें से कर्मजनित संस्कारों का ही विवरण श्रीशङ्कराचार्य ने किया है कि यज्ञ, दान आदि में जो संकल्प आदि के रूप से जल छोड़ा जाता है उसका ही सूक्ष्मअंश सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बद्ध हो जाता है। जैसे कि जो हम भोजन किया करते हैं उसके तीन भाग होते हैं, स्थूल भाग मलरूप होकर शरीर से निकल जाता है, सूक्ष्मभाग रसरुधिर आदि बनकर शरीर को पुष्ट करता रहता है और अतिसूक्ष्मभाग मन में संलिष्ट होता है। इसी प्रकार पीये हुए जल के भी तीन भाग होते हैं। इन सबका विवरण "अन्नमयं हि सोम्य मनः आपोमयः प्राणः" इत्यादि रूप में उपनिषदों में ही प्राप्त होता है। इसी दृष्टान्त से देखना चाहिये कि कर्मों में जिस जल का उपयोग किया जाता है उसके भी सूक्ष्म अंश अतिशयरूप से सूक्ष्मशरीर में संबद्ध रहते हैं। इन्हें ही श्रद्धा शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने बतलाया है। इसकी पुष्टि के लिए कर्म करना श्राद्ध शब्द से कहा जाता है।

पुष्टि का विवरण इस प्रकार है कि कौषीतकि उपनिषद् में स्पष्ट वाक्य है –

"ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति" (१।२)

अर्थात् जो प्राणी इस लोक से जाते हैं, मृत्यु को प्राप्त होते हैं, वे चन्द्रलोक में ही जाते हैं, यह सामान्य नियम है। ज्यौतिष के सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थ में परम विद्वान् श्रीभास्कराचार्य का कथन है कि "विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति" अर्थात् चन्द्रमण्डल के ऊपर के भाग में जो भाग हमारे लिए अदृश्य रहता है उसमें पितरों का निवास रहता है। इस प्रकार श्रुति और स्मृति दोनों की तो एक वाक्यता हो जाती है, किन्तु आजकल के जो विद्वान् श्रुति और स्मृति पर पूर्ण विश्वास नहीं रखते और युक्ति से ही सब विषयों का पुष्ट करना उचित मानते हैं, उनके लिए युक्ति से भी इसका समर्थन आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु अपने सजातीय घन से आकृष्ट होकर उसकी ओर ही जाती है, इसका विवरण व्याकरण के महाभाष्य[१] और ज्योतिष के सिद्धान्त शिरोमणि[२] आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

---

१. लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति पृथिवीविकारः पृथिवी मेव गच्छत्यान्तर्यतः । इत्यादि
(१ अ०।१ पा९।९ सूत्र)

२. आकृष्टिशक्तिश्चमही तया यत् खस्थं गुरुः स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे। (गोलाध्याये श्लो० ६)

इसी न्याय से यहाँ भी देखना चाहिये कि जो सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीर से बाहर निकला है, उनमें सूक्ष्मशरीर की वस्तुओं में मन ही प्रधान है और वह मन चन्द्रमा का अंश वैदिकविज्ञान में माना गया है। इसलिए उस प्रधानमन पर चन्द्रमा का ही आकर्षण रहता है और सजातीयाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार उसे चन्द्रमा की ओर ही जाना चाहिये, यही बात युक्ति से भी सिद्ध होती है।

छान्दोग्य उपनिषद् में विशेष विवरण करते हुए इस सामान्य नियम के दो अपवाद भी माने गये हैं। एक तो अपवाद यह है कि जिन्होंने चान्द्रायण आदि व्रत, तप, ब्रह्मचर्य आदि के द्वारा अपनी बुद्धि को प्रबल बना लिया और चञ्चल मन को बहुत कुछ दबा दिया, उनके सूक्ष्मशरीर पर मन को गौण हो जाने से चन्द्रमा का आकर्षण नहीं हो सकता, किन्तु बुद्धि के प्रबल होने के कारण सूर्य का ही आकर्षण होता है, क्योंकि बुद्धि सूर्य का अंश है। इसलिये वे चन्द्रलोक में न जाकर सूर्य के आकर्षण से सूर्य की ओर जाते हैं। जिनका कि विवरण "अग्निर्ज्योतिः" इत्यादि पद्य में किया गया है। यह उत्तमगति में ले जाने वाला अपवाद हुआ। दूसरा अपवाद अधमगतिरूप है। जिन्होंने इन्द्रियों के ही सदा वशीभूत रहते हुए इन्द्रियों को ही प्रबल बनाया और मन की शक्ति को इन्द्रियों से दबाया हुआ ही रक्खा, इन्द्रियों के भौतिक होने के कारण उनके सूक्ष्मशरीर में भूतों का ही आकर्षण रहेगा और वे निरन्तर इस भूत ग्राम में ही चक्कर खाते रहेंगे यही छान्दोग्य उपनिषद् में तीसरी अधम गति बतलाई गई है। इन दोनों उत्तम और मध्यम गतियों से भी श्राद्ध का सम्बन्ध स्मृतिकारों ने माना है। यथा–

देवो यदि पिता यातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ।।
पशुत्वे च तृणं भवेत् ।।

किन्तु इनका विवरण संक्षेप से इन व्याख्यानों के अन्त में लिखा जायेगा। श्राद्ध कर्म का प्रधानरूप से सम्बन्ध पितृलोक से ही है, इसलिए पितृलोक गति का विवरण पहिले लिखा जाता है।

उक्त प्रकार से भूतों का सूक्ष्म अंश और विद्याकर्म आदि के संस्कार लेकर जब यह सूक्ष्मशरीर चन्द्रमा के आकर्षण से चन्द्रमण्डल की ओर चला, तब प्रकृति के नियमानुसार उन भूतांशों में न्यूनता होना आवश्यक होगा। प्रकृति का नियम है कि प्रत्येक पदार्थ में से कुछ अंश निकल कर दूसरे पदार्थों में प्रविष्ट हुआ करते हैं और दूसरी जगह से कुछ पदार्थ आकर उन वस्तुओं में सम्मिलित भी हुआ करते हैं। जैसा कि हमारे शरीर में ही प्रत्यक्ष है कि हम मध्याह्न में पेट भरकर भोजन कर लेते हैं,

किन्तु सायंकाल होते-होते वह खाए हुए अन्न का अंश इधर-उधर चला जाता है और सायंकाल फिर पेट खाली मालूम होता है। तब फिर उसकी पूर्ति अन्न से करनी पड़ती है। यही क्रम निरन्तर चलता रहता है। हम तो इस क्षति की पूर्ति बार-बार खाकर लिया करते हैं, किन्तु वह मृत पुरुषों के सूक्ष्मशरीर के साथ जो भूतों का सूक्ष्मांश गया है उसकी क्षतिपूर्ति कौन करे और कैसे हो ? यदि क्षतिपूर्ति अच्छे प्रकार से न हुई तो वह भूतों का सूक्ष्मांश क्षीण हो जायेगा और उसके स्थान में वायु का प्रवेश होकर उस सूक्ष्मशरीर को वायवीय स्थूलशरीर मिल जायेगा जिसे शरीर वाले प्रेतपिशाच आदि कहे जाते हैं। इसीलिए लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि जिनका श्राद्धकर्म न हुआ उनके लिए लोग कहा करते हैं कि वह तो वायु में फिरा करता है। बस इसी स्थान पर सनातनधर्म के आचार्य पुत्रों को संबोधित करते हैं कि हे पुत्रों ! जिस समय तुम बिना शरीर के थे तब माता पिताओं ने अपने अंश लगाकर तुम्हारा शरीर बनाया था, अब उसका बदला देने का समय है कि उनका शरीर क्षीण होकर वे अशरीर होते हुए दुर्गति की ओर झुकते हैं, इसलिए तुम्हें उचित है कि तुम उनका शरीर बनाओ। इसी उद्देश्य से पुत्र जो आरम्भ के दस दिनों में पिण्ड दान किया करते हैं, उस पिण्ड को "गात्र पिण्ड" नाम से कहा जाता है। इसका अर्थ है कि शरीर के निर्माण अर्थात् पोषण के लिए यह कर्म किया जाता है। इसमें श्रुति का भी स्पष्ट प्रमाण है कि –

यद्वोऽग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत् पुनराप्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्।।

(अथर्व० १८ का० ४ सू० ४ अ०)

हे मृतपुरुषों ! अग्नि ने पितृलोक में पहुँचाते हुए जो तुम्हारा एक अङ्ग त्यक्त किया है, उसका मैं पुनः पोषण करता हूँ। इससे सम्पूर्ण अङ्ग प्राप्त कर पितृलोक में जाकर तुम वहाँ के आनन्द का भोग करो। वेद में अग्नि शब्द बहुधा प्राणशक्ति के लिए ही प्रयोग में आता है। इसलिए प्राणशक्ति के द्वारा जो आवागमन से पूर्वोक्त प्रकार की न्यूनता होती है उसकी पूर्ति इस मन्त्र के द्वारा समझ लेनी चाहिये।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि एक ही क्षण में संसार में शतशः सहस्त्रशः प्राणियों का देहान्त होता है और वे सब उसी एक मार्ग में जाते हैं, तब जिसका पुत्र श्राद्ध करे उसी को उसके दिये पिण्ड आदि का भाग प्राप्त हो, इसका नियमन करने वाला कौन ? हजारों प्राणियों में से किसी एक खास प्राणी को ही वह भाग किस आधार पर मिल सकता है ? तो इसका उत्तर है कि इसका नियमन मनःशक्ति से ही होता है। मन में ऐसी प्रबलशक्ति है कि दूर रहने पर भी और अनेक प्राणियों के मन

का व्यवधान रहने पर भी जिसका सम्बन्ध जिसके साथ है, उसी मन पर उसका प्रभाव पड़ता है जैसे कि किसी का मित्र मुम्बई में रहता हो, उस पर कोई अचानक विपत्ति आवे या उसे किसी कारण से खिन्नता हो तो उसका प्रभाव कलकत्ते में रहने वाले उसके मित्र के मन पर भी अवश्य पड़ जाता है और उसके मन में भी अचानक खेद का उदय हो जाता है। चाहे उस समय वह उसे समझ न सके कि मेरा मन अचानक क्यों खिन्न हो गया, किन्तु समय पर अवश्य विदित हो जाता है कि मित्र पर कोई विपत्ति थी इसीलिए मेरा मन भी खिन्न हुआ था। इसका अनुभव करने वाले इसे ठीक समझ सकते हैं। इसी प्रकार परलोक जाते हुए माता पिता के मन का भी पुत्र के मन के साथ सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध ही पुत्र के दिये हुए अन्न आदि का सूक्ष्म अंश उसके माता पिताओं के मनःप्रधान सूक्ष्मशरीर को ही प्राप्त हो जाता है। इसका दृष्टान्त शास्त्रों में यह लिखा मिलता है कि जैसे सैकड़ों गौओं के झुण्ड में छोड़ा हुआ बछड़ा झटपट अपनी माता को ही पहचान कर उसी के पास चला जाता है इसी प्रकार प्राणियों के या प्राणियों के पुत्रों के दिये हुए अन्न, पान आदि भी जिसे दिये हों, ढूँढ़ लेते हैं। यह स्मरण रहे कि यहाँ दिये स्थूल अन्न या पिण्ड आदि के सूक्ष्मांश ही चन्द्र, सूर्य आदि की किरणों द्वारा आकृष्ट होकर सूक्ष्म शरीरों का ही पोषण कर सकता है। स्थूल अन्न, पान आदि इस प्रकार नहीं जा सकते। इसलिए नास्तिकों का किया हुआ यह कुतर्क व्यर्थ है कि –

मृतानामिह जन्तूनां श्राद्धं चेत् तृप्तिकारकम् ।
प्रस्थितानां हि जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पनम् ।।

अर्थात् श्राद्ध का अन्न यदि मृतपुरुषों की तृप्ति कर देता है तो विदेश जाने वाले पुरुष अपने साथ खाने पीने का सामान क्यों ढोवें। घर वालों को कह जाया करें कि हमारा श्राद्ध कर देना। उसी से उन्हें वहाँ मिल जायेगा, यह कुतर्क व्यर्थ है, क्योंकि स्थूलशरीर के लिए स्थूल ही अन्न, पान आदि की आवश्यकता होती है। वह स्थूल अन्नपान आदि सूक्ष्म किरणों की सहायता से नहीं पहुँचाया जा सकता। सूक्ष्मशरीर को सूक्ष्मअन्नपान आदि की ही आवश्यकता है। वह सूर्यचन्द्र की सूक्ष्मकिरणों द्वारा जा सकता है।

इस प्रकार दशाह के अभ्यन्तर दिये हुए गात्रपिण्डों से सूक्ष्मशरीर के पोषण का विवरण हुआ। आगे जिन मञ्जिलों पर सूक्ष्मशरीर को कुछ विश्राम लेना पड़ता है उनका वर्णन गरुड़पुराण आदि में प्राप्त होता है, वहाँ भोग के लिए अन्नपान आदि भेजने को मासिक श्राद्ध किये जाते हैं। अन्ततः एक वर्ष पूरा होने पर यह सूक्ष्मशरीर पितृलोक

चन्द्रमण्डल के आस-पास के लोकों में पहुँच जाता है, तब वर्ष के अन्त में सपिण्डीकरण श्राद्ध किया जाता है। उसका तात्पर्य है–पूर्व पितरों के साथ इस नूतन पितर का भी सम्बन्ध जोड़ दिया। सपिण्डीकरण का मुख्य काल वर्ष का अन्त ही शास्त्र में माना गया है। पितरों का दिन एक मास का होता है इसका विचार कर और कलियुगी मनुष्यों की आयु अल्प देखकर या सपिण्डीकरण से पूर्व कई कार्यों में बाधा समझकर बारहवाँ दिन उसका अनुकल्प मान लिया गया है। अब सपिण्डीकरण के अनन्तर श्राद्ध के जो अवसर माने गये हैं, उनमें अमावस्या और मरण की तिथि प्रधान मानी जाती है। अमावस्या पितृलोक का मध्याह्न है, जिसका विवरण हम इसी अध्याय के १७वें श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं। मध्याह्न ही यहाँ के मनुष्यों के लिए क्षुधा का मुख्य समय है। इसी के अनुसार अमावस्या को ही पितृलोकवासियों की क्षुधा का समय समझ कर वह श्राद्ध का प्रधान दिन माना गया है। दूसरा प्रधान समय जो मरण तिथि माना गया, उसका कारण है कि सूर्य चन्द्रमा और पृथिवी के सम्बन्ध की जैसी परिस्थिति मरणतिथि में थी, वही परिस्थिति फिर एक वर्ष के बाद आ जाती है। इसलिए जिन चन्द्रकिरणों की सहायता से वह पितृलोक गया था, वर्ष के बाद उस तिथि में उन चन्द्रकिरणों के साथ ही उसका फिर पृथिवी से सम्बन्ध हो जाता है। स्मरण रहे कि आजकल जो बहुत से मनचले लोग तारीखों के अनुसार श्राद्ध किया करते हैं, वह प्रथा शास्त्रानुमोदित नहीं हो सकती, क्योंकि सूर्य चन्द्रमा आदि का पृथिवी के साथ वैसा सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए क्षयाह श्राद्ध के दिन जो कि गौड़ सम्प्रदाय में एकोद्दिष्ट रूप से किया जाता है, उसमें पितरों के आवाहन की आवश्यकता नहीं समझी गई है, क्योंकि उस दिन पृथिवी के साथ उस पितर का स्वयं ही सम्बन्ध हो जाता है। इसलिए उन किरणों की सहायता से ही पितृलोक में अन्नपान आदि प्रेषित किये जाते हैं। कई लोग प्रश्न करते हैं कि यदि उस पितर का भूमि से सम्बन्ध होता है तो भूमि में आकर कहाँ रहता है ? इसका उत्तर स्मृतिग्रन्थों में इस प्रकार दिया गया है कि –

निमन्त्रितान् हि पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान् ।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथासीनानुपासते ।।

अर्थात् जिन ब्राह्मणों को श्राद्ध के पूर्व दिन निमन्त्रित किया जाता है, उन ब्राह्मणों के शरीर में ही वे पितर लोग आकर निवास कर लेते हैं और वायु के समान उनके साथ विचरते रहते हैं। जहाँ वे बैठे वहीं वे बैठ जाते हैं। इसलिए निमन्त्रण प्राप्त करते ही ब्राह्मणों को विशेष नियम से रहने का विधान शास्त्रों में किया गया है। वे यह समझ कर ही अपने व्यवहार करें कि हममें पितरों का आवेश है।

सतरहवाँ-पुष्प

(२) "श्राद्ध व्याख्यान"

अब जो लोग हठ करते हैं कि इस प्रकार ब्राह्मणों के शरीर में पितर रहते हैं, इस बात को हम तो तभी माने कि जब हम उनको देख सकें ? इसका उत्तर है कि सनातन वैदिक धर्म तो दिखाने को भी तैयार है, किन्तु देखने के लिये आँख चाहिये। जो कहें कि हमारी आँख तो बहुत अच्छी है हम छोटे से छोटे पदार्थों को भी देख सकते हैं उन्हें समझना चाहिये कि अर्जुन तो कमल के समान चक्षुवाला कहा जाता था, किन्तु जब भगवान् से उसने विश्वरूप दिखाने की प्रार्थना की तो भगवान् ने यही कहा कि –

'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। (११।८)

अर्थात् इन आँखों से तो मेरा वह रूप न देख सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र दे देता हूँ, उनसे मेरा वह ईश्वर रूप देखो। इसका यही तात्पर्य है कि देव पितर आदि सूक्ष्म जगत् के तत्त्व इन चर्म चक्षुओं से नहीं देखे जा सकते। उनके लिए शास्त्रानुकूल विशुद्ध आचरणों से प्राप्त दिव्य नेत्र चाहिये। पितरों के प्रत्यक्ष दर्शन का वर्णन हमें पद्मपुराण में प्राप्त होता है कि श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिए भरत चित्रकूट गये और भगवान् राम ने उनसे पूछा कि तुम भी पिताजी को अकेला छोड़ कर यहाँ कैसे चले आये। तब भरत ने अश्रुभरे नेत्रों से कहा कि जिन पिता जी की याद करते हैं वे अब संसार में नहीं हैं। आपके वियोग में ही उन्होंने अपना भौतिक शरीर छोड़ दिया। यह सुनकर भगवान् राम ने बहुत विलाप किया। सीता लक्ष्मण को सम्बोधित कर वे कहने लगे कि –

सीते मृतस्ते श्वसुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण, इत्यादि।

भरत को तो समझा बुझाकर और उनके आग्रह से अपनी पादुका देकर लौटा दिया, किन्तु भरत पिताजी की मरणतिथि बतला गये थे, उसका भगवान् राम ने स्मरण रक्खा। जब वह तिथि आई तो श्रीराम ने वन में श्राद्ध का आयोजन किया। वहाँ के वनवासी ऋषि मुनियों को ही निमन्त्रित किया और सीता की वन में जो पदार्थ इङ्गुदी तैल आदि मिल सकते थे उनसे ही वन्य पदार्थों का पाक करने की आज्ञा दी। जब समय पर मुनि लोग भोजनार्थ पधारे, तब उन्हें देखते ही सीता भाग कर किसी वनकुञ्ज

में छिप गईं। राम को बड़ा आश्चर्य हुआ कि सीता कहाँ भाग गई। श्राद्ध का समय न निकल जाय, इस विचार से उन्होंने लक्ष्मण की सहायता से ही मुनियों को भोजन व पिण्डदान आदि का सब विधान पूर्ण किया। जब विप्र विसर्जन के अनन्तर मुनि लोग अपने-अपने आश्रमों को चले गये, तब सीता भी वन कुञ्ज से निकल कर आ गईं। उस समय सीता और राम का संवाद वहाँ यों लिखा है-भगवान् राम ने पूछा कि -

किमर्थं सुभ्रु नष्टासि मुनीन् दृष्ट्वा समागतान्।''

अर्थात् हे सुन्दर भ्रू वाली जानकी ! मुनियों को आते देख कर तुम छिप क्यों गई ? यहाँ वन में से तो मुनियों से परदा करने की आवश्यकता नहीं होती, फिर छिप जाने का क्या कारण था ? इस पर सीता ने उत्तर दिया कि -

''पिता तव मया दृष्टो ब्राह्मणाङ्गेषु राघव
याहं राज्ञा पुरा दृष्टा सर्वालङ्कारभूषिता।।''

अर्थात् महाराज ! मैंने देखा कि ब्राह्मणों के शरीर में ही आपके श्रीपिता जी महाराज दशरथ भी हैं। तब मेरे मन में यह हुआ कि जो महाराज मुझे आभूषणों और सुन्दर वस्त्रों से सजी हुई देखा करते थे, उनके सामने इन वन के अभद्र वस्त्र आदि पहने कैसे जाऊँ। मुझे वन्य वस्त्र पहिने हुए वन में आते समय ही महाराज ने देखा था, इसका ही फल यह हुआ कि वे भूमण्डल छोड़कर पितृलोक चले गये। अब यदि फिर इस वेश में देखें तो पितृलोक भी छोड़कर अन्यत्र जाने की उनकी भावना न हो जाय, इसीलिए मैंने उनके सामने जाना उचित न समझा। फिर यह भी तो विचारिये कि क्या भोजन लेकर उनके सामने परोसती। मैंने जो यहाँ पाक बनाया था, वैसा भोजन तो राजाओं के दासों के दास भी कभी नहीं खाते। इस अन्न को महाराज के सामने कैसे परोसती ! इन्हीं सब विचारों से यहाँ न रहना ही मैंने उचित समझा।

इस आख्यान में सीता को ब्राह्मणों के अङ्गों में अपने श्वसुर का दर्शन स्पष्टरूप से कहा गया है। बस पतिव्रता सीता के जैसे दिव्यनेत्र जिसने प्राप्त किये हैं, वह पितरों का स्पष्ट दर्शन भी कर सकता है। यहाँ कई लोग यह शङ्का करते हैं कि सीता को दर्शन हुआ, भगवान् राम को क्यों नहीं हुआ ? इसका उत्तर है कि भगवान् राम तो मुनियों में भावना रूप से पिता का दर्शन तो कर ही रहे थे, तभी तो पिता की भावना से श्राद्ध विधि के अनुसार मुनियों को भोजन आदि कराते ही थे। सीता को श्राद्धकाल में ऐसी भावना न थी तब भी उसे दर्शन हुआ, वही पुराण में लिखा गया।

यह छान्दोग्य उपनिषद् की पञ्चाग्नि विद्या में प्रथम आहुति का वर्णन लिखा गया। आगे वहाँ पितृलोक में अपने कर्मानुसार भोग कर फिर पुनर्जन्म प्राप्त करने के लिए संसार में लौटना पड़ता है। उस लौटने का भी वर्णन अग्निरूप में ही किया गया

है। मेघ मण्डल का द्वितीय अग्नि के रूप में वर्णन है। वहाँ विद्युत् ही रश्मि तथा वायु की समिधा है, आदि। उस अग्नि में सोमरूप सूक्ष्मशरीर का मेघ के अधिष्ठाता देवता ही हवन करते हैं। इसका तात्पर्य है कि पितृलोक से सूक्ष्मशरीर जब लौटने लगता है, तब पहिले मेघमण्डल में आता है। आगे भूमि को ही तीसरी अग्नि बतलाया गया है अर्थात् मेघ के जल के वर्षा रूप से वह सूक्ष्मशरीर भूमि पर गिरता है। यहाँ इतने ऊँचाई से गिरने से बहुत बड़ी व्यथा होती होगी, यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि मार्ग में वह सूक्ष्म शरीर अचेतन रूप ही रहता है। उसे किसी प्रकार का सुख दुःख का भोग नहीं होता। इस प्रकार वर्षा के जल रूप में भूमि पर आकर जैसा जन्म पूर्व कर्मानुसार इसे प्राप्त करना है, वैसे ही रूप में जाकर यह चौथी अग्नि रूप पुरुष के शरीर में प्रवेश करता है। वर्षा के जल से ही अन्न, फल, घास आदि सब पैदा होते हैं। जिस योनि में इसे जाना है, इसके कर्म पूर्वोक्त बछड़ा गौ के दृष्टान्त के अनुसार उसी रूप में ले जाते हैं। यदि मनुष्य जन्म ही फिर कर्मानुसार पाना है तो अन्न के रूप में उत्पन्न होकर उस मनुष्य के आहार रूप में चला जाता है। यदि पशु बनना है तो घास आदि के रूप में उसी पशु के उदर में जायेगा। यदि पक्षी आदि बनना है तो फल आदि के रूप से उस निर्दिष्ट पक्षी के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। उन पिताओं के शरीर में भी बहुत काल तक घूमता रहता है, जैसा कि आयुर्वेद आदि में वर्णित है कि अन्न से रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, उससे मेदा, उससे अस्थि, उससे मज्जा, (अस्थि का कठिन भाग) और उससे भी आगे सप्तम धातुरूप शुक्र बनता है। शुक्र रूप में परिणत होकर यह पुरुष के द्वारा पञ्चम अग्नि रूप स्त्री के गर्भाशय में डाला जाता है और फिर वहाँ क्रम से बढ़ता हुआ मनुष्य, पशु, पक्षी आदि के रूप से संसार में प्रकट हो जाता है। यह संसार में फिर लौटने का शास्त्रोक्त विवरण संक्षेप से प्रसङ्गागत कहा गया।

श्राद्ध कर्म का मुख्य सम्बन्ध पितृलोक से ही है। पितृलोक में चन्द्र किरणादि के द्वारा अन्न का सूक्ष्मांश भेजने के लिए जो पिण्डदान आदि किया जाता है, उन सबका भी वैज्ञानिक वर्णन हो सकता है जैसा कि पिण्डरूप में जो अन्न दिया जाता है, वह वीर्य का ही रूप समझ कर दिया जाता है। वीर्य पिण्डरूप में ही होता है। उसके आदि और अन्त में जो "अवनेजन" और "प्रत्यवनेजन" के रूप में जल दान विहित है, वह वीर्यरूप पिण्ड के रूप में रहने वाले अंश के ऊपर नीचे द्रव भाग का ही अनुकल्प है। पिण्ड प्रदान के लिए जो वेदी बनाई जाती है, वह गर्भाशय का अनुकल्प है और उस पर जो रेखा की जाती है वह भी मुख्य गर्भ स्थिति के स्थान का निर्देश है।

इस प्रकार जिस प्रक्रिया से पिता ने पुत्र को उत्पन्न किया था, उसी प्रक्रिया से पुत्र भी पिता के पितृलोक स्थित या मार्ग स्थित शरीर का पोषण करता है—यह श्राद्ध

विधि का विवरण मन्त्र ब्राह्मण आदि वेद में बहुत विस्पष्ट रूप में लिखा गया है जैसा कि मन्त्र भाग में ही देखिये–

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टा पूर्त्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वा यावद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ।।

(ऋग्० ७।६।१५)

इस मन्त्र से मुमुर्षु पिता के प्रति निवेदन है कि अब आप पितरों के साथ सम्मिलित होइये और उन पितरों के राजा यम से भी अपने दान धर्मादि कर्मों के कारण सम्मिलित होइये तथा पापों को दूर हटा कर तब अपना यह शरीर त्याग कीजिए। आगे अच्छी कान्ति वाले दूसरे शरीर को प्राप्त कीजिए। इस मन्त्र में पूर्वोक्त पञ्चाग्नि विद्या का ही संक्षेप में विवरण है, यह पाठकों को विदित हो जायगा। इससे जीवित पितरों की ही पूजा आदि मन्त्र भाग में मानी गई है, यह मत खण्डित हो जाता है। कई विद्वान् इसका आशय बतलाया करते हैं कि जीवित पिता से ही अपने दुष्ट कर्म छोड़कर पूर्व पुरुषों के अनुसार कर्म करने का निर्देश इसमें किया गया है, किन्तु जीवित पिता से "पुनरस्तमेहि" (फिर मरो) यह कहना सर्वथा अनुचित हो जाता है और यम के साथ मिलना जीवित दशा में कैसे सम्भव हो सकता है। चतुर्थ पाद में नये शरीर की प्राप्ति भी इसमें दिखलाई गई है, वह भी जीवित दशा में संभव नहीं हो सकती और दुष्टकर्म छोड़ने आदि का उपदेश भी पुत्र की ओर से पिता को उपयुक्त नहीं होता, इसलिए उन विद्वानों का मन्त्रार्थ उपयुक्त नहीं होता। इसी प्रकार मुमुर्षु पुरुष के सम्बन्ध में ही दूसरे मन्त्र में भी देवताओं से प्रार्थना मिलती है कि –

पूषात्वेतश्च्यावयतु प्रविद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।
सत्वैतेभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ।।

(ऋग्वेद-७।६।२३)

इस मन्त्र का अर्थ है कि पूषा–इस पृथिवी मण्डल का अभिमानी देवता तुम्हें इस शरीर से अलग करे। वह पूषा देवता सदा ज्ञान रखने वाला है और सब भुवनों का रक्षक है। वही पूषा देवता तुम्हें पितृलोक में पहुँचावे और अग्नि भी तुम्हें विशुद्ध ज्ञान वाले देवताओं को देवे।

यहाँ मरण के अनन्तर पितर और देवताओं को देने की पूषा और अग्नि से स्पष्ट प्रार्थना है। इससे भी जीवित पितरों के श्राद्ध का पक्ष निर्मूल सिद्ध हो जाता है।

उन पितरों को हवि ग्रहण कहने के लिए इस लोक में बुलाने की भी प्रार्थना मन्त्रों में स्पष्ट मिलती है–

उशनतस्त्वा निधीम द्युसन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आवह पितॄन् हविषे अत्तवे ।।

अग्नि से प्रार्थना है कि हम लोग कामना से आपका स्थापन करते हैं और कामना से ही आपको प्रदीप्त करते हैं। आप इच्छा करते हुए हमारे पितरों को हवि भोजन करने के लिए यहाँ लाइये।

इस मन्त्र में हवि भोजन करने के लिए पितरों का यहाँ आना स्पष्ट निर्दिष्ट है इस प्रकार हवि क्या हो, इसका निर्देश भी घृतकुल्या, मधुकुल्या आदि शब्दों से मन्त्र में स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी पिण्ड पितृयज्ञ आदि के रूप में इस कर्म का विस्तृत विवेचन है। उन सबका प्रसङ्ग यहाँ लाने से बहुत विस्तृत हो जायगा इसलिए उसे छोड़ते हैं।

अब अन्य देवयानमार्ग या जायस्व म्रियस्व नाम के तृतीय अधोगति के स्थान में भी जो श्राद्ध का उपयोग पूर्वोक्त स्मृति वचनों के आधार पर बतलाया गया है उसका भी संक्षिप्त विवरण कर इस व्याख्यान को पूर्ण करते हैं। इस संसार में जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उन सबका उत्पादक वैदिक विज्ञान में सूर्य और चन्द्रमा को माना गया है। इनकी किरणों के तारतम्य से ही पृथिवी में ऋतुओं का परिवर्तन हुआ करता है। वे ऋतु भी "ऋतवः पितरः" इत्यादि श्रुतियों में पितृ शब्द से कही गयीं हैं। ऋतुओं के कारण ही सब अन्न, फल, वनस्पति आदि पृथिवी में उत्पन्न होते हैं यह बात प्रसिद्ध है। इन ऋतुरूप पितरों का सबसे शरीरों में स्थित सौम्य प्राणरूप पितरों से सम्बन्ध रहता है। पितरों की मुख्य परिभाषा वेद में यही मानी गई है कि सौम्य प्राणों का नाम ही पितर है। वे ही सबके पालक होते हैं। इसी से पितृशब्द का प्रयोग उनमें यथार्थ घटित हो जाता है। इन सौम्य प्राणों का सभी लोकों के प्राणियों से सम्बन्ध है और ऋतु रूप पितर भी इनके ही साथ सब लोकों में व्यापक हैं। सौम्य प्राण हमारे मन, शरीर आदि में भी व्याप्त हैं। बस अपने मन में जिस अपने पिता आदि के लिए संकल्प कर अन्न, पान आदि दिया जाता है, वह अपने मन में स्थित सौम्य प्राणरूप पितरों की सहायता से जहाँ जिस योनि में हमारे पितृ पितामहादि रहते हों वहीं उन्हें प्राप्त हो जाता है। सौम्य प्राण ऋतुओं में और सब जगत् में भी व्यापक हैं, इसीलिए उनका सम्बन्ध सभी प्राणियों के शरीर से है और ऋतु ही सब वस्तुओं की उत्पादक हैं। इसी सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न योनियों में भी अन्न पान आदि का उन-उन योनियों के भोज्य रूप में पहुँच जाना पूर्वोक्त स्मृतियों में बतलाया गया है।

पितृ विज्ञान वेदों में बड़े विस्तार से लिखा है। उस सबका विवरण यहाँ संक्षेप में भी देना अप्रस्तुत विस्तार हो जायेगा इसलिए इतना ही अति संक्षेप में कह कर इस व्याख्यान को पूर्ण किया जाता है।

●

अठारहवाँ-पुष्प

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ।।८।२।।
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव,
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।।२८।।

हे पृथा पुत्र अर्जुन ! इन दोनों मार्गों को जानता हुआ कोई भी योगी मोह को प्राप्त नहीं होता। इसलिए तुम्हें भी सब समयों में योग युक्त रहना चाहिये।

सब वेदों में, सब यज्ञों में, सभी प्रकार की तपस्याओं में और भिन्न-भिन्न प्रकार के दान करने से जो इन कर्मों से उत्पादित पुण्य अर्थात् अतिशय विशेष के द्वारा फल प्राप्त होना शास्त्रों में बतलाया गया है, मेरे कहे हुये इस अष्टम अध्याय के इस रहस्य को जानकर अथवा इन सप्तम और अष्टम, दो अध्यायों में कहे हुए मेरे स्वरूप को समझ कर योगी उन सब फलों का अतिक्रमण कर जाता है, अर्थात् उन फलों को नीचा छोड़कर उनसे भी आगे बढ़ जाता है और परम स्थान अर्थात् सबके आदिभूत कारण रूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ भी प्रथम पद्य में पार्थ और अर्जुन दो सम्बोधन पद हैं। उनका आशय यही समझना चाहिये कि जिस प्रकार इस समय तुम पृथा के पुत्र हुए हो, इस प्रकार इन योगों के समझ लेने पर फिर तुम्हें किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं लेना पड़ेगा, आगे परब्रह्मरूप मुख्य स्थान को प्राप्त कर लोगे। अथवा यह भी आशय लगाया जा सकता है कि तुम पृथा नाम की मेरी बुआ के पुत्र हो यही समझ कर यह परमरहस्य मैंने तुम्हें बतला दिया है। मनुष्यावतार धारण करने पर संसार के सम्बन्धों का भी पालन करना आवश्यक हो जाता है और श्वेतरूप वाचक अर्जुन पद से अतिस्वच्छ अन्तःकरण होने के कारण इन रहस्यों के जानने व धारण करने की योग्यता भी तुममें है, इसलिए तुम योग युक्त हो सकते हो, यह सूचित किया।

अब यहाँ योगी शब्द का प्रकरण से उपयुक्त अर्थ क्या होना चाहिये, यह विचारणीय है। श्रीशङ्कराचार्य ने प्रथम पद्य में "योगी" शब्द का समाहितचित्त अर्थात्

चित्त को एकाग्र रखनेवाला यह अर्थ किया है। अन्य प्राचीन व्याख्याकार भी प्रायः उनका ही अनुकरण करते हैं और दूसरे पद्य में जो योगी को सबसे ऊँचा स्थान प्राप्त करना बतलाया गया है, वहाँ वे योगी पद से ज्ञानयोगी ही लेते हैं।

लोमान्यतिलक का तो एक प्रकार का ऐसा आग्रह है कि भगवद्गीता में सब जगह "योगी" शब्द का अर्थ कर्मयोगी किया जाय, किन्तु इन पद्यों में कर्मयोगी अर्थ उपयुक्त नहीं जान पड़ता। पूर्व पद्य में इन मार्गों को जाननेवाला योगी मोह में नहीं पड़ता इस कथन में एकाग्रचित्त से जो दोनों मार्गों की गति और उन गतियों के कारणों को समझ लेता है, वही मोह में नहीं पड़ता, यही उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है और अर्जुन को भी यही उपदेश है कि एकाग्रचित्त से इन दोनों मार्गों का मनन करो और देवयान मार्ग से जाने का प्रयत्न करो, अर्थात् उस मार्ग में जाने के लिए योग, तप आदि का यथाशक्ति सम्पादन करते रहो और दूसरे पद्य में तो "इदं विदित्वा" यहाँ स्पष्ट ही विद् धातु का प्रयोग है, इससे ज्ञानयोग ही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

उत्तर पद्य में "सर्वमिदं" का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने यह किया है कि अष्टम अध्याय के आरम्भ में जो अर्जुन के सात प्रश्न थे और जिनका उत्तर इस अध्याय में भगवान् ने दिया है, उसी के जानने की यह फलस्तुति है। इन उत्तरों में ब्रह्म का ज्ञान अन्तर्गत हो जाता है और उपसंहार में भी अव्यक्त पद का अर्थ अक्षर ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे ब्रह्म के ज्ञान से अन्य सब काम्य कर्मों के फलों की अपेक्षा ऊँचा नित्य फल प्राप्त करना सिद्ध ही है। इसलिए इस फलस्तुति को केवल प्रशंसारूप ही नहीं मानना चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य ने "सर्वमिदम्" पदों से सप्तम और अष्टम इन दोनों अध्यायों में कहे गये अर्थों का संग्रह माना है, क्योंकि भगवान् ने अपना स्वरूप निर्देश दोनों ही अध्यायों में किया है। इसका भी यही तात्पर्य हुआ कि दोनों अध्यायों में वर्णित मेरे स्वरूप को समझकर सबसे उच्च स्थान ब्रह्म पद प्राप्त हो जाता है।

आरम्भ के प्रकरणों में व्याख्याकारों के मतों का संक्षेप से निरूपण करते हुए हम दिखा चुके हैं कि श्रीविद्यावाचस्पतिजी इन सप्तम और अष्टम अध्यायों को "सिद्धविद्या" नाम से पृथक् ही प्रकरण मानते हैं।

"यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"

इस सप्तम अध्याय के पद्य में ज्ञान के लिए प्रायत्न करने वालों को ही सिद्ध पद से कहा गया है। इसीलिए ज्ञान के इस निरूपण को उन्होंने "सिद्धविद्या" ही नाम दिया। यहाँ पूर्व के आचार्यों ने भी प्रकरण के अन्तिम इस पद्य को इस प्रकरण की

फलस्तुति रूप मानकर उसी पक्ष का अर्थात् इन दो अध्यायों के भिन्न प्रकरण होने का ही संकेत मान लिया। इसके आगे चार अध्यायों में ही भक्ति मार्ग का विस्तृत निरूपण है। इन दो अध्यायों में पहिले ब्रह्मज्ञान का ही निर्देश किया है, यही सिद्ध हुआ। यद्यपि अन्य विद्याओं की अपेक्षा यह "सिद्धविद्या" भगवद्गीता में संक्षेप से कही गई है। इससे श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने यह अभिप्राय निकाला है कि यह विद्या भगवान् कृष्ण को प्रिय नहीं है, किन्तु यहाँ जो इससे परब्रह्म की प्राप्ति बतलाई उससे तो इस विद्या की भगवत् प्रियता ही सिद्ध होती है। इसका मनन पाठक विद्वान् कर लें। (२७, २८)

आठवाँ अध्याय समाप्त।

●

नवमोऽध्यायः

उन्नीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवनानुवाच।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।२।।
अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।
मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

इसके बाद भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! तुम दोषदर्शी नहीं हो इसलिए अब मैं तुम्हें अत्यन्त गुप्त उपदेश सुनाता हूँ। अब जो मैं आगे कहूँगा उसमें ज्ञान और विज्ञान दोनों अंश होंगे और इसके जान लेने से अशुभ अर्थात् पापलिप्त संसार से तुम मुक्त हो जाओगे।

यह विद्या जो अब मैं कहूँगा वह सब विद्याओं की राजा है और सब गुप्त बातों की भी यह राजा है तथा जितने पवित्र पदार्थ हैं उन सबमें यह उत्तम है और यह विषय केवल सुन लेने का ही नहीं है अपितु जिस प्रकार सुख आदि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसी प्रकार यह विषय प्रत्यक्ष से भी जाना जा सकता है। इससे यह न समझ लेना कि कोई लौकिक विषय होगा, ऐसा नहीं है अपितु यह विषय धर्म से युक्त है अर्थात् परलोक में भी परमसिद्धि देने वाला है। इतना होने पर भी इसका अनुष्ठान सुख पूर्वक किया जा सकता है और यज्ञ आदि की तरह इसका फल भी नष्ट होने वाला नहीं है, अपितु अविनाशी फल को यह देता है, अथवा स्वयं भी अविनाशी है।

हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन ! जो धर्म मैं आगे कहने वाला हूँ, इसमें जो

श्रद्धा नहीं रखते अर्थात् दोष निकालने की चेष्टा करते हैं, वे मुझको प्राप्त न कर जन्म मरण के चक्ररूप संसार में विचरते रहते हैं।

पूर्व अध्याय के अन्त में हमने पुनः स्मरण कराया है कि प्राचीन व्याख्याकार भगवद्गीता में छह-छह अध्यायों के तीन विभाग मानते हैं किन्तु श्रीविद्यावाचस्पतिजी मध्य खण्ड में दो विभाग करते हैं। सप्तम, अष्टम अध्याय का "सिद्धि विद्या" नाम का एक भाग है और नवम आदि चार अध्यायों का "राजविद्या" या "ऐश्वर्ययोग" नाम का दूसरा विभाग है। यह श्रीविद्यावाचस्पतिजी का मत, इस अध्याय के आरम्भ की इस स्तुति से स्पष्ट हो जाता है कि यह भक्ति का प्रकरण पूर्व के प्रकरण से विलक्षण है और यहाँ "तु" शब्द से भी यही सूचित किया गया। यहाँ इस "राजविद्या" के जितने विशेषण दिये गये हैं, वे सब भक्ति मार्ग पर ही सुसंगठित होते हैं, क्योंकि भक्तिमार्ग में जो आनन्द प्राप्त होता है वह प्रत्यक्ष है, उसी आनन्द की प्राप्ति के लिए इस मार्ग में बहुधा लोग प्रवृत्त भी होते हैं और कर्म या ज्ञान मार्ग की अपेक्षा इसका अनुष्ठान भी सुखपूर्वक हो सकता है। यद्यपि ज्ञानमार्ग को प्रधान मानने वाले इन विशेषणों से ज्ञान मार्ग की ही स्तुति बतलाते हैं कि परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है इसलिए वह भी प्रत्यक्षावगम हुआ और कर्म सम्पादन के लिये जो बहुत सी सामग्री का संगठन करना पड़ता है वह भी ज्ञानमार्ग में नहीं होता, इससे अनुष्ठान में भी इसे सुकर बतलाया, किन्तु अनुभव से यह स्तुति भक्तिमार्ग पर ही विशेष रूप से सुसंगत होती है। राजविद्या का यह भी अर्थ कई व्याख्याकारों ने किया है कि यह विद्या राजाओं में ही विशेष रूप से प्रचलित थी, जैसा कि चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कह आये हैं। प्राचीन काल में इतिहासों से ऐसा ही प्रायः सिद्ध होता है कि ब्राह्मणों में ज्ञानमार्ग का अधिक प्रसार था और भक्तिमार्ग क्षत्रियों में ही अधिक रूप से चलता था। वास्तव में बात यह है कि भगवद्गीता में भगवान् को ज्ञानमार्ग के साथ निष्काम कर्म करने की भी प्रधानरूप से शिक्षा देना है, क्योंकि अर्जुन को कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के लिए ही गीता का उपदेश दिया गया है और ज्ञान और कर्म को मिला देना ही भक्तिमार्ग या भागवत धर्म नाम से कहा जाता है। व्याकरण की प्रक्रिया से भाग और भक्ति शब्द एकार्थक ही सिद्ध होते हैं यह पहिले कह चुके हैं इससे भी ज्ञान और कर्म दोनों को मिला देना ही भक्ति शब्द का अर्थ ही सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिएं यह भक्ति मार्ग की विशेष रूप से स्तुति की गई है। इस विचार से भी यहाँ के विशेषणों को भक्तिमार्ग की स्तुति रूप कहना ही सुसंगत होता है। यद्यपि श्रीशङ्कराचार्य ने और उनके मतानुयायी "स्वराज्य सिद्धि" आदि ग्रन्थों में ज्ञान और कर्म के अधिकारियों की अत्यन्त विलक्षणता बतलाकर दोनों का संयोग अत्यन्त असम्भव है, यही सिद्ध किया है। तथापि यह कहा

जा सकता है कि कामना से जो कर्म किये जाँय, उनका ज्ञान से मिलाना अवश्य ही असंभव है, किन्तु निष्काम कर्म तो श्रीशङ्कराचार्य के मतानुसार भी ज्ञान के साधक हैं, इसलिए उनका ज्ञान से विरोध नहीं कहा जा सकता। लोकमान्यतिलक ने ज्ञानयोग और कर्मयोग नाम की दोनों निष्ठाएँ स्वतन्त्र मानी हैं, और उनके मतानुसार कर्मयोग ही भागवतधर्म या भक्तिमार्ग कहा जाता है। किन्तु श्रीशङ्कराचार्य कर्मयोग को यद्यपि स्वतन्त्र रूप से मुक्ति का साधन नहीं मानते, तथापि कर्मयोग से ज्ञानयोग प्राप्त हो जाता है और वह ज्ञानयोग मुक्ति का साधक है यह उन्होंने भी गीता के भाष्य में स्थान-स्थान पर कहा है। जिसका कि विवरण इस व्याख्या में भी हम कई स्थानों पर कर चुके हैं।

इस प्रकार जब कर्मयोग को ज्ञानयोग का साधक मान लिया गया तब कर्मयोग अर्थात् निष्काम कर्मों का अनुष्ठान ज्ञानयोग का विरोधी तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परस्पर विरोधियों में तो साध्य साधनभाव भी नहीं बन सकता। इस विचार से यही सिद्ध होगा कि निष्काम कर्मानुष्ठान और ईश्वर भक्ति दोनों साथ चल सकते हैं और इन दोनों का मेल ही भगवद्गीता में स्थान-स्थान पर कहा गया है। यही मार्ग भागवतधर्म या भक्तिनिष्ठा शब्द से भी कहा जाता है। भक्तिनिष्ठा को कई जगह स्वतन्त्रनिष्ठा भी माना गया है और कई जगह ज्ञाननिष्ठा के ही अन्तर्गत मान लिया गया, क्योंकि परमज्ञान और पराभक्ति का स्वरूप एक ही होता है, जिसका कि निरूपण हम पूर्व ही कर चुके हैं और आगे भी "भक्त्या मामभिजानाति" इस पद्य की व्याख्या में विशेष रूप से करेंगे।

इन पद्यों के ज्ञान विज्ञान शब्दों का विस्तार से विवेचन सप्तमाध्याय के आरम्भ में किया जा चुका है। उसकी पुनरुक्ति यहाँ करना अनुचित होगा। इस मार्ग में श्रद्धा न रखने वालों को संसार में भटकना पड़ता है, वे मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, इस कथन से भगवान् ने यही सिद्ध किया कि बिना भक्ति के ज्ञानयोग का सिद्ध हो जाना भी प्रायः असंभव ही है। इससे भक्तिमार्ग की विशेष रूप से आवश्यकता बतलाई गई है। (१-३)

अब आगे अपना स्वरूप निर्देश स्पष्टरूप से भगवान् करते हैं। सप्तमाध्याय के आरम्भ में भी स्वरूप कथन किया गया है और यहाँ भी स्वरूप कथन होगा। इसका कारण यही है कि ज्ञान भी ज्ञेय के बिना नहीं बन सकता और भक्ति या उपासना भी उपास्य के ज्ञान के बिना नहीं बन सकती। इसलिए दोनों ही जगह भगवान् का स्वरूप निर्देश आवश्यक है। सप्तम अध्याय की अपेक्षा यहाँ इतनी ही विलक्षणता है कि वहाँ ज्ञेयरूप से अर्थात् ज्ञान के विषय रूप से भगवान् का स्वरूप कथन है और

यहाँ उपासना के विषयरूप से स्वरूप कथन है। इन दोनों में कुछ विलक्षणता भी है जो कि पद्यों की व्याख्या के अनन्तर स्पष्ट की जायेगी। भगवान् का स्वरूप निर्देश होने के कारण चतुर्थ और पञ्चम पद्यों की व्याख्या भी सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने-अपने माने हुए सिद्धान्तों के अनुकूल की है। उन सबको ही संक्षेप से दिखाना यहाँ आवश्यक है। पहिले हम श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार दोनों पद्यों के अर्थ निर्देश करते हैं। आगे जिस जिस व्याख्या में जो विशेषता मिलती है उसका विवरण कर सबके अन्त में कुछ अपना विचार भी प्रकट किया जायेगा।

श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार इन दोनों पद्यों का अर्थ है कि मुझसे अर्थात् मेरे परभाव से सम्पूर्ण ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्त प्राणी व्याप्त हैं, अर्थात् सब प्राणियों में आत्मारूप से मैं ही विराजमान हूँ, किन्तु वह व्यापक मेरा रूप किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किया जा सकता। सब चराचर प्राणी मुझमें ही स्थित हैं। जैसे कि सब शरीर इन्द्रिय आदि का आधार आत्मा ही होता है, इसी प्रकार सब चराचर प्राणियों का आधार मैं ही हूँ। इससे यह न समझ लेना कि आत्मा जिस प्रकार शरीर में रहता है- ऐसा लोग समझते हैं, वैसे मैं भी सब प्राणियों में रहता हूँ; क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। मेरा आधाराधेय भाव आदि सम्बन्ध किसी से नहीं बनता। इससे मैं प्राणियों में नहीं हूँ- यही परमार्थ रूप समझना होगा और परमार्थरूप से देखने पर तो सब प्राणी भी मुझमें नहीं हैं, क्योंकि यदि मैं उनका आधार बनता तो भी मेरा उनसे सङ्ग हो ही जाता। किन्तु मैं सर्वथा असङ्ग हूँ अर्थात् किसी के साथ मेरा कुछ भी मेल नहीं। इस विचार से यही कहना होगा कि सब भूत मुझमें नहीं है। हैं भी और नहीं भी हैं-ये दोनों बातें कैसे बन सकती है, इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि यह मेरी ईश्वर भाव की योग अर्थात् घटना है। इसे तुम भली भाँति विचारो। उसी ईश्वर भाव की घटना को आगे भी स्पष्ट किया गया है असङ्ग रहता हुआ भी मैं सब भूतों का धारण करता हूँ और पूर्वोक्त प्रकार से भूतों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता, सब भूतों का उत्पादन या वर्धन करने वाला भी मैं ही हूँ। यहाँ "मम आत्मा" कहने से यह न समझना चाहिए कि परम पुरुष भगवान् का भी कोई शरीर है और उसमें वे आत्मा रूप से विराजमान रहते हैं। वस्तुतः ऐसा नहीं है; किन्तु लोकों में जैसे शरीर और आत्मा को पृथक् मानकर मेरा आत्मा यह व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार का व्यवहार अर्जुन को समझाने के लिए भगवान् ने भी कर दिया। इसका आशय ऐसा भी लगाया जा सकता है कि नवग्रहों में राहु नाम का ग्रह केवल शिर मात्र ही है; इससे राहु और शिर एक ही हैं, किन्तु आरोप से दोनों को पृथक् पृथक् "राहोः शिरः" यह षष्ठी विभक्ति का भी व्यवहार वहाँ कर दिया जाता है। इसी प्रकार भगवान् और आत्मा के एक होने पर भी "मम

आत्मा" ऐसा षष्ठी विभक्ति का व्यवहार लोकदृष्टि से कर दिया गया। इसी विषय को आरम्भ में ही स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने "मेरे परभाव से मैं व्याप्त हूँ" ऐसी व्याख्या की है। अर्जुन को यह समझाया कि जिस रूप से मैं तुम्हारे रथ पर बैठा हूँ, इसी रूप से सब जगह व्याप्त हूँ–ऐसा न समझना, किन्तु अपने अव्यय रूप से मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ।

श्रीरामानुजाचार्य ने "मया ततं" की व्याख्या की है कि अन्तर्यामी रूप से मैं जड़ चेतनात्मक सब भूतों में व्याप्त हूँ। जैसा कि श्रुति में कहा गया है कि जो परब्रह्म पृथिवी में रहता है, पृथिवी को अपनी मर्यादा में रखता है पृथिवी जिसका शरीर है, किन्तु पृथिवी जिसे नहीं जानती। इसी प्रकार जल आदि जड़ पदार्थों में भी अन्तर्यामी रूप से भगवान् की स्थिति बतलाकर आगे श्रुति में यह भी कहा है कि जो आत्मा में रहता है, आत्मा का नियमन करता है और आत्मा जिसका शरीर है, किन्तु आत्मा जिसे नहीं जानता। यहाँ आत्मा पद से जीवात्मा ही लिया जाता है। यही श्रुति श्रीरामानुजसम्प्रदाय की परम मूल है और इसी के अनुसार उन्होंने इन पद्यों की भी व्याख्या की है। मुझमें सब भूत स्थित हैं, और मैं उनमें नहीं हूँ–इसका आशय वे यह बतलाते हैं कि सब भूतों की स्थिति मेरे अधीन है, किन्तु मैं उनके अधीन नहीं हूँ। अथवा उन भूतों के द्वारा मेरा कोई उपकार नहीं, किन्तु उनकी तो सत्ता ही मेरे बिना नहीं रह सकती। इसलिए मेरा तो उन पर उपकार है ही। दूसरे पद्य में जो कहा जाता है कि भूत भी मुझमें नहीं है, उसका आशय है कि जैसे घड़े में जल भरने पर उस जल की आर्द्रता या घृत भरने पर उसकी चिक्कणता जैसे घट में आ जाती है वैसे भूतों का कोई धर्म मुझमें नहीं आता। इससे कहा जा सकता है कि भूत भी मुझमें नहीं हैं। ऐसा दृष्टान्त लोक में प्रायः नहीं देखा जाता, इसलिए इसे भगवान् ने इसे अपनी आश्चर्यजनक घटना कहा। इसका आशय यही है कि मेरे संकल्पमात्र से ही भूतों की उत्पत्ति और वृद्धि हुआ करती है। मेरा उनसे कोई सङ्ग नहीं है।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है उसमें कहा गया है कि मैं अक्षर रूप से सब जगत् में व्याप्त हूँ। अक्षर ही इस सम्प्रदाय में पुरुषोत्तम का चरण स्थानीय माना जाता है। उसी रूप से व्याप्ति यहाँ बतलाई गई है और उसे ही अव्यक्त कहा गया है। सब भूत मुझमें हैं इसका आशय यहाँ यह लगाया जाता है कि नाम रूप कर्मात्मक सब भूत, सच्चिदानन्द रूप अस्ति भाति प्रिय रूप, मेरे आधार पर स्थित रहते हैं। इससे उनकी स्थिति मेरे अधीन है। मैं सच्चिदानन्द रूप उनके अधीन नहीं हूँ। आगे भूत भी मुझमें नहीं है–इस कथन से भगवान् अपने को विरुद्ध धर्मों का आश्रय बताते हैं। लोक में परस्पर विरुद्ध समझे जाने वाले भी धर्म भगवान् में पाये

जाते हैं–यह भगवान् का विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना ही इस सम्प्रदाय में माना जाता है। मेरा संकल्प ही जिसे कि अन्य सम्प्रदाय वाले माया कहते हैं, वही सब भूतों का उत्पादक है आदि।

इसी सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थकर्ता श्रीपुरुषोत्तमजीगोस्वामी अपनी व्याख्या में "अव्यक्तमूर्त्तिना" पद का अर्थ करते हैं कि सब पुरुष मेरे व्यापक रूप का दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु जिस पर कृपा कर मैं दर्शन दे देता हूँ वही मेरा व्यापक रूप देख सकता है जैसा कि यहीं आगे अर्जुन को दिव्यचक्षु देकर भगवान् अपना रूप दिखलावेंगे। आगे कहा गया है कि जड़ चेतनरूप सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही स्थित रहता है। मैं ही उसे कभी अपनी क्रीडा के लिए प्रकट कर देता हूँ और कभी समेट लेता हूँ। मैं उनमें नहीं रहता–अर्थात् जैसे मृत्तिका के ढेर में से कुछ मृत्तिका लेकर उससे घट बना लिया जाता है तो वह मृत्तिका भी घटरूप में परिच्छिन्न होकर दीखने लगती हैं, इस प्रकार मैं भूतों से परिच्छिन्न नहीं होता, सदा व्यापक रूप से हूँ। आगे कहा गया कि मुझमें भूत नहीं है, उसका आशय है कि कोई भी भूत मुझसे भिन्न नहीं है। तब आधाराधेय-भाव भी वास्तविक रूप में नहीं बन सकता। यह मेरा ईश्वर भाव ही है कि जिससे मैं भूतों को अपने से पृथक् दिखा देता हूँ।

निम्बार्कसम्प्रदाय की अनुयायिनी तत्त्वदीपिका व्याख्या में इसका आशय इस प्रकार बतलाया गया है कि सब भूत मेरे आधार पर स्थित हैं, किन्तु मैं उनके आधार पर नहीं हूँ, अर्थात् मैं निराधार ही अपनी महिमा से प्रतिष्ठित हूँ। यही बात श्रुति में कही गई है कि "**स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि**" (छान्दोग्य ७।२४) "**मम आत्मा**" इन पदों में आत्मा शब्द का अर्थ ये मन करते हैं, अर्थात् मेरा संकल्प ही सबका उत्पादक है और सब पदों की व्याख्या प्रायः श्रीरामानुजभाष्य के अनुसार ही है।

श्रीशङ्करानन्दस्वामी अपनी व्याख्या में "मत्स्थानि सर्वभूतानि" इन पदों का अर्थ करते हुए कहते हैं कि जैसा जल में बुद् बुद् आदि रहा करते हैं या जैसे ग्राम नगर आदि जल या दर्पण में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, इसी प्रकार सब भूत मेरे भीतर रहते हैं और मैं उनमें नहीं हूँ। इसका आशय बतलाते हैं कि जैसे घर में वायु रहती है या बिलों में सर्प रहता है, इस प्रकार मैं भूतों में नहीं रहता, क्योंकि निरवयव पदार्थ कहीं प्रविष्ट होकर नहीं रह सकता। आगे जो अपने में भी भूतों की स्थिति का निषेध किया है, उसका आशय यह बतलाते हैं कि वस्तुतः भूत मुझसे भिन्न नहीं हैं, इसलिए आधाराधेय भाव भी वास्तविक नहीं। "मम आत्मा" का तात्पर्य यही बतलाते हैं कि शरीरधारी स्वरूप से मैं "भूतभृत्, भूतभावन आदि नहीं हूँ, किन्तु व्यापक आत्मा रूप से सब भूतों का उत्पादन और वर्धन करता हूँ।

श्रीनीलकण्ठजी इन ने पद्यों पर विशेष व्याख्या में "तत्त्वमसि" इस वाक्य का विवरण गीता के तीनों षट्कों में माना है, उनके मतानुसार मध्य के षट्क में "तत्" पदार्थ का निरूपण है–ऐसा मानने वालों के मत में वह व्याख्या उपयुक्त हो सकती है; किन्तु जो व्याख्याकार कर्म, उपासना और ज्ञान का गीता के तीनों षट्कों में क्रम से विवरण मानते हैं, उनके मतानुसार यह श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या नहीं जमती, क्योंकि उपास्य रूप तो प्रकृति या मायासहित ही होता है। मन वाणी से परे शुद्ध ब्रह्म उपास्य नहीं हो सकता। इसीलिए केनोपनिषद् में बार बार कहा गया है कि –

"तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"

इसका आशय है कि ब्रह्म मन वाणी से परे ही है। जिसकी लोग उपासना करते हैं वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है। इसलिए उपास्य रूप में तो शक्ति का सम्बन्ध रहना ही चाहिये। उपास्य रूप भगवान् ही होता है और भगवान् शब्द के अर्थ में गुण ऐश्वर्य आदि सम्मिलित हैं। विशेषकर श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने जो यह माना है कि इसी अध्याय से "भक्तियोग" कहा जाता है उनके मत से तो यह श्रीनीलकण्ठजी की व्याख्या सर्वथा विरुद्ध ही रहती है। इसलिए हमारे विचार से श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार यह व्याख्या इन पद्यों की होनी चाहिये कि अव्यक्त अर्थात् सांख्य निरूपित प्रकृति ही जिसकी मूर्ति है–ऐसे मैंने सम्पूर्ण जगत् का विस्तार अर्थात् निर्माण किया है। सप्तम अध्याय में परा और अपरा दोनों प्रकृतियों को अपने से भिन्न बतलाया था, इसलिए वहाँ "मम" पद दिया गया था, किन्तु यहाँ प्रकृति को अपनी मूर्त्ति अर्थात् अपने स्वरूपान्तर्गत उपासना के लिए बतलाते हैं। यही पूर्व की अपेक्षा विलक्षणता सिद्ध हुई। ज्ञान के समय शक्ति या प्रकृति को पृथक् ही समझा जाता है, किन्तु उपासना के समय प्रकृति को उपास्य रूप के अन्तर्गत रखना ही उचित होता है। यद्यपि "पञ्चदशी" में शुद्ध ब्रह्म की भी उपासना हो सकती है–ऐसा कहा है और भगवद्गीता में भी बारहवें अध्याय में अक्षर की उपासना कही जायेगी, किन्तु वहीं यह भी कहा जायेगा कि अक्षर की उपासना में उपासकों को क्लेश बहुत होता है, इससे उपासना में शक्ति या प्रकृति को साथ रखना ही भगवान् ने आवश्यक बतलाया। पाठक देखेंगे कि आगे के पद्यों में भी प्रकृति का ही वर्णन विशेष रूप से प्राप्त होता है और उसी के द्वारा जगत् का निर्माण माना है। भगवान् के स्वरूप में भूतवर्ग भी अन्तर्गत रहते हैं। भूतों को ही आधार बनाकर उनमें ही भगवान् की उपासना की जाती है। इसीलिए यहाँ भूतों को भी अपने स्वरूप के अन्तर्गत बतलाया, किन्तु उपासना के समय भी उपासक को यह न भूलना चाहिये कि भगवान् भूतों के अधीन नहीं, वे स्वतन्त्र ही हैं। उपासना भी तीनों रूपों से होती है। भगवान् को विश्वरूप मानकर, विश्वचर मानकर व विश्वातीत अर्थात

विश्व से सर्वथा पृथक् मानकर। इस आशय को उपासक भी कभी न भूलें–इसी अभिप्राय से आगे के दो विशेषणों से भूत सम्बन्ध का निषेध किया गया और ऐश्वरयोग शब्द से यह भी ध्यान दिलाया गया कि उपासना ईश्वर की होती है। ईश्वर जगत् की रचना करता है और जगत् की वृद्धि भी करता है, किन्तु फिर भी वह जगत् से स्वतन्त्र ही रहता है। यह सब निर्देश इन पद्यों में किया गया।

सप्तम अध्याय के १२वें श्लोक में हम श्रीविद्यावाचस्पतिजी के अनुसार व्याख्या लिख आये हैं कि अव्यय पुरुष सबका आधार है उससे बाहर विश्व का कोई पदार्थ नहीं रह सकता। किन्तु अव्यय पुरुष आधार ही रहता है और उसका जगत् के साथ विभूति सम्बन्ध ही रहता है योग या बन्ध नहीं होता। यही यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि अपने में भगवान् ने जो स्थिति बतलाई वह विभूति सम्बन्ध रूप है और आगे दो विशेषणों से जो निषेध किया वह योग सम्बन्ध या बन्ध का निषेध है। यही आशय उन्होंने यहाँ भी इन पद्यों के शीर्षक से व्यक्त किया है। (४-५)

●

बीसवाँ-पुष्प

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।६।।
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।।७।।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।८।।
न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ।।९।।
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।१०।।

विना संसर्ग के भी आधाराधेय भाव किस प्रकार होता है, इसमें दृष्टान्त बतलाते हैं। जैसे सब जगह विचरने वाला महान् वायु सदा ही आकाश में स्थित रहता है, किन्तु उस वायु से आकाश का किसी प्रकार का संसर्ग नहीं रहता, वायु इधर-उधर सब जगह घूमता है, किन्तु आकाश निश्चल रूप से ही स्थिर रहता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक भूतपूर्व मुझमें रहते हैं, किन्तु मेरा उनके साथ कोई संसर्ग नहीं रहता। मैं सब भूतों का आधार होने पर भी सबसे पृथक् अर्थात् विश्वातीत ही रहता हूँ। श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार अनालम्बन रूप आकाश में महान् वायु स्थित है अर्थात् उस वायु की स्थिति भी मेरे आधार पर है, इसी प्रकार यह निश्चय समझो कि सब भूत मुझमें ही स्थित हैं। किन्तु इस व्याख्या में यथा तथा पदों से बोधित दृष्टान्त भाव कैसे संगत होगा—यह विचारणीय है। अपने आप में दृष्टान्त बन नहीं सकता। एक प्रश्न यह भी होता है कि पूर्व पद्य में जो "मेरा ईश्वर भाव का योग देखो"—इस कथन से यह सूचित किया कि मेरी ईश्वरभाव की यह घटना है। लोक में इसका दृष्टान्त नहीं मिल सकता—इस कथन का इस उदाहरण से विरोध पड़ेगा, क्योंकि यहाँ लोक में भी इसका दृष्टान्त बतला दिया गया। यही विचार कर श्रीनीलकण्ठजी इस पद्य को भी ईश्वर भाव में ही लगाते हैं। वे वायु शब्द का अर्थ सूत्रात्मा करते हैं। जैसा कि "**वायु वैं**" **गौतमतत्सूत्रम्** (बृ०उ० ३।७।२) इत्यादि

बृहदारण्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य के शास्त्रार्थ के प्रकरण में कहा गया है और जिसके अनुकरण पर ही आजकल भी सर्वधर्मावलम्बी लोग अनन्त चतुर्दशी को अनन्तसूत्र का धारण करते हैं तथा आकाश शब्द का अव्याकृत आकाश अर्थ करते हैं, जो कि सबका कारणभूत है और जिसका "**आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता**" (छा० ८।१४।१) इत्यादि श्रुतियों में निरूपण है, तब पद्य का अर्थ होगा कि जैसे सूत्रात्मा रूप वायु अव्याकृत आकाश में स्थित है उसी प्रकार सब भूतों को मेरे भीतर स्थित समझो। ये सूत्रात्मा और अव्याकृत आकाश दोनों ही लौकिक पदार्थ नहीं, अलौकिक ईश्वर कोटि में ही माने जाते हैं। इसलिए ईश्वर भाव में लौकिक दृष्टान्त यहाँ नहीं आया और यह मेरा ईश्वरीय योग है, यह पूर्व का कथन सुसम्बन्ध ही रहा। (६)

हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! सब जड़चेतनात्मक जगत् के पदार्थ कल्प अर्थात् ब्रह्मा की आयु का अवसान होने पर मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं, फिर कल्प के आरम्भ में अर्थात् नये ब्रह्मा का दिन आरम्भ होने पर मैं उन सबको प्रकट कर देता हूँ।

हम पूर्व लिख चुके हैं कि ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर तो केवल त्रिलोकी का क्षय होता है, सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रकृति में लीन नहीं होता, इसलिए यहाँ कल्पक्षय और कल्पादि पदों का अर्थ यथोक्त प्रकार का ही करना उचित है। (७)

इस प्रकार अपनी मायारूप प्रकृति को अपने वश में रखकर सम्पूर्ण प्रपञ्च को मैं प्रकट करता हूँ। यह सम्पूर्ण जड़चेतनात्मक भूतग्राम अपनी त्रिगुणात्मक प्रकृति के ही अधीन रहता हुआ विवश रहता है अर्थात् अपने उत्पन्न होने और नष्ट होने में सब भूतों की कोई स्वतन्त्रता नहीं। मेरी प्रकृति जब उन्हें प्रकट करे तो वे प्रकट हो जाते हैं और जब अपने में लीन करे तो लीन हो जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी वर्ग भी प्रकृति से बद्ध होकर अपने वश में न रहता हुआ ही सुख दुःख आदि का भोग किया करता है। जो लोग इस बात का अभिमान करें कि प्रकृति के वश में रहकर प्राणी वर्ग सुख दुःख आदि का भोग नहीं करता, अपितु जो स्वयं करे उसी का फल वह पाता है। उन्हें इस बात का उत्तर देना होगा कि अतिबाल्यावस्था ही किसी की अति सुख से और किसी की महाकष्ट से व्यतीत होती है–इसका कारण क्या है ? उनके तो अभी कोई कर्म नहीं हैं। वहाँ तो अगत्या पूर्वजन्म के कर्म या प्रकृतिजनित ही सुख दुःख मानने पड़ेंगे। प्रकृति भी किसी को अकस्मात् सुख दुःख नहीं देती; अपितु पूर्व जन्मों के अनुसार ही सुख दुःख दिया करती है। संसार अनादि है, इसमें पूर्वजन्म के कर्म उत्तरोत्तर जन्मों के सुख दुःखों के कारण हुआ करते हैं। यह सब सुख दुखों का भोग प्रकृति जनित पदार्थों के सम्बन्ध से ही होता है। इसलिए प्रकृति को ही सबका कारण माना जाता है। (८)

इस पर श्रोता के मन में यह शङ्का होना संभव है कि जब इस प्रकार के अनन्त कर्म करने के कारण ईश्वर को भी पुण्य पाप आदि होता होगा और उसे भी इन सब कर्मों का फल भोगना पड़ता होगा ? इसका उत्तर भगवान् स्वयं दे देते हैं कि हे धनञ्जय ! जगत् का उत्पादन और विलयन आदि कर्म मुझे नहीं बाँधते, क्योंकि मैं तटस्थ की तरह रहता हूँ। किसी काम के होते समय जो उसमें भाग न ले वह उदासीन या तटस्थ कहा जाता है। किसी नदी में बहुत लोगों के तैरने पर भी जो तट पर ही स्थित रहे वह तटस्थ कहा जाता है, इस कथन से कर्मों का सम्बन्ध भगवान् पर से हटाया जाता है, किन्तु पूर्व पद्य में "विसृजामि" पद्य आया। इससे तो सब कर्मों का कर्त्तृत्व अपने पर माना गया और यहाँ अपनी उदासीनता बतलाई जाती है, इन बातों में परस्पर विरोध प्रतीत होता है ? इसका उत्तर पद्य के चौथे पाद से दिया जाता है कि उन सृष्टि प्रलय आदि कर्मों में कोई आसक्ति नहीं। इसी कारण वे कर्म मुझे बाँध नहीं सकते। पूर्व चतुर्थ अध्याय में कहा गया है कि मुझ पर कर्मों का लेप नहीं होता, क्योंकि कर्म फल प्राप्त करने की मेरी इच्छा नहीं है। उस कर्म फल प्राप्ति की इच्छा को ही आसक्ति समझना चाहिये और उस इच्छा का अभाव ही यहाँ "असक्त" पद से बतलाया गया। इसका तात्पर्य यही है कि सृष्टि प्रलय आदि करता हुआ इच्छा नहीं रखता। इससे उसे कर्मों का फल भी नहीं मिलता। कर्मों का फल भोगने की जिसे इच्छा हो वही फल पाता है–यही सिद्धान्त गीता में बार-बार दोहराया गया है अथवा "असक्त" शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि किसी-किसी पुरुष को किसी कर्म में आसक्ति हो जाती है। वह उन कर्मों के बिना रह ही नहीं सकता जैसा कि मादक द्रव्यों का व्यसन रखने वाला पुरुष मादक द्रव्यों के सेवन के बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार किसी पुरुष की द्यूत में, किसी की शिकार आदि में और किसी की स्त्री प्रसङ्ग में आसक्ति हो जाती है। उनका मन उन कार्यों को करने की बार-बार प्रेरणा किया करता है। ऐसी आसक्ति उसमें नहीं। बिना आसक्ति का ही कर्त्तृत्व उस पर है। प्रकृति को सन्निधान मात्र से प्रेरित कर देना ही उसका काम होता है। यही बात "उदासीनवत्" के "वति" प्रत्यय से भी कही गई है। जैसे उदासीन पुरुष को कोई इच्छा या आसक्ति नहीं होती, वैसे ही मुझे भी कोई इच्छा या आसक्ति नहीं है। इसीलिए कर्म बन्ध मुझ पर नहीं होता, यही इस पद्य का मुख्य आशय है। भक्तिमार्ग में लगे हुए पुरुष ईश्वर की इसी प्रकार उपासना करते हैं कि वह सब जगत् का उत्पादन पालन और संहार करता हुआ भी उन कर्मों में अनासक्त तथा उनके फलों से अलिप्त रहता है। इसी कारण यहाँ भक्ति के प्रकरण में इसे दोहराया गया और इससे भक्तिमार्ग के पथिकों को विशेष रूप से यह उपदेश भी दिया गया कि तुम भी कर्मों में आसक्त या कर्म

फलों के इच्छुक मत हुआ करो, तभी सच्चे भक्त बन सकोगे। भक्त लोग कोई इच्छा अपने इष्टदेव से नहीं करें, यही भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार तो अहं शब्द का अर्थ अव्यय पुरुष होता है और अव्यय पुरुष में बन्ध हो ही नहीं सकता, इसलिए बन्ध का निषेध युक्तियुक्त ही है और योग नाम का सम्बन्ध भी अव्यय पुरुष का कहीं नहीं होता, इसलिए "असक्त" या असङ्ग भी उसे कहा गया। केवल विभूति रूप ही सम्बन्ध है यह पूर्व (७।१२) की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं। (९)

इस प्रकरण में उपसंहार रूप आगे का पद्य कहा जाता है कि यों मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर और अचर जगत् को उत्पन्न और लीन भी किया करती है। इसी कारण से हे कुन्ती पुत्र ! जगत् के सभी पदार्थ उलट-पलट हुआ करते हैं, किन्तु प्रकृति का प्रेरक होने से उत्पाद और विनाश का कर्तृत्व मुझ पर ही माना जाता है। जैसे कि राजकार्य मन्त्री आदि ही चलाते हैं, किन्तु कर्तृत्व उनके प्रेरक राजा का ही माना जाता है।

लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि इस पद्य में "वि" और "परि" उपसर्गों को देख कर कई व्याख्याकार "विवर्तवाद" का प्रसङ्ग उठाते हैं, किन्तु यहाँ विवर्तवाद का कोई प्रसङ्ग प्रकरणागत भी नहीं और विवर्तवाद के मुख्य आचार्य श्रीशङ्कराचार्य ने भी इस पद्य की व्याख्या में विवर्तवाद का कोई प्रसङ्ग नहीं उठाया। "विपरिवर्तते" का अर्थ तो केवल बनना बिगड़ना ही है"। यह "विवर्तवाद" का प्रसङ्ग श्रीवैङ्कटनाथ की व्याख्या में ध्वनित होता है। किन्तु इस प्रकरण में जो कहा गया कि मैं अर्थात् परब्रह्म तो उदासीन ही हूँ और प्रकृति ही मेरी अध्यक्षता में सब कुछ करती है। यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ यदि अविद्या किया जाय तो इस प्रकरण से विवर्तवाद अवश्य ही स्फुट हो जाता है। (१०)

●

इक्कीसवाँ-पुष्प

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।।११।।
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।१२।।
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।।१३।।
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।।१४।।
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ।।१५।।
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।।१६।।
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ।।१७।।

इस प्रकार पूर्व प्रकरण से सिद्ध होता है कि मैं नित्य शुद्ध और मुक्त स्वभाव हूँ एवं सब भूतों में आत्मारूप से मैं ही विराजमान हूँ, किन्तु इस समय मैंने मनुष्यों के उद्धार के लिए अपनी इच्छा से मनुष्य शरीर धारण कर रखा है, इसी कारण से मेरे सब भूतों के ईश्वर रूप परमभाव को न जानते हुए मूर्ख लोग दुर्योधन आदि मेरी अवज्ञा अर्थात् तिरस्कार करते हैं। जैसा कि दूत बनकर सन्धि के प्रस्ताव के लिए सभा में जाने पर भी दुर्योधन ने स्पष्ट ही अवज्ञा की और अनेक रूप दिखाने पर भी मुझे ऐन्द्रजालिक ही समझा। यहाँ श्रीवल्लभाचार्य की टीका में अपने सम्प्रदायानुसार यह व्याख्या की गई है कि यद्यपि मैंने अपने हाथ, पैर, मुख, उदर आदि जो कि सदा आनन्दरूप ही हैं उनको ही सबको देखने योग्य मनुष्यों के समान बनाकर प्रकाशित कर रखा है, तो भी उस भाव को न जानते हुए माया से ढंकी दृष्टि रहने के कारण मूढ़ता को प्राप्त मनुष्य मेरी अवज्ञा करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो अपने शीर्षकों में इस पद्य को सामान्यरूप में ही लगाते हैं कि अव्यय पुरुष ही अक्षर क्षरभाव में जाता हुआ यद्यपि भिन्न-भिन्न प्राणियों के रूप में जाता है, मानुषी तनु उपलक्षण मात्र है, तो भी मूढ़ लोग जगत् में अव्यय पुरुष को नहीं पहचानते और क्षररूप ही समझ कर उसके साथ अनादर या तिरस्कार का भाव रखते हैं। इस पद्य से भगवान् ने भक्ति या उपासना में अवतारवाद की भी आवश्यकता ध्वनित की। जैसा कि हम चतुर्थ अध्याय के आरम्भिक पद्यों में अवतारवाद के व्याख्यान में विस्तार से बतला चुके हैं। (११)

इस प्रकार मेरी अवज्ञा करने वालों की सब आशाएँ भी झूठी ही होती हैं, अर्थात् ऐसे पुरुष उन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सकते जिनकी बार-बार आशा करते हों और उनके कर्म भी व्यर्थ होते हैं। ईश्वर की अवज्ञा करने वालों के यज्ञादिकर्म भी सफल नहीं होते और उनका ज्ञान भी व्यर्थ ही है। ईश्वर को न पहचाननेवाले नास्तिकों का ज्ञान सफल कैसे कहा जा सकता है एवं उनका चित्त भी विक्षिप्त जैसा रहता है। वे राक्षससम्बन्धिनी या असुरसम्बन्धिनी मोहयुक्त प्रकृति में पड़े हुए अमुक को मारो, अमुक को काटो, अमुक का धन हरो इत्यादि कार्यों में लगे रहते हैं।

यहाँ व्याख्याकार श्रीवेङ्कटनाथ ने ऐसे पुरुषों की प्रकृति अर्थात् स्वभाव के तीन भेदों का स्पष्ट निरूपण किया है जो ईश्वर को नहीं पहचानते, उनकी प्रकृति "मोहिनी" कही जाती है और जो ईश्वर को न जानते हुए शास्त्र में न बतलाए गए या निन्दित विषयभोगों में लगे रहते हैं, उनकी रागप्रधान रजोगुण से उत्पन्न "आसुरी" प्रकृति समझनी चाहिये और जो ईश्वर से द्वेष या उसकी निन्दा आदि किया करते हैं उनकी तमोगुण से उत्पन्न "राक्षसी" प्रकृति जाननी चाहिए। इस असुरी प्रकृति का विशेष विवरण आगे सोलहवें अध्याय में करेंगे। (१२)

हे पार्थ ! इन पूर्व पद्योक्त आसुरी आदि प्रकृतिवालों से विपरीत जो दैवी प्रकृति का आश्रयण करने वाले महात्मा पुरुष हैं वे तो मुझे सब भूतों का आदि कारण अव्यय पुरुष रूप जानकर और सब जगह से चित्त हटाकर एकमात्र मुझमें ही चित्त लगाते हुए सदा मेरा भजन किया करते हैं।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्य के नाम से मुद्रित व्याख्या में महात्मा शब्द का विशेष विस्तृत विवरण किया गया है कि जो अनेक जन्मों से संचित पुण्यों के प्रभाव से मुक्ति के पूर्ण अधिकारी हो चुके हैं और जिनका आगे सोलहवें अध्याय में "**अभयं सत्त्वसंशुद्धिः**" इत्यादि पद्यों के द्वारा वर्णन किया जायगा, जिनका यह अन्तिम जन्म है, अर्थात् आगे मुक्त होकर फिर जिन्हें जन्म नहीं लेना है वे ही यहाँ महात्मा शब्द

से कहे गये हैं। वे अन्य अर्थात् क्षर अक्षर आदि से मन को हटाकर केवल आनन्दमय मूर्ति अव्यय पुरुषरूप मेरा ही सदा भजन किया करते हैं। (१३)

भजन का प्रकार ही आगे के पद्य से बतलाते हैं कि वे निरन्तर मेरा ही कीर्तन अर्थात् गुणगान किया करते हैं और यम-नियम आदि से चित्त को वश में करने का सदा यत्न करते रहते हैं। उनके व्रत अर्थात् नियम ऐसे दृढ़ होते हैं कि किसी के डिगाये डिग नहीं सकते एवं भक्ति अर्थात् परम प्रेम से मुझे ही सदा प्रणाम किया करते हैं और नित्ययुक्त अर्थात् एकाग्रचित्त से मेरी उपासना करते रहते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या में इस पद्य से प्रसिद्ध नवधा भक्ति बतलाई गई है। इनमें कीर्तन तो अपने शब्द से ही पद्य में कहा गया है। "यतन्तः" पद से श्रवण अर्चन और पादसेवन लेना उफ्युक्त होगा। "दृढ़व्रत" शब्द से जन्माष्टमी रामनवमी एकादशी आदि व्रतों की दृढ़ता बतलाई गई है, व्रतों में भगवान् का स्मरण ही मुख्य रहता है। इसलिए इस पद से स्मरण ले लिया जायेगा। "नमस्यन्तः" पद से वन्दन कहा गया। "भक्ति" पद का अर्थ है अपने को ईश्वर का भाग बनाना, इससे दास्यरूपा भक्ति अन्तर्गत हो गई। "उपासते" पद से संख्यभाव ले लिया जाता है तथा "नित्ययुक्त" पद से आत्मनिवेदन विवक्षित है। (१४)

अन्य भी भजन के प्रकार बतलाते हैं कि कई महात्मा पुरुष ज्ञानरूप यज्ञ से ही मेरी पूजा करते हुए मेरी उपासना करते रहते हैं। ज्ञान में यज्ञ भावना का निरूपण पूर्व चौथे अध्याय में "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" पद्य से कर चुके हैं कि हविर्द्रव्य, होम के साधन, आधारभूत अग्नि और हवि डालने वाले हाथ इत्यादि सबमें ही ब्रह्मभावना करना। यहाँ किसी व्याख्या में इस ज्ञानयज्ञ की उपासना को छोटी कक्षा का बतलाया है, किन्तु ऐसा कहनेवाले महानुभाव यह भूल गये कि पहले चार प्रकार के भक्तों के निरूपण में भगवान् ने ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। इतना ही नहीं वहाँ कहा गय है कि ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है "**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**" वही आशय यहाँ भ समझना चाहिये कि ज्ञानयज्ञ से उपासना करनेवाले सभी उपासकों में श्रेष्ठ हैं।

यहाँ भी अग्रिम पद्य में यज्ञाङ्गों में अपनी भावना स्पष्ट की जायेगी। ज्ञानयज्ञ मे भी अनेक प्रकार उत्तरार्द्ध में बतलाये जाते हैं कि कई महात्मा एकत्व रूप से उपासन करते हैं, अर्थात् ज्ञान के द्वारा अपने आत्मा को ही ब्रह्मरूप मानते हुए अथवा "**वासुदेव सर्वम्**" भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं ऐसा मानते हुए एकत्वभाव से मेरा अनुसन्धान अर्थात् निदिध्यासन करते हैं और कई महात्मा पृथक् समझकर अर्थात् मुझको स्वामी और अपने आपको दास मानकर मेरी उपासना किया करते हैं एवं कई महात्मा बहुध

अर्थात् विभूति, जो अग्रिम अध्याय में कही जानेवाली हैं, उनमें ध्यान लगाते हुए मेरी ही उपासना करते रहते हैं। वे सब विभूतियाँ भगवान् के ही रूप हैं, उनमें ध्यान लगाना भी भगवान् की ही उपासना है अथवा बहुधा शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि शिव, विष्णु, महाशक्ति, गणेश और सूर्य, इन परब्रह्म के पाँच रूपों में उपासना करते हैं और कई एक सब ओर मेरे मुख, बाहु उदर आदि का ध्यान करते हुए "**सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्**" इस पुरुषसूक्त के अनुसार व्यापक रूप में मन लगाकर उपासना किया करते हैं। अथवा पद्य के उत्तरार्द्ध का यह भी आशय हो सकता है कि भगवान् की तीन प्रकार से उपासना शिष्टसम्प्रदाय में जो प्रचलित हैं वही यहाँ कही गई। एक सम्पूर्ण विश्व को भगवान् का रूप मानकर, दूसरी विश्व के कणकण में भगवान् का विराजमान रहना मानकर और तीसरी भगवान् को सब जगत् से पृथक्-जगत् के दोषों से सर्वथा सम्पर्क शून्य मानकर। ये ही विश्व, विश्वचर और विश्वातीत नाम से उपासनाएँ प्रसिद्ध हैं। इस पद्य में एकत्व से जो उपासना कही गई वह "विश्वातीत" की उपासना है। पृथक्त्व अर्थात् बहुत्व से जो कही गई, वह विश्वचररूप की उपासना है और "**बहुधा विश्वतो मुखम्**" इस पद से सम्पूर्ण विश्व को ही भगवान् का रूप मानकर उपासना बतलाई गई है। (१५)

ज्ञान को यज्ञरूप मानकर अर्थात् यज्ञ में ज्ञान का आरोप कर विश्वरूप उपासना का और विस्तार कहते हैं कि मैं ही क्रतु अर्थात् वैदिक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञरूप हूँ, मैं ही यज्ञ अर्थात् स्मार्त शिव, विष्णु, यज्ञ आदि का रूप हूँ। मैं ही स्वधा अर्थात् पितृयज्ञ हूँ, मैं ही औषध अर्थात् यज्ञ में काम आने वाले व्रीहि यव आदि अन्न हूँ। मैं ही मन्त्र हूँ, मैं ही हवि हूँ, मैं ही अग्नि हूँ और हवन करना रूप कर्म भी मैं ही हूँ।

इस पद्य में "**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**" (४।२४) इत्यादि पूर्वोक्त पद्य का ही विस्तार है। भक्तिमार्ग में निरत पुरुषों को भी इसी भावना से यज्ञ आदि करते रहना चाहिए। इसी आशय से पूर्व पद्य का भाव यहाँ दोहराया गया है। (१६)

पूर्वोक्त कथन से विश्व के रूप में उत्पन्न होनेवाला मुझे भक्त लोग न समझ लें, इस भ्रमनिवृत्ति के लिए अग्रिम पद्य कहा जाता है कि इस जगत् का पिता अर्थात् पैदा करनेवाला मैं ही हूँ और माता भी मैं ही हूँ, अर्थात् मातारूप शक्ति भी मुझसे पृथक् नहीं है, अपितु मेरा ही रूप है और धाता अर्थात् जगत् का पालन पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ। लोक में देखा जाता है कि प्रत्येक पुरुष के जैसे पिता माता आदि होते हैं ऐसे ही पितामह, पितामही आदि भी होते हैं इसी प्रकार जगत् के पिता आप है तो पितामह भी कोई होगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए कहा गया कि पितामह भी मैं ही हूँ अर्थात् मेरा उत्पादक और कोई नहीं है। अथवा पितामह शब्द ब्रह्मा का

वाचक भी प्रसिद्ध है वही यहाँ लिया जाय तो अर्थ होगा कि ब्रह्मा भी मेरा ही रूप है। जगत् में जो कुछ जानने की वस्तु है, वह मैं ही हूँ। इससे छान्दोग्य उपनिषद् में कही गई उस प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं कि एक के जानने से ही सबका ज्ञान हो जाता है। मृत्तिका सुवर्ण आदि को स्वयं ही पहचान लेता है कि ये मृत्तिका सुवर्ण आदि के बने हुए ही हैं। इसी प्रकार सब प्रपञ्च के कारण रूप मुझे जान लेने पर सब प्रपञ्च का ज्ञान हो जाता है, शेष कुछ नहीं रहता एवं सबको पवित्र करने वाला भी मैं ही हूँ। प्राणियों में जो मलिनता आ जाय, वह मेरे स्मरण से ही दूर हो जाती है। अथवा सबको पवित्र करनेवाले जो गङ्गा आदि तीर्थ हैं वे भी मेरा रूप हैं। सब वेदों का सार जो स्मृति ब्राह्मण आदि में ओङ्कार को बतलाया है, वह ओङ्कार भी मेरा ही रूप है। अथवा योगसूत्रों के अनुसार यह समझना चाहिये कि ओङ्कार का वाच्य मैं ही हूँ। यहाँ वाच्य और वाचक का अभेद समझ कर ओङ्कार को अपना रूप बतलाया गया। उस ओङ्कार के विस्तार रूप जो भेद हैं, जो कि ऋक्, साम और यजुः नाम से प्रसिद्ध हैं, वे मेरा ही रूप हैं अथवा पूर्ववत् यह भी समझो कि उन वेदों में मैं ही कहा गया हूँ। शब्द और अर्थ का अभेद मानकर ही वेदों को अपना रूप बतलाया गया। वस्तुतः इस पद्य के चतुर्थ चरण का पूर्वोक्त पद्य से ही सम्बन्ध समझना चाहिए, क्योंकि उस पद्य में यज्ञ के अङ्गों का विस्तार बतलाया गया है और ये तीनों वेद भी यज्ञ के ही विस्तृत अङ्ग हैं।

यहाँ पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि वेद के विषय में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं कि वेद तीन हैं अथवा चार हैं। ये दोनों ही बातें इसलिए एक रूप ही मानी जाती हैं कि रचना भेद से तो वेद तीन ही होते हैं। रचना तीन प्रकार की हुआ करती है–गद्यरूप, पद्यरूप और गानरूप। जो किसी छन्द में बधी हुई न हो प्रकीर्णक हो उसे गद्यरूप रचना कहा जाता है। वही जब किसी खास मर्यादा में बाँध दी जाय तो उसे पद्यरूप रचना कहा करते हैं और वही पद्य रचना जब गान के रूप में गाई जाने योग्य बना दी जाय तो उसे गीतिरूप रचना कहा करते हैं। गद्य का ही नाम यजुः, पद्य का नाम ऋक् और गीति का नाम साम है। इस प्रकार वेद तीन ही कहे जाते हैं, क्योंकि रचना का कोई अन्य प्रकार नहीं बचता। अथर्ववेद का जो गद्यभाग है वह यजुः की गणना में, पद्यभाग ऋक् की गणना और गान का भाग यदि कोई मिले तो वह साम की गणना में आ जायेगा। किन्तु सम्पूर्ण वेद को यदि यज्ञ करने वाले ऋत्विजों के अनुसार बाँटा जाय तो वेद चार हो जाते हैं, क्योंकि प्रत्येक छोटे बड़े यज्ञों में चार ऋत्विक् अवश्य होते हैं–होता, उध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। देवताओं का आवाहन करने वाला, अर्थात् स्तुतिपाठ से उन्हें बुलाकर सम्मुख बैठाने वाला "होता" कहा जाता है। गाकर उन देवताओं की स्तुति करनेवाला "उद्गाता"

तथा आहुति देनेवाला "अध्वर्यु" कहा जाता है। इन तीनों के कार्यों का निरीक्षण कर त्रुटि होने पर उन्हें सावधान करने वाला और उस त्रुटि का प्रायश्चित्त या कोई विघ्न होने पर शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्म करके उन विघ्नों का निवारण करने वाला "ब्रह्मा" कहा जाता है। इनमें होता के पढ़ने का होतृकर्म सिखाने वाला ऋग्वेद, अध्वर्यु कर्म की शिक्षा देने वाला यजुर्वेद, उद्गाता के पढ़ने का सामवेद और ब्रह्मा के पढ़ने योग्य अथर्व वेद नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि ब्रह्मा को तीनों के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए वे तीनों वेद भी पढ़ना आवश्यक होता है किन्तु शान्तिक, पौष्टिक आदि कर्मों के लिए अथर्ववेद भी उसे पढ़ना चाहिए। तात्पर्य यह हुआ कि "ब्रह्मा" चतुर्वेदी हुआ करता है। इस प्रकार चार वेदों की गणना भी युक्तियुक्त होती है। इसलिए तीन और चार–यहाँ संख्या भेद देखकर कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए और कई महाशय जो यह कल्पना कर बैठेते हैं कि अथर्ववेद पीछे का बनाया हुआ है, वह कल्पना उनकी निःसार ही है। यहाँ तीन वेदों का ही नाम आया, वह रचना क्रम से ही है। कई व्याख्याकार यहाँ "च" पद से अथर्ववेद का भी ग्रहण करते हैं। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि इन सब का ग्रहण पूर्व पद्य के मन्त्र पद से हो चुका था, फिर उनका नाम लेना यहाँ पुनरुक्ति मात्र ही है ? उनकी उस शङ्का के निवारण के लिए इन वेद प्रसिद्ध शब्दों का वैज्ञानिक अर्थ भी यहाँ लिख दिया जाता है।

मनुष्य के शरीर की अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ तो अपने समीप आये हुए अर्थों का ही ग्रहण करती हैं, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय दूर के पदार्थों को भी देख सकती हैं। दूर के पदार्थों के साथ शरीर स्थित इन्द्रिय का सम्बन्ध कैसे हो जाता है और बिना सम्बन्ध के इन्द्रिय के द्वारा दूरस्थ पदार्थों का ग्रहण कैसे हो जाता है ? इस विषय पर स्वदेशीय व विदेशीय विद्वानों की भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ हैं। हमारे यहाँ नैयायिकों ने माना है कि हमारी चक्षुरिन्द्रिय ही तैजस होने के कारण दूर के पदार्थों के समीप चली जाती है। वैदेशिक विद्वान् मानते हैं कि प्रकाश की किरणें भिन्न-भिन्न पदार्थों का स्पर्श कर हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर वैसा आकार बना देती हैं, इससे ही हमें दूर के पदार्थों का भी ग्रहण हो जाता है। ये सब कल्पनाएँ दूषित हैं। इनकी उपपत्ति ठीक नहीं जमती। इसका विस्तृत विवेचन हम अपने "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति" नाम के ग्रन्थ में लिख चुके हैं। यहाँ अप्रस्तुत होने के कारण उसका विशेष विस्तार नहीं किया जाता। यहाँ इतना ही कहना है कि वैदिक विज्ञान में सब जड़चेतनात्मक के अन्तःप्रविष्ट एक प्रणशक्ति मानी जाती है। प्राणशक्ति ही उन पदार्थों का संघटन भी करती है और उन पदार्थों पर ही बैठकर दूर तक भी फैलती है। पदार्थों का संघटन करनेवाली प्राणशक्ति को "चित्य" और उनपर बैठकर दूर तक फैलनेवाली प्राणशक्ति को वैदिक परिभाषा में "चितेनिधेय" कहा जाता है। वह चितेनिधेय प्राणशक्ति अपनी शक्ति के अनुसार

जहाँ तक फैलती है, उस फैलाव में जितने पदार्थ अन्तर्गत हो जाते हैं, उनका ही हमें चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा ग्रहण हुआ करता है। हमारी चक्षुरिन्द्रिय की प्राणशक्ति भी इसी प्रकार दूर तक फैला करती और भिन्न-भिन्न पदार्थों की प्राणशक्ति भी इसी प्रकार फैलती है। इन दोनों प्राणशक्तियों का योग होने पर पदार्थ देखने में आता है। गृद्ध आदि प्राणियों की चक्षुरिन्द्रिय में दूर तक फैलने शक्ति रहती है, इससे वे दूरतक पदार्थों को भी देख सकते हैं। प्रत्येक पदार्थ का जो एक आकार होता है, वह "ऋक्" कहा जाता है और उसका अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार प्रसार जहाँ तक हुआ हो वह उसका साम मण्डल होता है तथा पदार्थ के स्थिति के प्रदेश और मध्य में जितने मण्डल बनते हैं, वे सब यजुर्मण्डल नाम से कहे जाते हैं। प्रकाश, सूर्य ओर दीपक आदि में इन मण्डलों का दर्शन हमें स्फुट रूप से हो जाता है। जैसा कि चारों ओर फैले हुए अन्धकार के बीच एक दीपक रखा जाय, तो उस घने अन्धकार में उस दीपक के फैलाव का एक मण्डल स्पष्ट दिखाई देगा। इसी प्रकार का सूर्यमण्डल का जो एक बृहत्साम अर्थात् उसक फैलाव का अन्तिम मण्डल है, वही "ब्रह्माण्ड" कहा जाता है। सूर्य मण्डल के सम्बन्ध से इन ऋक्, यजुः और साम का निरूपण शतपथ आदि श्रुतियों में स्पष्ट रूप से मिलता है। जगत् में चार प्रकार के पदार्थ देखे जाते हैं। एक "स्वयंज्योति" जैसे सूर्य, अग्नि आदि। दूसरे "परज्योति" जो दूसरे के प्रकाश लेकर अपनी चमक दिखाते हैं। जैसे चन्द्रमा, सरोबर के जल आदि। तीसरे प्रकार के वे पदार्थ हैं, जिनमें चमक तो नहीं होती, किन्तु रूप उनका दूर तक दिखाई देता है। जैसे कि पृथिवी के बने पदार्थ। वे रूपज्योति नाम से जाते हैं और जिनमें रूप भी नहीं है वे "अज्योति" कहे जाते हैं। वे वायु पदार्थ हैं। इनमें से आदि के तीनों प्रकार से पदार्थों के ऋक्, यजुः और साम ये तीनों मण्डल बनते हैं तथा इनके कारण ही दूर के पदार्थ भी हमें दिखाई दिया करते हैं। यह वैज्ञानिक वेदों संक्षिप्त निरूपण हुआ।

प्रकृत पद्य में ऋक, यजुः और साम पद से इन वैज्ञानिक पदार्थों को भी लिया जा सकता है। इससे "मन्त्र" शब्द के अर्थ के साथ पुनरुक्ति नहीं रहेगी।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने शीर्षकों से यह सूचित किया है कि "अहं क्रतुरहं यज्ञः" इत्यादि पद्य से यज्ञ के सब उपकरण मिलाकर जैसे सबमें यज्ञरूप एकत्व की भावना की जाती है और पितामाता आदि को मिलाकर जैसे एक कुटुम्ब, एवं ऋक्, साम और यजुः आदि वेद विभागों पर जैसे वेदत्व की एक भावना होती है, इसी प्रकार प्रकृति के प्रपञ्च में फैले हुए सब प्रकार के पदार्थों में एक ईश्वर-अव्यय की भावना कर उस रूप में अव्यय पुरुष की उपासना का यहाँ विधान हुआ है। (१७)

बाईसवाँ-पुष्प

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ।।१८।।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ।।१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ।।२०।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयी धर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ।।२१।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।२२।।

पूर्व पद्यों में कही गई अपनी व्यापकता का ही आगे भी विस्तार करते हैं कि मैं ही सबकी गति हूँ, जहाँ प्राप्त होकर सब प्राणी विश्राम किया करते हैं, उस गन्तव्य स्थान को गतिशब्द से कहा जाता है। इसका तात्पर्य है कि संसार में भटकते हुए सब प्राणी मुझमें ही आकर विश्राम लेते हैं, अर्थात् मुझे प्राप्त करने के अनन्तर फिर कहीं जाना नहीं पड़ता और मैं ही सबका भर्त्ता अर्थात् धारण और पोषण करने वाला हूँ तथा मैं ही सबका प्रभु अर्थात् अपने अपने कार्यों में सबको नियुक्त करने वाला और उनका नियन्त्रण करने वाला अर्थात् उनके कर्मों को प्रत्यक्ष रूप से देखने वाला हूँ एवं मैं ही सबका निवास अर्थात् आधार रूप हूँ। मेरे ही आधार पर सब प्राणी ठहरे हुए हैं। सबका 'शरण' अर्थात् जो मेरी शरण में आ जाते हैं उन सबको दुःख से बचाने वाला मैं ही हूँ। मैं सब प्राणियों का 'सुहृत्' हूँ, अर्थात् उनसे कोई उपकार न चाहता हुआ सदा उनका भला ही किया करता हूँ। जैसे कि मित्र वही होता है जो बदला न चाहता

हुआ भलाई ही किया करे। ऐसा ही मुझे सब प्राणियों का मित्र समझो। इसी प्रकार स‹ प्राणियों का "प्रभव" अर्थात् उत्पन्न करने वाला, 'प्रलय' अर्थात् सबको अपने में ली‹ करने वाला और "स्थान" अर्थात् उत्पत्ति और लय के मध्य में उनकी स्थिति रख‹ वाला भी मैं ही हूँ एवं "निधान" अर्थात् जहाँ सब प्राणी आगे भोगने के लिए अप‹ कर्मों को स्थापित करें वह भी मैं ही हूँ। मैं ही सबका बीजरूप हूँ, अर्थात् मुझसे ‹ सब प्राणी प्रकट होते हैं, किन्तु लोक में देखा जाता है कि बीज स्वयं नष्ट होकर अङ्कु‹ को पैदा किया करता है, मैं ऐसा नहीं हूँ। मैं स्वयं "अव्यय" अर्थात् अविनाशी रहत‹ हुआ ही सबको उत्पन्न किया करता हूँ।

इस पद्य में गति और प्रलय शब्दों के अर्थ में, निवास, निधान और स्थान शब्द‹ के अर्थ में तथा प्रभव और बीज शब्दों के अर्थ में पुनरुक्ति प्रतीत होती है, अर्थात् ए‹ ही अर्थ को बार बार कहा गया है, ऐसा जान पड़ता है। इसके समाधान के लि‹ व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किये हैं। जैसा कि श्रीवल्लभाचार्य ने प्रलयशब्द क‹ अर्थ पापों का नाशक किया है और निवासशब्द का पूर्वपद्य से सम्बन्ध मिलाक‹ यज्ञभूमि अर्थ किया है तथा स्थान शब्द का अर्थ तीर्थ, क्षेत्र आदि किया है और 'निधान‹ शब्द से वे भी पूर्व पद्य का स्मरण कर यज्ञपात्र स्रुवा चमस आदि, जिनमें कि हो‹ करने के पदार्थ रखे जाते हैं उन्हें लेते हैं एवं "प्रभव" शब्द का अर्थ यज्ञफल क‹ उत्पादक ही मानते हैं।

एवं श्रीपुरुषोत्तमजी निवासशब्द का अर्थ जीव का निवास-देह मानते हैं। इसी प्रकार श्रीमधुसूदनसरस्वती प्रभव और प्रलय शब्दों को भावसाधन मानकर उसक‹ केवल उत्पत्ति और विनाश ही अर्थ करते हैं। यह सब व्याख्याकारों की क्लिष्ट कल्पना ही है और किसी भी प्राचीन व्याख्या से पुनरुक्तियों का पूरा समाधान नहीं होता। इसी अभिप्राय से श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने इस पद्य को अव्यय पुरुष का अक्षर और क्षर के साथ क्या क्या सम्बन्ध है, यही निरूपण करने वाला माना है, "अव्ययम्" यह नपुंसक लिङ्ग का निर्देश सन्निहित बीजशब्द के साथ होने के कारण ही किया गया है। वैसे अव्यय तो सब लिङ्गों से अतीत है। जो पद समीप में हो उसके अनुसार ही लिङ्ग अव्यय शब्द में भी कर दिया जाता है। अव्यय पुरुष की उन्होंने अपने ग्रन्थों में पाँच कलाएँ मानी हैं—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। उन पाँचों का अक्षर और क्षर के परिणाम भूत जगत् के पदार्थों के साथ क्या क्या सम्बन्ध होता है, यही इस पद्य में पृथक् पृथक् बतलाया गया है। अवच्छेदक के भेद से सब पुनरुक्तियों का समाधान हो जाता है। गतिशब्द आनन्द के लिए कहा गया है। आनन्द ही सबका प्राप्य स्थान है। आनन्द में पहुँच कर फिर प्राणियों को और कहीं जाने की इच्छा नहीं रहती। प्रभु,

भर्ता और निवासशब्द प्राण के अभिप्राय से कहे गये हैं, क्योंकि प्राण ही सबका धारण कर्त्ता है एवं सब प्राणी उसी के आधार पर रहते हैं, अतः निवास भी वही है और वही शरीरस्थ सब पदार्थों का प्रभु भी है। जैसा कि उपनिषदों में वर्णित है कि अन्य सब इन्द्रियों के क्रमशः निकलने पर भी शरीर स्थित रहा, किन्तु प्राण के निकलने की तैयारी करने पर ही सब उसके साथ ही निकलने लगे, तब उससे सबने प्रार्थना की कि आप ही हम सबसे बड़े हैं आप न जाइये, आपके बिना हम नहीं रह सकते।

साक्षी, प्रभव, प्रलय और स्थान ये शब्द मनरूप अव्यय पुरुष की कला के लिए कहे गये हैं, क्योंकि मन यह अव्यय पुरुष की कला पाँचों कलाओं के मध्य में गिनी जाती है। वही पूर्व की कलाओं के साथ मिलकर मुक्ति का साक्षी बनता है और आगे की कलाओं के साथ मिलकर सृष्टि और प्रलय दोनों का साक्षी होता है। प्राण और वाक् उसी से निकलते हैं व उसी में प्रलीन होते और उसी के आधार पर स्थिर रहते हैं। बीज और निधान शब्द पांचवीं कला वाक् के लिए कहे गये हैं, क्योंकि वाक् का ही परिणाम सब पदार्थ हैं। वही पाँचों महाभूतों की जननी है। पाँचों महाभूतों को उत्पन्न करने वाली को ही वाक् कहा जाता है। सांख्य दर्शन की प्रक्रिया में भी वाक् अर्थात् शब्दतन्मात्रा सबसे पहिले उत्पन्न होकर आगे के सबकी उत्पादिका बनती है। उसी को सत्कार्यवाद की दृष्टि से "निधान" भी कहा गया है। इसका अभिप्राय है कि वाक् नया पदार्थ कोई उत्पन्न नहीं करती, पहिले जो उसमें वर्तमान रहते हैं उन्हें ही प्रकट कर देती है। शरण और सुहृत् शब्द इस पद्य में विज्ञान रूप कला के लिए कहे गये हैं, क्योंकि विज्ञान ही सबका शरण बनता है। आपत्ति में पड़े हुए प्राणियों की रक्षा ज्ञान ही करता है और वह ज्ञान ही बिना प्रत्युपकार की इच्छा के मित्ररूप से सबकी भलाई करता रहता है।

इन्हीं बारह प्रकारों को पूर्णरूप से समझकर अव्ययरूप ईश्वर की सदा उपासना करते रहने से मनुष्यमात्र का कल्याण होता है—यही पद्य का सार हुआ। (१८)

आगे के पद्य में भी सब कार्यों का कर्तृत्व भगवान् अपने ऊपर ही लेते हैं कि हे अर्जुन ! मैं ही वसन्त और ग्रीष्म काल में तापरूप होकर सब प्राणियों को तपाता हूँ। वर्षाकाल में कभी-कभी वर्षा का अवरोध कर देता हूँ और कभी वर्षा मैं ही करता हूँ। देवताओं के लिए अमृतरूप और अन्य प्राणियों के लिए मृत्युरूप भी मैं ही हूँ। कहाँ तक कहूँ जो पदार्थ सामने दिखाई देते हैं वे सत् पदार्थ भी मेरा ही रूप है और जो दिखाई नहीं देते अर्थात् जिन शशविषाण, खपुष्प आदि का सर्वथा अभाव रहता है अथवा जो भूत और भविष्यत् काल के पदार्थ हैं, वह भी मैं ही हूँ। भाव और अभाव दोनों ही मुझसे पृथक् नहीं कहे जा सकते। इसीलिए सत्ता रूप से भगवान् भाव अभाव

दोनों में ही व्याप्त रहते हैं। जहाँ कुछ न दिखाई दे, वहाँ भी "नहीं है" इस 'है' पद से अभाव की सत्ता सिद्ध होती है। यही भाव पन्द्रहवें पद्य में एकत्व से व्यापक ब्रह्म की उपासना बतलाई गई है। (१९)

कर्मकाण्ड के मार्ग में जो लगे हुए हैं वे भी मेरा ही यजन करते हैं, यह बात आगे के दो पद्यों में कही जाती है कि जो तीनों वेदों के जानने वाल हैं। स्मरण रहे कि कर्मकाण्ड अनुष्ठान करने वालों को ही "त्रयीधर्म" में निरत पहिले द्वितीय और तृतीय अध्यायों में भी कह आये हैं और सबसे बड़ा सोम यज्ञ करते हुए उसमें सोम का पान करते हैं तथा उन सोम आदि यज्ञों के द्वारा अपने को पापों से मुक्त कर लेते हैं। इस प्रकार यज्ञों से मेरा ही यजन करते हैं और उन यज्ञों के फलरूप से स्वर्ग की प्राप्ति चाहते हैं, वे पवित्र इन्द्रलोक आदि लोकों को कर्म के अनुसार प्राप्त कर वहाँ देवताओं के विविध प्रकार के भोगों का भोग किया करते हैं। (२०)

इस प्रकार अपने कर्म के अनुसार बहुत काल तक स्वर्ग सुखों का भोग कर जब अपना किया हुआ कर्म समाप्त हो जाता है, तब वे फिर इसी मनुष्यों के लोक में आ जाते हैं। इस प्रकार वेद के कहे हुए कर्मकाण्ड को ही धर्म मानते हुए और भिन्न-भिन्न लोकों को प्राप्त करने की कामना से उसी में लगे हुए आवागमन के चक्र में पड़े रहते हैं। यह उपासना मार्ग को दृढ़ करने के लिए काम्यकर्म करने वालों की निन्दा प्रसङ्गागत की गई। (२१)

उस प्रकार प्रसङ्गागत कामनावालों की निन्दा कर फिर आगे उपासना का ही प्रसङ्ग लेते हैं कि इस प्रकार कामनाओं के फन्दे में न पड़कर जो केवल मेरा ही ध्यान करते हुए उपासना में लगे रहते हैं, उन निरन्तर मेरे ही लिए परिश्रम करने वालों का योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ अर्थात् उनके योग-क्षेम को अपने ऊपर मानता हूँ।

जो वस्तु प्राप्त न हो उसकी प्राप्ति को "योग" कहते हैं और जो वस्तु प्राप्त हो गई उसकी रक्षा को "क्षेम" कहते हैं। यह योग-क्षेम अनन्य भक्तों का मैं अपने ऊपर ही लेता हूँ। इसका तात्पर्य है कि जो भक्ति करते हुए भी अपने योगक्षेम की चिन्ता स्वयं किया करते हैं उनके योग-क्षेम की चिन्ता मुझे नहीं करनी पड़ती, उन्हें कुछ काल परीक्षा के लिए अपने बल पर ही छोड़ता हूँ। जैसा कि प्रसिद्ध गजेन्द्र जब तक अपना बल लगाता रहा, तब तक मैं उसकी रक्षा के लिए नहीं दौड़ा, किन्तु जब वह नि:सहाय होकर केवल मेरे ही आधार पर हो गया, तब मैंने शीघ्र दौड़कर उसकी रक्षा कर ली। इसी प्रकार द्रौपदी भी जब तक अपने बल से अपने वस्त्र को सम्हालती रही तब तक मैं उपेक्षा ही करता रहा, जब अपने बल का सहारा छोड़कर वह वस्त्र

को निराधार छोड़ बैठी तभी मैंने उसका वस्त्र बढ़ा दिया। यही बात अनन्य शब्द से सूचित की गई है कि जो अपना बल कुछ भी न लगाकर केवल मेरे ही आधार पर हो जाते हैं उनके योग-क्षेम का भार मैं ले लेता हूँ।

इस पद्य पर शिष्ट सम्प्रदाय में एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है कि एक भक्त सज्जन इसी पद्य के आधार पर योग-क्षेम की चिन्ता कुछ न करते हुए अनन्यभाव से ही भगवदुपासना में लग रहे थे, बारबार घर के लोगों के कहने पर भी उपार्जन की ओर बिल्कुल उदासीन रहते थे। एक बार जब घर के बालक क्षुधा से पीड़ित होकर रुदन करने लगे तो इनके चित्त में यह भाव आया कि संभवतः यह पद्य भगवान् का कहा हुआ नहीं है। भगवान् यदि ऐसा उपदेश देते तो अपनी कही हुई बात को इस प्रकार न भूल जाते। वे तो सर्वज्ञ हैं, उन्हें सदा ही सब विषयों का स्मरण रहता है। इससे यही प्रतीत होता है कि यह पद्य पीछे से किसी ने भगवद्गीता में मिला दिया है, भगवान् का कहा हुआ यह नहीं। इसी भावावेश में बहुत देर रह कर अन्त में उन्होंने पुरानी प्रथा के अनुसार इस पद्य पर हरितालिका लेप कर दिया और पुस्तक बन्द कर कहीं नित्यचर्या के लिए बाहर चले गये। जब कुछ देर बाद लौटकर आये तो देखते हैं कि सब बाल-बच्चे मिष्ठान्न खाते हुए खेल रहे हैं। आश्चर्य से भीतर जाकर देखा कि बहुत सा भोजन का सामान जो कि एक गृहस्थ को कई मास के लिए हो इतना भरा हुआ है। जब स्त्री से पूछा कि यह सामान कहाँ से आया तो वे कहने लगीं कि वाह, आपने ही तो भेजा है। अभी थोड़ी देर पहिले आपका भेजा हुआ एक अधेड़ सा बालक ही यह सब दे गया था और कह गया था कि आपने ही यह सब भिजवाया है फिर आप ही अनजान की तरह कैसे पूछ रहे हैं। इन्होंने आश्चर्यचकित होकर पूछा कि वह अधेड़ बालक कैसा था, क्या उसके कोई चिह्न भी था ? स्त्री ने कहा उसके नीचे का ओंठ पीला था। तब ये अपने किये पर घोर पश्चात्ताप करने लगे कि "मैं कैसा पतित हूँ कि मैंने भगवान् के ओंठ पर हरिताल लगा दी, यह सब भगवद्गीता तो खास भगवान् के मुख से निकली हुई आज भी मानों उनके ओंठ में ही विराजमान है, इस घोर पाप का मैं क्या प्रायश्चित्त कर सकूँगा" इत्यादि। जिसे सच्चा विश्वास हो उसके लिए सभी कुछ सम्भव है। (२२)

●

तेईसवाँ-पुष्प

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।।२३।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
नतु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।।२४।।
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।२५।।
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।२६।।
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।।२७।।
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ।।२८।।

यहाँ श्रोता के मन में यह शङ्का होना संभव हे कि जब आप ही सर्वरूप हैं सब यज्ञों के अधिष्ठाता रूप भी आप ही हैं–यह "**अधियज्ञोऽहमेवात्र**" इस पद्य से कह चुके हैं, तब फिर सोमपान आदि यज्ञों के द्वारा भी तो आपका ही आराधन हुआ, फिर यज्ञ करने वाले गमनागमनरूप संसारचक्र में क्यों पड़ते हैं ? इसका उत्तर भगवान् देते हैं कि जो पुरुष अन्य इन्द्रादि में भक्ति रखते हुए श्रद्धा से युक्त होकर उनका ही भजन करते रहते हैं, दोष देखने की जो चित्तवृत्ति मनुष्यों में स्वाभाविक होती है, उस वृत्ति की प्रतिबन्धक अर्थात् न होने देने वाली चित्तवृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। जिस मनुष्य की जिस देवता गुरु आदि पर श्रद्धा होती है, उस अपने श्रद्धास्पद के दोष दोने की चित्तवृत्ति ही उसकी कभी नहीं उठती। इसका शब्दार्थ है कि "श्रत्" अर्थात् मन का एक जगह चिपकना, उसका आधान अर्थात् स्थापन करना ही "श्रद्धा" है। हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! वे भी मेरा ही यजन करते हैं यह सत्य है, किन्तु वे विधिपूर्वक यजन नहीं करते। इसीलिए आवागमन रूप संसारचक्र में पड़े रहते हैं।

यहाँ "अविधिपूर्वक" शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्यजी अज्ञानपूर्वक कहते हैं

जैसा कि यहीं अग्रिम पद्य में कहा जाने वाला है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि सबके अन्तर्यामी रूप से मुझे न जानकर वे यज्ञादि करते हैं, इसीलिए मुक्तिरूप फल उन्हें नहीं मिलता।

श्रीशङ्करानन्दजी लिखते हैं कि "**ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः**" एवं "**अहं क्रतुरहं यज्ञः**" इत्यादि पद्यों से यज्ञ में जो अपनी व्यापकता बतला चुका हूँ, उस प्रकार का भाव उनमें नहीं रहता, यही अविधिपूर्वकता है। यह भी कहा जा सकता है कि कामनाओं को छोड़कर यज्ञादि करना ही मुख्यरूप से विहित है। वे वैसा नहीं करते क्योंकि उस पद्य में "कामकामाः" कहा गया है। इसलिए कामना बनी रहने के कारण ही उनकी संसारचक्र से निवृत्ति नहीं होती।

कई व्याख्याकारों ने अन्यदेवता पद से शिष्ट सम्प्रदाय में प्रसिद्ध या शास्त्रों में प्रसिद्ध पञ्चदेवोपासना का प्रसङ्ग उठाया है, किन्तु यज्-धातु यज्ञ अर्थ में ही सुप्रसिद्ध है और यज्ञ में इन्द्र वरुण देवताओं के ही उद्देश्य से हवि दी जाती है। इसलिए उनका वह प्रसङ्ग यहाँ ठीक नहीं उतरता। पञ्चदेवता तो ब्रह्म के ही स्थान में ध्यान की सुविधा के लिए माने जाते हैं। उनका निराकरण भगवद्गीता में नहीं है प्रत्युत अग्रिम विभूति अध्याय में उन्हें अपना रूप समझ कर उनकी उपासना ही सूचित की गई है। (२३)

पूर्व पद्य का ही स्पष्टीकरण आगे भी किया जाता है कि वास्तव में तो मैं अर्थात् जगदीश्वर ही सब यज्ञों की आहुति आदि का भोग करने वाला और सब यज्ञों का स्वामी हूँ, किन्तु केवल कर्मकाण्ड में लगे हुए मनुष्य मुझे यथार्थ रूप से नहीं जानते अर्थात् वे यज्ञ के अधिष्ठाता इन्द्र आदि को मुझसे पृथक् ही समझते हैं। इसीलिए स्वर्ग आदि लोक को भोगकर गिर जाते हैं। इस पद्य से भगवान् यही उपदेश देते हैं कि यज्ञ आदि कर्म भी भगवान् का व्यापक स्वरूप समझ कर ही करने चाहिये। बिना ज्ञान के कर्म मुक्तिप्रद नहीं हो सकते। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध है कि भगवद्गीता में कर्म ज्ञान और उपासना, इन तीनों की ही एक कड़ी जोड़ी हुई है। इसी अभिप्राय से लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि ज्ञानमूलक भक्तिप्रधान कर्मयोग गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है। मुख्य प्रतिपाद्यता के विषय में सन्देह करने वालों को भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनों की ही समुचित रूप से व्यवस्था है, किसी का विरोध नहीं। प्रधानता अपने अपने अधिकार के अनुसार मनुष्य भिन्न-भिन्न रूप में नियत कर सकते हैं। (२४)

जो परमात्मज्ञान से शून्य रहकर ही भिन्न-भिन्न कर्म किया करते हैं, उनकी परलोक गति भिन्न-भिन्न प्रकार की अग्रिम पद्य में बतलाई जाती है कि देवताओं का

यजन करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं, अर्थात् उनका भाव निरन्तर देवताओ में ही रहा करता है, इसलिए मृत्यु के बाद भी वे देवरूप होकर देवताओं में ही मिलते हैं और जिनका व्रत अर्थात् मन की स्थिति पितरों की ओर होती है, वे पितरों को ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् मृत्यु के अनन्तर पितृलोक में जाते हैं और जो भूतों की अर्थात् अबरकक्षा के यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि की इज्या अर्थात् पूजा में ही लगे रहते हैं, वे अपने पूज्य भूतों को ही प्राप्त करते हैं। किन्तु मेरा यजन करने वाले अर्थात् सबको मेरा ही रूप समझ कर जो यज्ञ आदि या उपासना करते रहते हैं, वे मुझे प्रापत करते हैं।

यहाँ अन्त के "अपि" शब्द को अन्य व्याख्याकारों ने "तु" इस अव्यय के अर्थ में माना है। इसलिए पूर्व के तीन पदों से विलक्षणता दिखाई गई कि यज्ञ या उपासना में परिश्रम तो समान ही होता है, किन्तु ज्ञान और अज्ञान के कारण फल में इतना भेद होता है कि जो देव पितृलोक आदि को प्राप्त करते हैं, उन लोकों के विनाशी होने के कारण उनका फल भी विनाशी होता है, अर्थात् जब वे लोक नष्ट हो जाते हैं तो उन्हें प्राप्त कर लेते हैं, मेरा विनाश कभी होता नहीं, इस कारण वे भी विनाश के भय से सदा बचे रहते हैं। किन्तु श्रीवल्लभसम्प्रदानुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी "अपि" शब्द को अपने ही अर्थ में मानते हैं। वे इस पद्य का आशय यह निकालते हैं कि देवता आदि का यजन करने वाले अर्थात् यागादि कर्मकाण्ड में लगे हुए कर्म के अङ्ग रूप से कर्म का अङ्ग समझकर मेरी उपासना करने वाले पुरुष भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि मैं ही सर्वरूप हूँ। देवता पितर आदि भी मेरा ही रूप हैं, इसलिए उन्हें प्राप्त करने वाले भी परम्परा सम्बन्ध से मुझे ही प्राप्त करते हैं, किन्तु इतना भेद रहता है कि देवता पितर आदि के उपासक परम्परा से मुझे प्राप्त करते हैं और मुझे ही सर्वरूप मानकर ज्ञानपूर्वक मेरी उपासना करने वाले सीधे ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं। इससे अन्त में सबको ही भगवत्प्राप्ति बतलाई गयी। केवल साक्षात् या परम्परा मात्र का ही भेद रहता है।

कई व्याख्याकार तीसरे चरण के भूतोपासकों में भद्रकाली, दुर्गा आदि के उपासकों को लेते हैं। यह उनका साम्प्रदायिक आग्रह मात्र ही है। दुर्गा आदि तो पञ्चमहाशक्तियों में ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में मानी गयी हैं और उनकी उपासना परब्रह्म के पाँच रूपों की उपासना के अन्तर्गत है। उन्हें भूतोपासना में लेना सर्वथा आग्रह मात्र है। ऐसे आग्रह का भगवद्गीता में कोई स्थान नहीं है। जैसा कि कई मनचले मनुष्य "मद्याजिनः" पद का "मद्यमजन्ति" विग्रह कर मद्य पीनेवाले–यह अर्थ कर लेते हैं। वह अर्थ जिस प्रकार उपहास की सामग्री मात्र है। इसी प्रकार इन साम्प्रदायिक आग्रह वालों का दुर्गा,

भद्रकाली आदि अर्थ भी केवल उपहास की ही सामग्री है। वास्तव में तो इस पद्य में जो "पितृव्रत" शब्द आया है, इससे यही ध्वनित होता है कि छान्दोग्य उपनिषद् में जो तीन प्रकार की गतियाँ बतलाई गयी हैं, जिनका कि विस्तृत विवरण हम अष्टम अध्याय के अन्त में श्राद्ध के व्याख्यान में लिख चुके हैं, उसी का यहाँ संक्षिप्त संकेत स्पष्ट विदित होता है कि देवताओं का यजन करने वाले देवयान मार्ग में जाते हैं, पितरों के उपासक पितृयाण मार्ग में और जिनका मन भूतों में अर्थात् धन, सम्पत्ति, पशु आदि में ही लगा रहता है वे उन भूतों को ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् इसी लोक में उनका आवागमन होता रहता है, कोई परलोक गति उनकी नहीं होती। किन्तु इन सब कर्मों से अपना पीछा छुड़ाकर जो सदा परमात्मा में ध्यान लगाते हैं, वे मुझे अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त कर लेते हैं–यही पद्य का आशय उपयुक्त प्रतीत होता है। (२५)

पूर्वोक्त प्रकार से मेरी भक्ति सबसे बड़ा फल देने वाली है, इतना ही नहीं, किन्तु देवताओं की भक्तिरूप यज्ञादि में जितना द्रव्य व्यय और आडम्बर करना पड़ता है, वह भी मेरी भक्ति में नहीं है–यह बात अग्रिम पद्य में कहते हैं कि जो कोई पुरुष भक्ति से अर्थात् प्रेम से पत्ता पुष्प कच्चे फल या अन्ततः जल मात्र भी मुझे अर्पण करता है, वह प्रेम से अर्पण किया गया है ऐसा मानकर मैं उसका स्वीकार कर लेता हूँ। मैं यद्यपि सदा ही आप्तकाम निरन्तर तृप्त हूँ, तथापि आत्मा अर्थात् अन्तःकरण को प्रयत अर्थात् वश में रखकर प्रेम से यह दिया गया है, ऐसा समझ कर ही मैं उसका स्वीकार अवश्य करता हूँ।

यहाँ "अश्नामि" पद दिया गया है। उसका अर्थ भोजन करना ही होता है और इस पद्य में फल या जल दो ही भोज्य पदार्थ कहे गये हैं। पत्र या भोज्य पदार्थ नहीं, इससे कई व्याख्याकार यह तात्पर्य निकालते हैं कि जैसे भक्त लोग प्रेम में विह्वल होकर मुझे सब कुछ देते हैं। इसी प्रकार मैं भी उनके प्रेम का आदर करता हुआ सब पदार्थों को ही खा लेता हूँ। चाहे वे खाने की वस्तु हो या न हों।

भगवान् कृष्ण ने यह केवल वाचिकरूप से ही नहीं कहा है, किन्तु कई जगह क्रियारूप में भी इसे दिखलाया है। जैसा कि महाभारत के उद्योगपर्व के भगवद्यान पर्व में स्पष्ट लिखा है कि जब दुर्योधन ने अनेक सामग्री बनाकर आपसे भोजन का आग्रह किया, तब आपने यही उत्तर दिया कि भोजन दो प्रकार से होता है या तो परस्पर प्रेम हो तब भोजन किया जाता है, अथवा कोई पुरुष आपत्ति में पड़ा हो उसे भोजन न मिलता हो तब वह कहीं भी खा लेता है। यहाँ दोनों ही बातें नहीं हैं। न तो तुम्हारा हमारे साथ प्रेम है, न हम पर ऐसी आपत्ति ही है। "नच संप्रीयसे राजन् नचैवापद्गता वयम्"। इसी के अनुवाद रूप से लोक में भी एक कहावत प्रसिद्ध है कि–

"तोहिं प्रीति न मोहि आपदा"।

इस प्रकार दुर्योधन को उत्तर देकर आप विदुर के घर भोजन करने चले गये। महाभारत में तो इतना ही प्राप्त होता है, किन्तु शिष्टसम्प्रदाय में यह भी प्रसिद्धि है कि जिस समय आप विदुर के घर पहुँचे, उस समय विदुर कहीं कार्यवश बाहर गये हुए थे। आपने वहाँ पहुँच कर विदुर की पत्नी से कहा कि मुझे बड़ी भूख लगी है, कुछ खाने को शीघ्र दो। तब विदुर की स्त्री शीघ्रतावश कुछ केले घर में से उठा लाई और प्रेम में इतनी विह्वल थी कि फलों का गुद्दा तो नीचे डालती जा रही थी और छिलके भगवान् के हाथ में देती जाती थी, आप बड़े आनन्द से उन छिलकों को ही खा रहे थे। इतने में विदुर बाहर से आ गये और अपनी स्त्री से कहने लगे कि अरी पगली तू यह क्या कर रही है। श्रीकृष्ण को ये छिलके क्यों खिला रही है। तब उसे भी होश आया और छिलके फेंककर फल भगवान् के हाथ में देने लगी, तब भगवान् कृष्ण ने उपालम्भ देते हुए विदुर से कहा कि विदुर ! तुमने आनन्द ही बिगाड़ दिया। उस प्रेम के छिलके के समान भोजन का आनन्द अब इन फलों में कहाँ है आदि।

इस पद्य में भक्ति पद दो बार आया है। एक "भक्त्या प्रयच्छति" और दूसरा "तदहं भक्त्युपहृतम्"। इसका आशय श्रीमधुसूदनसरस्वती आदि व्याख्याकार यह बतलाते हैं कि जो पदार्थ दिये जाँय, उनमें मुख्य रूप से भक्ति ही प्रधान रहनी चाहिए, अन्य किसी गुण की विशेष आवश्यकता नहीं। जैसा कि भक्तों के बनाये हुए इस पद्य में भी स्पष्ट कहा है कि –

व्याधस्याचरितं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाःकिमु नामरूपमधिकं किंतत्सुदाम्नो धनम् ।
वंशःको विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं पौरुषम्
भक्त्या तुष्यति केवलं नहि गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः ।।

अर्थात् भगवान् केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, अन्य गुणों की कोई आवश्यकता नहीं। अन्य गुणों का अभाव प्रसिद्ध भक्तों में बतलाया जाता है कि व्याध (शिकारी) में शुद्ध आचार कहाँ था। ध्रुव की अवस्था क्या थी, गजेन्द्र में कौन सी विद्या थी, कुब्जा में रूप कहाँ था। सुदामा के पास कौनसा धन था, विदुर का वंश कौन सा ऊँचा था, (वे तो दासी-पुत्र थे) यादवों के राजा उग्रसेन का पुरुषार्थ क्या था। (जिन्हें अपने पुत्र ने ही कैद कर दिया था) तथापि भक्ति के कारण ही ये सब भगवान् के प्रिय बने और प्रसिद्ध भक्त कहलाये।

कदाचित् कहो कि पद्य में जो "प्रयतात्मनः" पद आया है उससे तो यह भी सिद्ध होता है कि भक्त मनुष्य का अन्तःकरण भी पवित्र रहना चाहिये। इससे तो अन्तःकरण में दोष न होना भी स्पष्ट बतलाया गया, फिर गुणों की आवश्यकता नहीं कैसे मानी जायेगी ? तो इसका उत्तर है कि भगवान् में प्रेम होने पर अन्तःकरण तो अपने आप ही पवित्र हो जाता है। उसके लिए और विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होती। (२६)

मैं परमात्मा इतना सुलभ हूँ, ऐसा सोचकर हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तू जो कुछ करता है या अपने देह धारण के लिए जो कुछ खाता है या परलोक में शुभ फल प्राप्त करने के लिए जो हवन, दान या तप करता है उन सब कर्मों को मुझ परमात्मा को ही समर्पण कर दिया कर।

यहाँ पहिले पद से सामान्य रूप से सभी कर्म कह दिये गये। आगे के पदों में उस प्रथम पद का ही विस्तार किया गया है। प्राणी मात्र को देह धारण के लिए भोजन आवश्यक होता है, इसलिए उसे सब कर्मों में प्रथम स्थान दिया गया। आगे जो यज्ञ, दान और तप नाम के तीन कर्मों का विवरण है वह उपनिषद् के आधार पर है। छान्दोग्य उपनिषद् में आश्रमों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि "**त्रयोधर्मस्कन्धाःयज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयः**" (छा० १।२३।१)। इसका तात्पर्य है प्रथम आश्रम सबका उपजीव्य होने के कारण गृहस्थाश्रम है। उसमें तीन प्रकार के धर्म होते हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान। दूसरा वानप्रस्थ आश्रम बतलाया है, जिसमें तपस्या ही मुख्य है और तीसरा आश्रम वहाँ नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अर्थात् जीवन भर ब्रह्मचारी ही रहकर समय व्यतीत करना—यह बतलाया गया है। आगे कहा है कि इन तीनों आश्रमों का युक्त रूप से पालन करने वाले उत्तमलोकों को प्राप्त करते हैं और जो ब्रह्म में ही अपना मन लगा देता है, अर्थात् चतुर्थ आश्रमी है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इनमें से यहाँ गृहस्थाश्रम के यज्ञ और दान दो धर्म ले लिये गये और तप वानप्रस्थाश्रम का ले लिया। इन्हीं तीनों अर्थात् यज्ञ, दान और तप का विवरण विशेष रूप से अट्ठारहवें अध्याय में भी किया गया है और आवश्यक कार्य माना गया है। बारहवें अध्याय में भी सबसे सरल अन्तिम भक्ति का उपाय इस कर्म समर्पण को ही बतलाया गया है। वहाँ केवल कर्म सामान्य का ही निर्देश है। यहाँ उन कर्मों के अवान्तर भेद भी लिखकर सबका अर्पण बतला दिया गया है। शिष्ट सम्प्रदाय में भी ऐसा प्रसिद्ध है कि कोई भी उत्तम कार्य कर के अन्त में यह बोल दिया करते हैं कि –

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा

बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतिस्वभावात्

करोमि यद्यत्सकलं परस्मै

नारायणायेति समर्पये तत्।

अर्थात् मैं जो कुछ अपने शरीर, वाणी, मन इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण या अपनी आदत के अनुसार करता हूँ, वह सब परतत्त्व नारायण को समर्पण कर देता हूँ। इस प्रकार के शब्द मात्र सभी शिष्ट लोग बोल दिया करते हैं, किन्तु अन्तःकरण में ऐसा भाव भी रखें तो उन्हें परमसिद्धि प्राप्त हो सकती है। (२७)

ऐसे सब कर्मों का आपको अर्पण कर देने से क्या फल होगा ? सो अग्रिम पद्य में बतलाते हैं कि ऐसा करने से तुमको कर्मों के जो शुभ और अशुभ फल होते हैं और वे ही कर्मों के बन्धन कहे जाते हैं, उन बन्धनों से छुटकारा पा जाओगे, अर्थात् फिर किसी भी अच्छे या बुरे कर्म का बन्धन तुम्हें नहीं रहेगा और कर्मों का फल छोड़ देना ही मुख्य संन्यास है। इसी को कर्मयोग भी कहा जाता है। इसलिए कर्म को मेरे लिए अर्पण कर देने से तुम्हारा आत्मा संन्यास और योग दोनों से युक्त हो जायेगा और इस शरीर से ही जीवन्मुक्त दशा में प्राप्त हो जाओगे तथा इस शरीर का त्याग करोगे तो मुझमें मिल जाओगे। (२८)

●

चौबीसवाँ-पुष्प

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ।।२९।।
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।३०।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।३१।।
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।३२।।
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।।३३।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ।।३४।।

आगे भगवान् कहते हैं कि मैं सब प्राणियों में एक रूप से ही रहता हूँ। मेरा न कोई शत्रु है और न मेरा कोई प्रिय ही है, किन्तु इतना होने पर भी जो भक्ति पूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मेरे ही आधार पर रहते हैं, इस कारण मैं भी उनमें सदा निवास किया करता हूँ।

यहाँ प्रश्न होगा कि तब तो आप भी सेवाप्रिय हुए ? जो आपका भजन या सेवा करे उनमें आप रहते हैं। जो सेवा न करें, उनमें नहीं रहते, ऐसी तो प्रायः सभी बड़े आदमियों की प्रकृति देखी जाती है कि वे सेवा करने वालों पर प्रसन्न रहते हैं और सेवा न करने वालों पर रुष्ट या उदासीन रहा करते हैं। फिर आपमें समतारूप विशेषता क्या हुई ? इसका उत्तर भगवान् ने उत्तरार्द्ध में दिया है कि वे मुझमें हैं, इसीलिए मैं भी उनमें रहता हूँ। इससे मेरी समानता में कोई बाधा नहीं पड़ती; जैसा कि सूर्य सबके लिए समान है। वह सबको ही गर्मी और प्रकाश देता है किन्तु जो मनुष्य गर्मी या प्रकाश न लेना चाहे, अपने घर की सब खिड़कियों को बन्द करके बैठा रहे तो उसे प्रकाश नहीं मिलेगा और इस कारण कोई सूर्य की विषमता नहीं बतला सकता। यह

पुरुष का ही दोष कहा जायेगा कि वह अपनी खिड़कियों को बन्द करके क्यों बैठा है। इसी प्रकार जो मनुष्य भगवान् से प्रेम नहीं करते अर्थात् अपनी मन बुद्धि आदि को उनकी तरफ न झुकाकर संसार में उन्हें लगाये रहता है, उसने मानों अपने शरीररूपी घर की वे खिड़कियाँ ही बन्द कर लीं, तब उसे भगवान् की कृपा न मिले तो इस कारण भगवान् में कोई विषमता नहीं हो सकती। इस प्रकार और भी दृष्टान्त देखिये कि अग्नि सबका ही शीत निवारण करता है। वह सबके ही लिए समान है, किन्तु जो मनुष्य छाती खोलकर उसके सामने बैठेंगे, उनका शीत निवारण अधिकता से होगा और जो दूर दूर ही रहेंगे, उनका शीत निवारण अल्प मात्रा में ही होगा। इससे अग्नि की भी कोई विषमता नहीं समझी जा सकती। इसी प्रकार कामधेनु, कल्पवृक्ष आदि ये सबके ही लिए समान हैं, किन्तु इनके पास जाने वाले ही इनसे लाभ उठाते हैं। इस कारण उनमें भी कोई विषमता नहीं समझी जाती। इसी प्रकार भगवान् से प्रेम करने वाले अपने प्रेम के कारण ही उनकी कृपा प्राप्त करते हैं। इससे भगवान् पर भी विषमता का दोष नहीं लगाया जा सकता। (२९)

आगे के पद्यों में भक्तिमार्ग सबके लिए सुलभ है, इस बात का प्रतिपादन किया जाता है। प्रथमतः अपने पुराने कर्मों के कारण कोई भी भक्तिमार्ग से वञ्चित नहीं हो सकता यही बतलाते हैं कि कोई भी मनुष्य चाहे कितना भी दुराचारी अर्थात् दुष्ट आचरण करने वाला पापी रहा हो, किन्तु यदि वह भी और तरफ से मन हटाकर मेरा भजन करने लगे तो उसे उस भजन करने की दशा में सत्पुरुष ही मानना चाहिये, अर्थात् पुराने पापों को याद कर अब उसका तिरस्कार किसी को नहीं करना चाहिये, क्योंकि अब वह अच्छे मार्ग में लग गया।

यद्यपि यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसा दुराचारी पापी मनुष्य भगवान् की भक्ति में लगेगा ही क्यों ? किन्तु ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि कर्मों की विचित्र महिमा है। कोई भी मनुष्य सदा ही पाप ही पाप करता हो ऐसा नहीं होता, अपितु पाप करने वालों से भी अच्छे कर्म भी कभी बन ही जाते हैं। इसी प्रकार बड़े धर्मपरायण रहने वालों से भी कभी कोई पापकर्म भी हो ही जाते हैं। सभी कर्म समय समय पर अपना फल देते ही रहते हैं। उन कर्मों के अनुसार ही मनुष्यों की चित्तवृत्तियाँ भी बना करती हैं। इस क्रम के अनुसार दुराचारियों में भी कभी किसी शुभ कर्म का उदय होने से उनकी चित्तवृत्ति भी भगवान् की भक्ति में लग सकती है। जैसा कि प्राचीनकाल से वाल्मीकि आदि की और वर्तमान युग के तुलसीदास एवं सूरदासजी आदि की भी कथा प्रसिद्ध है कि थोड़ा संकेत मिलते ही उनकी चित्तवृत्ति बदल गई और वे भगवान् के परम भक्त बन गये। (३०)

इसी बात को अग्रिम पद्य में भगवान् ने भी कहा है कि वह दुराचारी पुरुष भक्ति में लगते ही बहुत शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है, अर्थात् पूर्व की उसकी दुराचार की वृत्तियाँ अतिशीघ्र बदल जाती हैं और वह पक्का धर्माचरण करनेवाला बन जाता है तथा नित्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान् अर्जुन को ही यह अधिकार देते हैं कि हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! तुम स्वयं ही सबके सामने प्रतिज्ञा की घोषणा कर दो कि मेरा भक्त कभी भी नाश को प्राप्त नहीं हो सकता। जिसने मुझ परमात्मा में अपना मन लगा दिया, वह अवश्य ही सबसे बड़ा धर्मात्मा बनेगा और सबसे बड़ी मोक्षरूप शान्ति को अवश्य ही प्राप्त करेगा। (३१)

आगे जाति पाँति का भी कोई बन्धन भक्ति मार्ग में नहीं है इसका निरूपण करते हैं कि हे पार्थ ! मेरा आश्रयण करने वाले अर्थात् परमात्मा की ही भक्ति करने वाले, जिन्होंने पापयोनियों में जन्म प्राप्त किया है "पापयोनि" पद से यहाँ अन्त्यज या म्लेच्छ आदि लिए जाते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ये चार वर्ण होते हैं, इसी प्रकार इन चारों वर्णों से बहिर्भूत मनुष्यों को भी चार भागों में ही बाँटा गया है। जिन भागों के नाम हैं–अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दास और दस्यु। अन्त्यज और अन्त्यावसायी भिन्न-भिन्न वर्णों का परस्पर मेल होकर वर्णसङ्कर रूप से उत्पन्न हुआ करते हैं और दास वे हैं जो निकृष्ट जाति के होकर भी चारों वर्णों के द्वारा सेवक रूप से स्वीकार कर लिये जाते हैं एवं जो वर्णों से सर्वथा ही अस्वीकृत हैं वे "दस्यु" नाम से कहे जाते हैं। उनके भी भगवान् मनु ने दो भेद किये हैं। एक आर्यभाषा बोलने वाले और दूसरे म्लेच्छभाषा बोलने वाले। संस्कृत से क्रमशः विकृत होकर जो अपभ्रंश भाषाएँ बनी हैं वे आर्यभाषा कहलाती हैं और जो मूलतः ही संस्कृत से भिन्न हैं वे म्लेच्छभाषा कही जाती हैं। ये सब वर्णों से बहिर्भूत ही "पापयोनि" शब्द से लिये गये हैं। पाप करने से ही ये सब योनियाँ मिलती हैं, इस कारण इन्हें "पापयोनि" कहा गया। इनके अतिरिक्त वर्णों में अन्तर्गत होने पर भी जो वेद का अधिकार नहीं रखते वे स्त्री और शूद्र भी यहाँ इसीलिए गिने गये कि वे भी वेदोक्त कर्मकाण्ड में अधिकारी न होने के कारण भक्ति मार्ग के ही अधिकारी हैं। वैश्य का ग्रहण यहाँ इसलिए किया गया है कि वे अपने कृषि, व्यापार आदि कार्यों में लगे रहने के कारण कर्मकाण्ड आदि का समय प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिए उनका उद्धार भी भक्तिमार्ग से हो सकता है। वर्तमान में भी देखा जाता है कि वैश्य वर्ग के लोग ही अधिकतर भक्तिमार्ग में लगे रहते हैं। ये सब भी भक्तिमार्ग के द्वारा परमगति को प्राप्त कर लेते हैं। (३२)

इससे कोई यह न समझ ले कि वेद का अधिकार न रखने वालों के लिए ही

भक्तिमार्ग है, इसी शङ्का के निवारण के लिए आगे भगवान कहते हैं कि उक्त प्रकार के सामान्य अधिकारी भी जब मेरा आश्रयरूप भक्ति प्राप्त कर परमगति प्राप्त कर लेते हैं, तब फिर पवित्र ब्राह्मण या राजर्षियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, अर्थात् वे तो भक्तिमार्ग के द्वारा शीघ्र ही परमगति प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए अन्त में अर्जुन को उपदेश देते हैं कि तुम भी इस अनित्य अर्थात् शीघ्र ही नष्ट होने वाले और निरन्तर दुःख ही जिसमें रहता है—ऐसे लोक अर्थात् मनुष्य जन्म को प्राप्त कर मेरे परमात्मा के ही भजन में लगे रहो। इसी से सब प्रकार के पापों से बच जाओगे। युद्ध करने में जो पाप की शङ्का तुम्हें हो रही है उसको भी मेरा आश्रय प्राप्त कर छोड़ दो। (३३)

आगे भजन का प्रकार बतलाते हैं कि मुझमें ही मन लगाओ, मेरी ही भक्ति अर्थात् श्रवण, कीर्तन, भजन आदि किया करो। मेरा ही (परमात्मा का) यज्ञ से पूजन किया करो, नमस्कार भी मेरे प्रति ही करते रहो। इस प्रकार अनन्यभाव से मेरा सेवन करते हुए अपने अन्तःकरण को योगयुक्त रखोगे और मुझ परमात्मा को परायण अर्थात् परमप्राप्य समझोगे तो मुझको ही प्राप्त कर लोगे।

भगवान् यद्यपि सर्वव्यापक हैं। वे तो सबको ही सदा ही प्राप्त हैं, इसलिए पूर्वोक्त कण्ठचामीकर न्याय से ही यहाँ प्राप्ति समझनी चाहिये। तात्पर्य यही हुआ कि मैं सदा ही सबको प्राप्त हूँ, किन्तु तुम लोग मुझे भूले हुए हो। प्रेमभाव से जब मेरी ओर लगोगे तो अनुभव कर सकोगे कि मैं तुम्हें प्राप्त हो गया।

यहाँ व्याख्याकार श्रीवैङ्कटनाथ ने पूर्व पूर्व की प्राप्ति का साधन उत्तरोत्तर को बतलाया है, अर्थात् अपने मन को परमात्मा में लगा देना मुख्य कर्तव्य है, यदि यह तुमसे न हो सके तो मेरे भक्त बनो अर्थात् प्रेम पूर्वक मेरी श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति किया करो, यदि वह भी न कर सको तो मेरी बाह्यपूजा गन्धपुष्प आदि से किया करो, (यही "मद्याजी" शब्द का अर्थ है) अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा का प्रेम तुम्हारे मन में नहीं उत्पन्न होता तो याग आदि कर्मकाण्ड किया करो। फल छोड़ कर कर्मकाण्ड करने से प्रेमरूपा भक्ति तुम्हें प्राप्त हो जायेगी। यदि इतना भी न कर सको तो मुझे सदा नमस्कार करते रहो, अर्थात् अपने आपको नीचा समझ कर और परमात्मा को अपना आराध्य उच्चकोटि का समझ कर हाथ जोड़ना आदि व्यापार किया करो। इससे भी क्रमशः सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या है, उसमें कहा गया कि पहिले तीन विशेषणों से पुरुषोत्तम के ही उद्देश्य से ज्ञान, उपासना और कर्म का विधान किया, चौथे नमस्कार से प्रपत्ति अर्थात् शरणगति बतलाई गई। अपने आपको भगवान् के ऊपर छोड़ देना ही मुख्य शरणागति है। इससे ही यहाँ नमस्कार शब्द से कहा गया

है। इस प्रकार मन, वाणी और कर्म आदि से मेरी-पुरुषोत्तम की आराधना करते हुए मुझको ही प्राप्त कर लोगे, अर्थात् पोषण रूप मेरा अनुग्रह पा जावोगे और मेरे ही वैकुण्ठ आदि लोकों को भी प्राप्त कर लोगे। आगे चतुर्थ चरण को वे पृथक् लगाते हैं कि उन लोकों को प्राप्त करके भी जब पुष्टिमार्ग के अनुसार आत्मा का अर्थात् अपने जीवभाव का मेरे साथ ही योग करते रहोगे तब मुझमें ही लीन हो जाओगे। इस प्रकार अपने पुष्टिमार्ग के अनुसार उन्होंने व्याख्या की है।

श्रीशङ्करानन्दजी इस पद्य का अवतरण देते हैं कि अर्जुन का यह आशय समझकर कि निर्विशेष ब्रह्म का तो मुझे अधिकार नहीं, तब मैं आपका भजन किस प्रकार कर सकता हूँ ? भगवान् उत्तर देते हैं कि मुझमें मन लगाओ अर्थात् सम्पूर्ण जगत् को मेरा ही रूप समझ कर जिस पदार्थ को भी देखो, उसमें मेरा ही रूप देखा करो। अथवा दूसरा यह भी अभिप्राय कहा जा सकता है कि मैं जो नित्ययुक्तस्वरूप हूँ, उस मेरे स्वरूप में ही मन लगावो एवं यज्ञ आदि कर्म करने की इच्छा हो तो जिन देवताओं का यजन करो, उनमें भी मेरा ही भाव रक्खा करो अर्थात् मेरी विभूति समझ कर उनका यजन किया करो। सदा मेरे ही भक्त बने रहो अर्थात् यज्ञ आदि कर्मों में भी "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः" इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मभाव ही सर्वत्र रक्खा करो और कुत्ते चाण्डाल आदि तक को मेरा रूप मानकर-मैं ईश्वर को प्रणाम करता हूँ इस बुद्धि से कुत्ते, चाण्डाल आदि सबको प्रणाम किया करो। अथवा जिन गुरु पिता माता आदि को प्रणाम करते हो उन्हें भी मेरा रूप समझ कर ही प्रणाम किया करो और सब अवस्थाओं में परमात्मा परब्रह्म ही मेरी गति है-इस प्रकार मुझको ही अपना परमप्राप्य समझते रहो। इस प्रकार कर्मयोग में अपने अन्तःकरण का सम्बन्ध जोड़ते हुए अन्त में मुझे ही प्राप्त कर सकोगे अर्थात् संसार बन्धन से मुक्त हो सकोगे।

यह पद्य यहाँ गीता के मध्य में कहा गया है। अट्ठारह अध्याय की गीता का पूर्वार्द्ध यहाँ समाप्त होता है, यहाँ भी यह पद्य कहा और गीता की समाप्ति में अट्ठारहवें अध्याय के अन्तिम उपदेश के पूर्व भी कुछ पाठभेद से यह पद्य पुनः दोहराया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यह उपदेश भगवान् को पूर्व से अभिमत है, केवल भेद इतना ही है कि यहाँ भक्तिमार्ग के अङ्ग रूप से यह पद्य आया है और अन्त में सब गीता के साररूप से अर्थात् ज्ञानकाण्ड के भी निष्कर्ष रूप से गुह्यतम कह कर इस पद्य का उपदेश दिया है। इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् की शरणागति, उपासना और ज्ञान दोनों भागों में ही अत्यावश्यक है। (३४)

नवाँ अध्याय समाप्त ।

दशम-अध्याय

पचीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवनानुवाच।

भूय एव महाबाहो श्रृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ।।१०।।१।।
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ।।२।।
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ।।३।।
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ।।५।।

आगे भगवान् और अपना स्वरूपविस्तार बतलाने के लिए दशम अध्याय का प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि हे बड़ी भुजा वाले अर्जुन ! तुम और भी मेरा उत्तम वचन भली-भाँति सुनो, जो कि मैं तुम्हारे हित की इच्छा से कहूँगा, क्योंकि तुम मेरे उपदेश सुनकर प्रसन्न हो रहे हो, इसलिए मेरी भी तुम्हें उपदेश करने में प्रवृत्ति बढ़ रही है। गम्भीर अर्थ बार बार कहने पर ही समझ में आ सकता है। भगवतत्त्व तो सबसे अधिक गम्भीर है, इसलिए उसके बार बार कहने में पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिये। उसी गम्भीर अपने तत्त्व को कहना प्रारम्भ करते हैं कि मेरे सर्वोच्चप्रभाव अथवा प्रकट होने को देवता और ऋषि कोई भी नहीं जानते, क्योंकि मैं सब देवता और सब बड़े बड़े ऋषियों से भी पहिले वर्तमान रहता हूँ और उन देवता और महर्षियों का सब प्रकार का कारण अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण भी मैं ही हूँ, तब मुझसे पीछे उत्पन्न होने वाले और मेरे ही उत्पन्न किये हुए वे देवता और महर्षि मेरे प्रभाव और प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में क्या जान सकते हैं। अपने मूल कारण का या उसके सामर्थ्य का पूरा विस्पष्ट ज्ञान उन्हें हो ही नहीं सकता। (१-२)

आगे भगवान् अपने ज्ञान का सर्वोत्तम फल बतलाते हुए कहते हैं कि जो सब पुरुषों में चेतन और अचेतन की एकरूपता अर्थात् आत्मा और शरीर के पृथक् पृथक् होने का स्पष्ट ज्ञान रखता है, आत्मा और शरीर को पृथक् पृथक् न समझना ही "सम्मूढ़ता" कही जाती है, उसका अभाव ही यहाँ "असम्मूढ़" पद से कहा गया है और जो मुझको कभी जन्म न लेने वाला, अनादि काल से एक रूप ही रहने वाला और सब लोक का नियमन करने वाले सूर्य, चन्द्र और इन्द्र आदि का भी नियामक मुझको जान लेता है, वह मेरी भक्ति को रोकने वाले सब पापों से मुक्त हो जाता है। प्रतिबन्धक कोई न रहने पर जैसे सब कार्य अपने स्वरूप में भली-भाँति उदित होते हैं, इसी प्रकार भक्ति के प्रतिबन्धक पापों के न रहने पर भक्ति अच्छे रूप में प्रकट हो जाती है।

यहाँ श्रीरामानुजाचार्य ने अपने भाष्य में सब विशेषणों का प्रयोजन भलीभाँति खोला है। उनकी व्याख्या के अनुसार "अज" इस विशेषण से उत्पन्न होने वाले और अतएव बदलते रहने वाले संसार के पदार्थों से अपनी विलक्षणता भगवान् ने दिखलायी। यद्यपि जीव भी अजन्मा है, जैसा कि द्वितीय अध्याय में "अजो नित्यः श्वाश्वतोऽयं पुराणः" इत्यादि के द्वारा कह चुके हैं, तथापि उनका भिन्न-भिन्न शरीरों के साथ सम्बन्ध तो होता ही है, इस कारण शरीर विशिष्टता के रूप में उसका जन्म कहा जा सकता है। मेरा परब्रह्म के रूप में किसी जड़शरीर से भी सम्बन्ध नहीं, इस कारण मैं सर्वथा अजन्मा ही हूँ यह "अज" शब्द का तात्पर्य हुआ। यद्यपि अवतार रूप में शरीर सम्बन्ध होता है, तथापि वह शरीर सम्बन्ध अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण किया जाता है, इसलिए वह अजन्मा होने में बाधा नहीं डालता और कई सम्प्रदाय तो अवतारों का भी जड़रूप शरीर नहीं मानते, वे तो कहते हैं कि अवतार रूप में भगवान् "**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**" हैं, अर्थात् उनके हाथ पाँव, मुख आदि सब शरीर के अवयव उनके स्वरूपभूत आनन्द के ही बने हुए हैं। इस कारण जड़सम्बन्ध न होने से यह "अज" विशेषण अच्छे प्रकार से उपपन्न हो जाता है। यहाँ यह प्रश्न होगा कि ऐसा जड़ सम्बन्ध का अभाव तो मुक्त पुरुषों में भी देखा जाता है, अर्थात् जिन्होंने संसार से मोक्ष प्राप्त कर लिया, उनका तो आगे जड़शरीर से किसी प्रकार का सम्बन्ध होना सम्भव नहीं, इसलिए उनसे भी विलक्षणता बतलाने को दूसरा विशेषण "अनादि" दिया है। यद्यपि मुक्त पुरुषों का आगे जड़शरीरों से सम्बन्ध नहीं रहेगा, किन्तु पहिले तो रहा है। इसलिए वे अनादिरूप में सदा से ही अज नहीं कहे जा सकते और मैं अज होता हुआ अनादि भी हूँ, अर्थात् मेरा जड़ शरीर से सम्बन्ध किसी काल में भी नहीं हुआ-यही मुक्त पुरुषों से मेरी विलक्षणता है। यहाँ पुनः शङ्का होना संभव है कि

जैसे मनुष्यों का एक कोई राजा होता है, वह भी मनुष्यों की ही जाति का है। अपने पूर्व जन्म के अच्छे कर्मों के कारण उसे मनुष्यों का स्वामित्व प्राप्त हो गया है। इसी प्रकार देवताओं का स्वामी इन्द्र भी देवताओं की जाति का है। यों ही विचार करने पर आप यद्यपि सब ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं तो भी ब्रह्माण्ड से विलक्षण नहीं हो सकते ? ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत जीवविशेष आपको भी मानना उचित होगा। जैसा कि योग सूत्रकार ने लिखा भी है कि "**पुरुषविशेषईश्वरः**" अर्थात् ईश्वर भी एक प्रकार की विशेषता रखने वाला सांख्य के माने हुए पुरुषों में से ही एक है। इसी से अपनी विलक्षणता बतलाते हुए भगवान् उत्तर देते हैं कि मैं सब लोकों का "महेश्वर" हूँ, अर्थात् ईश्वरों का भी ईश्वर हूँ। इस कारण मैं ब्रह्माण्ड से पृथक् ही हूँ। पूर्वोक्त राजा आदि की युक्ति मुझ पर लागू नहीं हो सकती। इस विशेषण से यह भी तात्पर्य निकलता है कि मेरी महेश्वरता अर्थात् ईश्वरों का भी नियमन करना स्वभावसिद्ध है। जो ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत हैं उनका स्वभावतः ब्रह्माण्ड का नियमन नहीं बन सकता, क्योंकि अपने आप जब ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत रहेंगे तो अपना ही नियमन अपने आप कैसे कर सकेंगे, जैसा कि राजा आदि अपने आपका नियमन नहीं कर सकते, इसलिए सब ब्रह्माण्ड का नियमन करने वाले को ब्रह्माण्ड से पृथक् ही होना चाहिये। इस प्रकार मेरी सबसे विलक्षणता समझ लेने वाला पुरुष सब पापों से मुक्त है–यह बात भी युक्तिसिद्ध हो गई। (३)

न केवल देवता, ऋषि आदि के स्थूल शरीर ही मेरे उत्पादित हैं, किन्तु उनके सूक्ष्मशरीर और उसके अन्तर्गत मन की विविध वृत्तियाँ भी मेरे ही द्वारा भिन्न-भिन्न प्राणियों के कर्मानुसार उत्पन्न की जाती हैं। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए मनोवृत्तियों के कुछ नाम यहाँ गिनाए जाते हैं। इन वृत्तियों में भी कई एक के व्याख्याकारों के मतानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। उनमें से हम यहाँ श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार ही अर्थ लिख देते हैं। अन्तःकरण के सूक्षम अर्थों को जानने के - सामर्थ्य को बुद्धि कहा जाता है, जिसके होने से मनुष्यलोक में बुद्धिमान् कहा जाता है। आत्मा और अनात्मा के भेद को यथार्थ रूप से समझ लेना ज्ञान है। जो पदार्थ जिस समय बुद्धि के सामने हो उसके समझने में भ्रम न होना अर्थात् झटपट उसके समझ में आ जाने के सामर्थ्य को ही "असम्मोह" शब्द से कहा गया है। चित्त के विकारों के कारण उपस्थित होने पर भी विकार न होने का जो मन में सामर्थ्य है, वही "क्षमा" कही जाती है। जिस विषय का जैसा ज्ञान अपने चित्त में है उसे उसी रूप में दूसरे के चित्त में भी उत्पन्न करने की अपनी मनोवृत्ति को "सत्य" कहा जाता है। जैसा कि वेद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहा गया है कि कौन मनुष्य सदा सत्य ही बोल सकता है, क्योंकि

मनुष्य का ज्ञान ही अस्थिर है। जब ज्ञान ही निश्चित न होगा तो उससे उत्पन्न वाणी कैसे सत्य हो सकती है ? इस प्रकार शङ्का कर वहाँ यही उत्तर दिया गया है कि अपने मनोभावों के अनुकूल कहने की जो मन में भावना हो उसे ही सत्य कहा जाता है। बाह्य इन्द्रियों के विषयों पर जाने की वृत्ति को रोकने की जो मनोवृत्ति हो उसे दम कहते हैं और अन्तःकरण की ही विषयों में जाने की वृत्ति को रोकने को "शम" कहा जाता है। अपना अपना अभीप्सित विषय प्राप्त होने पर मन का दब जाना ही "दुःख" है। पूर्वोक्त सुख के अनुभव करने के मन के सामर्थ्य को "भव" कहते हैं। इसके विपरीत जानने से मन के सामर्थ्य को "अभाव" कहते हैं–यह अर्थ श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार लिखा गया है। श्रीशङ्कराचार्य ने तो उत्पत्ति और विनाश ही भव और अभाव का अर्थ किया है। वह चित्तवृत्ति नहीं कहा जा सकता, इसी कारण यहाँ श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ ही लिया गया है। आगे दुःख का कारण उपस्थित होने पर उससे बचने की मन की वृत्ति को "भय" कहते हैं। इसके विपरीत किसी विषय में मन की निःशङ्कप्रवृत्ति होने का भाव ही "अभय" है। किसी प्राणी को कष्ट न देने के मन के संकल्प को ही "अहिंसा" कहा गया है। सब प्राणियों में समानभाव रखना "समता" है। जो कुछ प्राप्त हो जाय उसे ही पूर्ण मानने की चित्तवृत्ति को "तुष्टि" कहते हैं। परलोक के हित के लिए शरीर को कष्ट देने की मनोवृत्ति "तप" कही जाती है, इसके कारण मुनि लोग "तपस्वी" कहलाया करते हैं। अपने पास जो निर्वाह से अधिक धन या सामग्री है उसको अन्य प्राणियों के पास पहुँचाने की मनोवृत्ति यहाँ "दान" शब्द से समझनी चाहिये। धर्माचरण के कारण लोक में प्रसिद्धि हो, जिससे कि अन्य सज्जन भी लाभ उठावें–ऐसी मन में भावना होना ही यहाँ "यश" शब्द का अर्थ है। इसके विपरीत भाव होना ही "अयश" शब्द से यहाँ लिया गया है। ये अर्थ भी श्रीरामानुजाचार्य की व्याख्या के अनुसार ही चित्तवृत्ति रूपता बतलाने के लिए किये गये हैं। कई व्याख्याकारों ने "अयश" शब्द से सभी बुद्धि आदि के विपरीत भावों का ग्रहण कर लेना माना है। ये सब भाव प्राणियों में मेरे द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं।

"भाव" शब्द के कथन का यहाँ यह अभिप्राय है कि इनमें कई एक को कई जगह पूर्व का अभावरूप ही माना है। जैसा कि दुःख, सुख का अभावरूप ही है, अभय, भय का अभावरूप है इत्यादि विवरण कई ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह वास्तविक नहीं समझा जाना चाहिये, किन्तु इन सब पदार्थों को भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों के रूप में ही मानना चाहिये। जैसा कि हम अपनी व्याख्या में लिख चुके हैं।

लोकमान्यतिलक इस "भाव" शब्द को सांख्य दर्शन से लिया हुआ कहते हैं। उन्होंने अपने गीता रहस्य में यह भी स्पष्ट किया है कि सांख्य दर्शन इन सब मनोवृत्तियों

को बुद्धि की–धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य नाम की सात्विक वृत्तियों का विस्पष्ट विवरण ही मानता है। उनके विचार के अनुसार ये सब बुद्धि की वृत्तियाँ होने के कारण प्रकृति से ही उत्पन्न कही जा सकती हैं, किन्तु यहाँ भगवान् ने इन सब वृत्तियों को अपने से उत्पन्न कह कर उस मत से अरुचि प्रकट की। कई निबन्धकारों ने इससे यह भी अभिप्राय निकाला है कि जिस प्रकार पाश्चात्यों के धर्मग्रन्थों में अच्छी बातें ईश्वर से उत्पन्न मानी गई हैं और बुरी बातें शैतान की करतूत मानी गई हैं - यह आर्यशास्त्रों का मत नहीं है। आर्यशास्त्रों के मत से तो अच्छे और बुरे सभी भाव परमात्मा से ही उत्पन्न माने जाते हैं। प्राणियों के अच्छे और बुरे कर्म ही उनकी उत्पत्ति के कारण बना करते हैं–यही भाव यहाँ प्रकट किया गया है। (४-५)

●

छब्बीसवाँ-पुष्प

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ।।१०।।६।।
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।७।।

इस पद्य की व्याख्या में सब व्याख्याकारों का पूरा मतभेद है। पद्य का अक्षरार्थ है कि सात महर्षि, पूर्व के चार और मनु ये सब मुझमें ही भाव रखने वाले अथवा मेरे प्रभाव में रहने वाले मेरे मन से उत्पन्न हुए थे जिनकी कि ये सब सन्तान लोक में व्याप्त हैं।

अब वे सात महर्षि कौन हैं और पूर्व के चार–ये स्वतन्त्र हैं या मनु के विशेषण हैं ? यदि मनु के विशेषण हैं तो मनु तो चौदह प्रसिद्ध हैं, फिर यहाँ चार ही क्यों कहे गये ? इस विषय पर भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ हैं। परममान्य भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य दोनों ही "चत्वारः" पद को मनु का ही विशेषण मानकर चार मनु–यही अर्थ करते हैं, केवल "मद्भावाः" शब्द के अर्थ में इन दोनों आचार्यों का थोड़ा सा मतभेद है! श्रीशङ्कराचार्य ने इस पद का अर्थ किया है कि ये सब मुझमें भावना रखने वाले अथवा मेरे जैसे सामर्थ्य वाले थे और श्रीरामानुजाचार्य का अर्थ है ये सब मेरे ही मत में स्थित थे अर्थात् मेरे संकल्प के अनुसार ही चलते थे। सात महर्षि इन दोनों ही के मत में भृगु आदि हैं। अब भृगु आदि शब्द से कौन सात लिये जाँय, इस विषय पर भी मतभेद है। लोकमान्यतिलक चाक्षुष मन्वन्तर के सात ऋषि–जिनके कि नाम–भृगु, नभ, विवस्वान्, सुधामा, विरजा, अतिनाभ और सहिष्णु हैं वे ही मान्य आचार्यों को अभिप्रेत हैं–ऐसा लिखकर अपनी ओर से उनके मत का खण्डन भी वे करते हैं कि पद्य में "येषां लोक इमाः प्रजाः" कहा गया है। इससे उस समय वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर की प्रजा के उत्पादक सात ऋषि ही लेने चाहिये, चाक्षुष मन्वन्तर के सात ऋषियों का ग्रहण यहाँ युक्तियुक्त नहीं। यद्यपि श्रीरामानुजाचार्य ने "पूर्वे" पद से पूर्व मन्वन्तर के सात ऋषि लेना लिखा है, किन्तु यहाँ का "पूर्वे" पद तो अब से पहिले के–यही अर्थ बतलाता है, "पूर्व मन्वन्तर के" यह अर्थ करना यहाँ क्लिष्ट कल्पना ही है, यह युक्ति देकर तिलक महाशय ने वैवस्वत मन्वन्तर के ही सात महर्षि–मरीचि, अङ्गिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ

इनका ही ग्रहण माना है। इनके साथ भृगु और दक्ष का नाम और जोड़ कर इन्हें ही विष्णुपुराण आदि में "**नवब्रह्माण:**" कहा गया है, किन्तु यहाँ भी यह विचारने की बात रह जाती है कि गीता के इस पद्य में सात महर्षि ही कहे गये हैं और तिलक महोदय के बतलाये हुए सात नामों में भृगु का नाम नहीं आता, फिर उक्त दोनों भाष्यकारों ने जो "भृग्वादय:" लिखा है, वह उनकी उक्ति कैसे लगाई जायेगी ?

किसी व्याख्याकार ने स्वायम्भुव मन्वन्तर में सबसे प्रथम उत्पन्न भृगु, अङ्गिरा मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि और वसिष्ठ–ये नाम लिखे हैं। किन्तु ये गणना में आठ हो जाते हैं, इस कारण वे भृगु और अङ्गिरा को एक ही मानते हैं। सर्वत्र श्रुतियों और स्मृतियों में पृथक् पृथक् प्रसिद्ध भृगु और अङ्गिरा को एक ही मान लेना उनका महासाहस ही कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त मान्य आचार्यों ने जो चार मनु बतलाये हैं, उनके नाम चार सावर्णि कहे हैं, किन्तु सावर्णि नाम से पुराणों में सात प्रसिद्ध हैं, उनमें से यहाँ चार ही क्यों लिये गये, इनकी उपपत्ति ठीक नहीं बैठती ?

श्रीरामानुजभाष्य के व्याख्याकार ने जो यह लिखा है कि किसी पुराण में ऐसा मिलता है कि दक्ष की कन्या में चार सावर्णि मनु एक साथ उत्पन्न हुए थे, वे ही यहाँ विवक्षित हैं, किन्तु ऐसा मान लेने पर भी पद्य में आगे जो कहा गया है कि उनकी उत्पन्न की हुई इस समय लोक में प्रजा हैं–यह वाक्य तो संगत हो ही नहीं सकता। इन दोनों मान्य भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य बहुत से व्याख्याकारों ने "पूर्वे चत्वार" इन दोनों पदों को पृथक् रूप ही माना है और यही अर्थ किया है कि सात महर्षि एवं उनसे भी पूर्व के चार अर्थात् सनक आदि चार ऋषि जिनको कि पुराणों में सबसे पहिले ब्रह्मा से उत्पन्न बतलाया गया है वे और सब मनु–ये सब मेरे ही द्वारा मन से उत्पन्न किये हुए हैं क्योंकि ब्रह्मा भी मेरा ही रूप है आदि।

तिलक महाशय ने इस व्याख्या पर यह दोष दिया है कि सब पुराणों में ऐसा मिलता है कि सनक आदि चारों ऋषियों ने कोई प्रजा उत्पन्न नहीं की, वे उत्पन्न होते ही ब्रह्मज्ञानी हो गये और सदा कुमार अवस्था में ही रहे। इसी आधार पर उन चारों को ही "सनत्कुमार" कहा जाता है। यहाँ "सनत्" इस अव्यय का अर्थ सदा है। ऐसी स्थिति में पद्य के चौथे चरण में जो कहा गया है कि उनकी ही सब प्रजा लोक में व्याप्त है वह संगत नहीं होगा, किन्तु तिलक महाशय यह भूल गये कि संस्कृत भाषा में लक्षणा का एक उदाहरण "छत्रिणो यान्ति" दिया जाता है। जहाँ कुछ मनुष्य छत्ता लिये हुए हों और कुछ बिना छत्ते के हों तो भी उस संपूर्ण समुदाय को छत्री पद से कह दिया जाता है, तब जिस प्रकार छत्र वाले और बिना छत्र वाले दोनों का समुदाय

लक्षणा से "छत्री" पद द्वारा कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी सात ऋषि और चौदह मनु ये सब तो प्रजा के उत्पादक हैं और सनक आदि चार प्रजा उत्पन्न करने वाले नहीं हैं, उन सबका समुदाय "येषां लोक इमाः प्रजाः" इस वाक्य से लक्षणा द्वारा कह दिया जायेगा। कई व्याख्याकारों ने इस आपत्ति का यह भी समाधान किया है कि प्रजा अर्थात् वंश दोनों प्रकार से माना जाता है जन्म देने से और विद्या देने से। तब सनक आदि चारों ने भी आगे के लागों को विद्यादान किया, इसलिए वे भी वंश प्रवर्तक माने जा सकते हैं। तिलक महाशय ने यहाँ पूर्व के चार इन पदों से महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय नामक प्रकरण में कहे गये और वैष्णव सम्प्रदायों में प्रसिद्ध वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चारों व्यूहों का निर्देश माना है, किन्तु ये चारों तो वैष्णव सम्प्रदायों में भगवान् के रूप ही माने जाते हैं, इनका यहाँ ऋषियों और मनुओं के प्रकरण में कहना संगत नहीं जान पड़ता। ब्रह्मसूत्रों में अन्य दर्शनों के साथ इस व्यूहवाद का खण्डन किया गया है, उसी व्यूहवाद को भगवद्गीता में उठाना भी योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त भी व्याख्याकारों की अनेक कल्पनाएँ इस पद्य की व्याख्याओं में मिलती हैं। किसी किसी महानुभाव ने "चत्वारः" पद का एक देशन्याय से चौदह अर्थ भी कर डाला है, जिससे चौदह मनु यह अर्थ निकल आया। सबका यहाँ विवरण देकर सम्माननीय व्याख्याताओं पर कटाक्ष करना अनुचित होगा, इसलिए हम अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या यहाँ लिख देते हैं। हमारे विचार से सात ऋषि यहाँ भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ लिये जाने चाहिये, क्योंकि इनकी ही हिरण्यगर्भ के मन से उत्पत्ति पुराणों में प्राप्त होती है और इनमें से ही कई प्रजा के उत्पादक भी पुराणों में माने गये हैं। श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य का भृगु आदि सात ऋषि कहना भी इस प्रकार उपपन्न हो जाता है। इससे आगे "पूर्वे चत्वारः" को पृथक् ही मानना चाहिये और इसका अर्थ सबसे पूर्व उत्पन्न सनक आदि चार ही करना उचित है। ये प्रजा के उत्पादक नहीं ? इस आपत्ति का समाधान पूर्व किया जा चुका है। इसके आगे "मनवस्तथा" इन पदों से चौदहों मनु लिये जाने चाहिये। यद्यपि अभी तक सात ही मनु हुए हैं, शेष सात आगे होने वाले हैं उनकी प्रजा इस समय सामने नहीं है तथापि जो प्रजाएँ सामने हैं वे भी तो अतीत मनुओं की हैं, इससे चौथे पाद का विरोध नहीं होगा। यहाँ भी पूर्वोक्त छत्रिन्याय की लक्षणा समझ लेनी चाहिये। इनमें ऋषियों की सन्तान में ब्राह्मण वर्ग हैं और मनुओं की सन्तान में क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजा हैं। ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध हिरण्यगर्भ भी भगवान् का ही एक रूप है, इसलिए उसके उत्पादित ऋषि मनु आदि को भी भगवान् ने अपने मन से उत्पादित ही यहाँ कहा। ये सब मेरे ही वैष्णवभाव से युक्त थे, इसीलिए अग्रिम पद्य में इन सबको अपनी विभूति के अन्तर्गत ही बतलाया है। (६)

इस कही हुई मेरी विभूति अर्थात् विस्तार और ऐश्वर्य-सामर्थ्य को जो यथार्थ रूप से जान लेता है, वह अविचलित योग से सम्यग् दर्शन प्राप्त कर लेता है इसमें संशय नहीं करना चाहिये।

श्रीरामानुजाचार्य, "विभूति" शब्द का अर्थ ऐश्वर्य करते हैं एवं योगदशब्द का कल्याण गुणगण और अविकम्पयोग का अर्थ अविचाली भक्ति करते हैं।

लोकमान्यतिलक तो सर्वत्र "योग' शब्द का अर्थ कर्मयोग ही किया करते हैं। तदनुसार इस पद्य के चौथे चरण का उनके मत में यहीं अर्थ है कि ऐसा जानने वाला पुरुष विचलित न होने वाले कर्मयोग को प्राप्त कर लेता है।

श्री शङ्करानन्दजी "विभूति" शब्द का अर्थ माया से विविध रूप होना, योग शब्द का अर्थ मायासम्बन्ध से प्राप्त ऐश्वर्य और चौथे चरण के अविकम्पयोग का अर्थ विकल्परहित उपासनायोग करते हैं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी की यहाँ बहुत विस्तृत व्याख्या है। पूर्व सप्तम अध्याय के "नत्वहं तेषु ते मयि" की व्याख्या में अव्यय पुरुष के विभूति, योग और बन्ध नाम से तीन प्रकार के सम्बन्ध हम कह चुके हैं, उन्हीं में से बन्ध को छोड़ कर विभूति और योग दो शब्द यहाँ कहे गये हैं। जिनमें परस्पर दहरोत्तर भाव रहता है अर्थात् एक छोटा (दूसरे के उदर में प्रविष्ट) और दूसरा बहुत बड़ा हो उन दोनों में यदि बड़े पदार्थ से प्रवृक्त अर्थात् अलग न होकर छोटे पदार्थ में अनुग्रह रूप से कुछ अंश का प्रविष्ट हो जाना "विभूति" कही जाती है और अपने बड़े स्वरूप में से सर्वथा पृथक् होकर छोटे में ही प्रविष्ट हो जाना "योग" कहा जाता है। इसके बहुत से उदाहरण भी उन्होंने यहाँ अपनी टिप्पणी में दिये हैं। जैसा कि एक बर्फ का ढेला बिना पिघला हुआ ही यदि जल में डाल दिया जाय तो उसका जल के साथ "विभूति" सम्बन्ध होगा और वही गलाकर यदि जल में मिला दिया जाय तो "योग" सम्बन्ध हो जायेगा। कहीं सरोवर आदि के जल में सूर्य आदि का प्रतिबिम्ब पड़ा हो, उस प्रतिबिम्ब में जो मुख्य सूर्य का प्रकाश पड़ता हो, वहाँ मुख्य सूर्य के प्रकाश का "विभूति" सम्बन्ध कहना होगा और जिस जल आदि पर प्रतिबिम्ब पड़ा है उस जल आदि के नष्ट हो जाने पर वह प्रतिबिम्ब भी मुख्य सूर्य के प्रकाश में मिल जायेगा, वहाँ उस प्रतिबिम्ब का सूर्य प्रकाश में "योग" कहा जायेगा। जल में जो द्रवत्व अर्थात् पिघलापन रहता है वह अग्नि के योग से हुआ करता है। जैसा कि वैशेषिक सूत्रों में भगवान् कणाद ने लिखा है कि "अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात्" वहाँ जल के साथ उस तेज का योग सम्बन्ध है, क्योंकि वह तेज अपने केन्द्र से पृथक् होकर ही जल में प्रविष्ट हुआ है और आगे उस जल को फिर अग्नि पर चढ़ाकर उष्ण कर दिया जाय तो वहाँ जल

के साथ अग्नि का विभूति सम्बन्ध कहा जायेगा, क्योंकि वह अग्नि अपने केन्द्र से पृथक् नहीं हुआ है, इसीलिए थोड़ी देर रख देने पर वह अग्नि जल से निकल कर अपने केन्द्र में ही चला जाता है और जल शीतल हो जाता है। जहाँ भात पकाया जाय वहाँ चावल और जल का योग होगा और जहाँ चावलों को केवल धोने के लिए उन पर जल डाला जाय वहाँ जल का विभूति सम्बन्ध ही मानना होगा। केसर, कस्तूरी और कर्पूर आदि के साथ गन्ध वाले पदार्थों का "योग" है और उनका गन्ध जब वायु में चला जाता है तब वायु के साथ उन गन्ध वाले द्रव्यों के अवयवों की विभूति मात्र होती है। प्रकृत में इसी प्रकार जो पूर्व पद्यों में "**बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः**" इत्यादि कहा है वह बुद्धिमान् आदि पुरुषों के साथ अव्ययपुरुष के योग का उदाहरण है; और आगे के पद्यों में जो भगवान् ने अपने को सब भूतों का आदि, मध्य और अन्त बतलाया है, वह आदि, मध्य और अन्त रूप से अव्यय पुरुष की "विभूति" ही समझनी चाहिये। इसी प्रकार आगे इस अध्याय में जो विभूतियों की गणना की जाने वाली है, उन सब पदार्थों में भी अव्यय पुरुष का विभूति रूप ही सम्बन्ध है, अर्थात् वे धर्म अव्यय पुरुष से पृथक् नहीं होते और उन पदार्थों में अनुग्रह रूप से व्याप्त रहते हैं। (७)

●

सत्ताइसवाँ-पुष्प

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ।।१०।।८।।
मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।९।।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।।१०।।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।।११।।

पूर्व पद्य में जो न विचलित होने वाला योग बतलाया, वह किस प्रकार का है, इसी का विवरण आगे दिया जाता है कि मैं ही सम्पूर्ण जगत् का प्रभव अर्थात् उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों रूप से वर्तमान हूँ और यह जो संसार तुम देख रहे हो यह सब मुझसे प्रवृत्त होता है अर्थात् जगत् में चर और अचर सबकी जो क्रिया है उसका भी कारण मैं ही हूँ। मेरी प्रेरणा से ही सब प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में भी क्रिया होती है यह जानकर बुध अर्थात् पण्डित कहलाने के पूर्ण अधिकारी वे लोग मुझमें ही सदा अपनी चित्तवृत्ति रखते हुए मेरा भजन किया करते हैं। यहाँ "भावसमन्विताः" इस पद से उनकी मनोवृत्ति मेरी ओर रहती है–यह दिखलाया गया और "भजन्ते" पद से उनके शरीर की क्रिया–चरणस्पर्श पूजा आदि भी मेरे ही उद्देश्य से होती है अर्थात् वे लोग जिसको प्रणाम करते हैं या जिसको तिलक लगाते या पुष्पमाला पहनाते हैं अथवा जिसे भोजन कराते हैं उसे मेरा ही रूप मान कर करते हैं। (८)

इसी का और विस्पष्ट वर्णन अग्रिम पद्य में किया जाता है कि ऐसे भावयुक्त पुरुषों का चित्त सदा मुझमें ही लगा रहता है और उनके प्राण अर्थात् सब इन्द्रियाँ भी मेरी ओर ही पूर्वोक्त प्रकार से लगी रहती हैं, अथवा उनका प्राण अर्थात् जीवन के सब व्यापार मेरे ही उद्देश्य से हुआ करते हैं। ऐसे लोग परस्पर मिलने पर मेरे अर्थात् ज्ञान, बल, वीर्य आदि से ब्रह्म के ही चरित्रों को एक दूसरे के प्रति जनाया करते हैं और मेरे ही बल, वीर्य आदि का सदा कथन करते हुए प्रसन्न होते हैं और उसी में आनन्द प्राप्त करते हैं। (९)

उनके ऊपर मैं क्या अनुग्रह करता हूँ यह आगे के पद्य में भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार नित्य संलग्न होकर प्रेमपूर्वक जो मेरा भजन करते रहते हैं, उनको मैं ऐसा "बुद्धियोग" देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

यहाँ "बुद्धियोग" शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य करते हैं कि मेरा पूर्णतत्त्व जानने वाली जो बुद्धि है, वही यहाँ बुद्धि शब्द से कही गई, उस बुद्धि के साथ उनका योग करा देता हूँ। इसे ही द्वितीयाध्याय में व्यवसायात्मिका बुद्धि कहा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य "प्रीतिपूर्वकं" शब्द का सम्बन्ध भी इधर जोड़कर कहते हैं–मैं उन्हें प्रसन्नता पूर्वक ऐसी परिपक्व बुद्धि देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ "**विपाकदशापन्नबुद्धि**" कहने से भक्ति का परिपाक जिसमें हो गया हो, ऐसी बुद्धि ही उन्हें विवक्षित है–यह प्रतीत होता है। "उपयान्ति" शब्द से उनके व्याख्याकार यह तात्पर्य निकालते हैं कि वे मेरे समीप आ जाते हैं। श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मुक्त पुरुषों का परमात्मा के साथ "सायुज्य" नहीं होता–यह पाठकों को स्मरण होगा।

श्रीनीलकण्ठजी ने "बुद्धियोग" शब्द का अर्थ ज्ञानरूप समाधि किया है।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी तो गीता का प्रतिपाद्य ही बुद्धियोग को मानते हैं और बुद्धियोग में ही ज्ञानयोग; भक्तियोग और कर्मयोग आदि का समावेश करते हैं। (१०)

नित्य मेरे ध्यान में लगे हुए उन भक्तों पर दया करने के लिए ही मैं उनके आत्मभाव अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति में स्थित होकर उनके सदा से साथ लगी हुई अविद्या के कारण उत्पन्न संसार के मोहरूप अन्धकार को पूर्ण प्रकाश वाले ज्ञानरूप दीपक से नष्ट कर देता हूँ।

इस पद्य से ईश्वर का ज्ञान प्राप्त होने पर भी मध्य में जो मनन, निदिध्यासन की आवश्यकता होती है उसकी सूचना दी गई। इसका तात्पर्य यही है कि वेदान्तवाक्य आदि के श्रवण से जो "बुद्धियोग" मेरे प्रसाद से प्राप्त हुआ, उसके प्राप्त होते ही मेरी प्राप्ति अर्थात् मुक्ति नहीं मिल जाती, अपितु अनादिकाल से जो जीव के साथ अविद्या का सम्बन्ध है और उसी अविद्या के कारण संसार के पुत्र, कलत्र और सम्पत्ति में जो ममता रूप आसक्ति हो रही है उसका निवारण भी उसके अन्तःकरण में बैठकर ज्ञानरूप दीपक जलाकर मैं ही कर देता हूँ अर्थात् उन भक्तों के मनन, निदिध्यासन में सहायता देकर उनके अन्तःकरण में ऐसा प्रकाश देता हूँ कि जिससे वे मेरा साक्षात्कार कर मुझमें ही लीन हो जाँय।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य ने इस दीप का विस्पष्ट विवरण करते हुए रूपक बहुत

उत्तम बनाया है कि विवेक रूप उस दीपक में भगवद्‌गीता द्वारा प्राप्त भगवान् का प्रसाद ही तैल है एवं निरन्तर चित्त में मेरी भावना का जो अभिनिवेश उन भक्तों में रहता है, वही दीप-प्रकाश का सहायक वायु के रूप में अवस्थित है और निरन्तर एकाग्रता से भगवान् का ध्यान करने से जो आत्मा और परमात्मा का अद्वैतभाव से दर्शन हो जाता है, वही उस दीपक की प्रभा है।

अन्य व्याख्याओं में यह भी कहा गया है कि जैसे अन्धकारों का हटाना और किसी प्रकार से सम्भव नहीं, वैसे ही यह अज्ञानजनित अन्धकार बिना विवेकरूप दीपक से नहीं हटाया जा सकता। भगवद्‌गीता में यहाँ भक्ति का प्रकरण है, इसलिए भगवान् ने यह कहा है कि भक्तों के अन्तःकरण में दीपक भी मैं ही जला देता हूँ। पूर्व पद्य के साथ इस पद्य को मिलाने से यह स्पष्ट होगा कि भक्तों के अन्तःकरण में प्रथम वेदान्त वाक्यों द्वारा शाब्दज्ञान भी मैं ही उत्पन्न करता हूँ और आगे मनन, निदिध्यासन की शक्ति उन्हें देकर तथा अज्ञान का आवरण हटाकर अपना साक्षात्कार भी उन्हें करा देता हूँ।

पूर्व पद्य में जो अन्तिम फल बतलाया गया है कि वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं, उस मुख्य फल का सम्बन्ध दोनों पद्यों के अन्त में जोड़ना चाहिये कि इस प्रकार मेरा साक्षात्कार कर वे मेरे भक्त मुझमें ही आ मिलते है। (१९)

●

अट्ठाइसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ।।१३।।
सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
नहि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ।।१४।।
स्वयमेवाऽऽत्माऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ।।१५।।
वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ।।१६।।
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।।१७।।
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि श‍ृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ।।१८।।

सप्तम अध्याय से आरम्भ कर जो भगवान् ने अपना स्वरूप बतलाया, उससे अर्जुन को ज्ञान हुआ कि ये साक्षात् परमेश्वर ही हैं और इस ज्ञान से उसके चित्त में भगवान् की भक्ति भी हुई। उसी से प्रेरित होकर इसी अध्याय के चौथे श्लोक से जो भगवान् ने अपनी विभूति और योग का संक्षेप से निर्देश किया, उसका विस्तार जानने की इच्छा से वह स्तुति पूर्वक प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! आप परब्रह्म हैं, परम तेज ही आपका रूप है और आप ही परम पवित्र हैं अर्थात् आपका स्मरण करने से मल से दूषित मनुष्यों के अन्तःकरण भी पवित्र हो जाते हैं। आपको वेदमन्त्रों के देखने वाले भृगु, वसिष्ठ आदि ऋषि, देवर्षि नारद, असित, देवल और व्यास आदि दिव्य तथा सनातन पुरुष, देवताओं के भी देव, अजन्मा एवं व्यापक कहते हैं और स्वयं आप भी मुझसे कह रहे हो।

यहाँ पुरुष कहने से सामान्य पुरुषों का ही बोध हो जायेगा, इसलिए "शाश्वत" शब्द दिया, अर्थात् नित्यपुरुष रूप आप हैं, किन्तु सांख्य में भी पुरुष को नित्य ही माना जाता है इसलिए इस विशेषण से भी जीवात्मा का प्रसङ्ग नहीं हटा, अतः "दिव्यं" विशेषण दिया। इसका अभिप्राय है कि जगत् रूप से क्रीडा करने वाले पुरुष आप हैं एवं सब देवताओं के भी आप आदिभूत हैं, अज और व्यापक हैं– ऐसा ही आपको सब ऋषियों ने भी बतलाया है और आप भी मुझे स्वयं अपना ऐसा ही स्वरूप बतला रहे हैं।

यहाँ श्रीरामानुजाचार्य ने महाभारत में नारद, असित, देवल और व्यास ने कहाँ कहाँ भगवान् कृष्ण को ऐसा कहा है, उसके उद्धरण भी दिये हैं। (१२-१३)

हे केशव ! मैं आपके कथन को सर्वथा सत्य मानता हूँ–अर्थात् मुझे आपके कथन पर पूर्ण श्रद्धा है और मुझे निश्चय हो गया है कि आपके प्रादुर्भाव को देवता और दानव कोई नहीं जानते। देवता तो आपके प्रसार से ऐश्वर्य प्राप्तकर सदा भोग निरत रहते हैं, इस कारण आपको जानने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता और दानवों का स्वयं वध कर आप उन्हें मोक्ष देते हैं इसलिए वे भी नहीं जान पाते। वास्तव में तो आपका प्रभव अर्थात् जन्म है ही नहीं, आप तो सदा एकरूप रहते हैं, जो है ही नहीं उसे कोई जान क्या सकेगा। आपका स्वरूप भी तत्त्वतः कोई नहीं जानता। हे पुरुषोत्तम ! स्वयं अपने आत्मा से अपने आपको जानते हो। आप भी अन्तःकरण से अपने को नहीं जान सकते, किन्तु आत्मा से आत्मा को जानते हो, इसका तात्पर्य यही हुआ कि अन्तःकरण तो किसी का भी आप तक पहुँच नहीं सकता।

आप ही भूतों की उत्पत्ति करते हो और आप ही भावयुक्त भी बनाते हो, अर्थात् उनका स्वभावभूत सूक्ष्मशरीर भी आप ही बनाते हो, सब भूतों के आप स्वामी हो तथा देवताओं के भी देवता हो और जगत् के भी स्वामी हो। ये सब पदसम्बोधन रूप में पद्य में कहे गये हैं, हमने उनका प्रथमान्त की तरह अर्थ कर दिया है। कई व्याख्याकारों ने इन सम्बोधन पदों को अग्रिम पद्य के साथ जोड़ा है। (१४-१५)

हे भगवन् ! संक्षेप से कुछ विभूतियों का वर्णन आपने सुनाया, उसे सुनकर मेरी उत्कण्ठा हुई है कि आपकी सब विभूतियों का वर्णन मैं सुनूँ। इस कारण आप कृपा कर अशेष अर्थात् सम्पूर्ण रूप से अपनी दिव्य विभूतियों को कहिये, जिन विभूतियों से आप सब लोकों में विराजमान हो रहे हो। हे योगिन् ! मैं निरन्तर आपका ध्यान करने की इच्छा करता हूँ, किन्तु आपको कैसे जानूँ–यह बतलाइये ? और किन-किन भावों में अर्थात् पदार्थों में मैं आपका चिन्तन अर्थात् ध्यान कर सकता हूँ।

भगवान् के लिए "योगिन्" ऐसा सम्बोधन अर्जुन की ओर से गीता में यहीं आया है। भगवान् तो स्वयं योग से जानने योग्य हैं, फिर उनको योगी कहना उचित प्रतीत नहीं होता, इसीलिए यही विचार कर श्रीरामानुजाचार्य यहाँ "योगी" ऐसा प्रथमान्त पाठ मानते हैं और उसे अर्जुन का विशेषण मानकर योगयुक्त हो मैं आपको किस प्रकार जानूँ–यह अर्थ निकालते हैं। अन्य व्याख्याकार "योग" शब्द का अर्थ ऐश्वर्य मानकर हे ईश्वर–यही अर्थ करते हैं और कई व्याख्याकारों ने सर्वव्यापक या सब कुछ करने में समर्थ–यह भी इस शब्द का अर्थ माना है। दूसरी बात यहाँ यह है कि मैं आपको कैसे जानूँ ? इस अर्जुन के प्रश्न का तो आगे कोई उत्तर नहीं मिलता, तब क्या भगवान् ने उसके इस प्रश्न का कोई उत्तर ही नहीं दिया–ऐसा मानना तो गीता की शैली के विरुद्ध है, क्योंकि जहाँ-जहाँ प्रश्न हुआ है, वहाँ भगवान् ने उत्तर अवश्य दिया है। तब अर्जुन के प्रश्न का यही अभिप्राय लगाना उचित होगा कि जब आप स्वयं "देवता और ऋषि भी मुझे नहीं जानते" यह कह चुके हैं, तब मैं छोटी बुद्धि वाला कैसे जान सकता हूँ। बिना जाने चिन्तन या ध्यान हो नहीं सकता, इसलिए ही आपकी विभूतियों का प्रश्न करता हूँ कि उन विभूतियों का ही ध्यान करता हुआ आप तक पहुँच सकूँ।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुसार विभूतियों में अविकृत रहते हुए भी भगवान् का अनुग्रह तो रहता ही है, इसलिए विभूतियों में ध्यान लगाकर भी परम्परा सम्बन्ध से भगवान् को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार "कथं विद्याम्" इस प्रश्न को भी उत्तरार्द्ध के साथ जोड़ देना ही उचित है कि किन-किन जङ्गम या स्थावर पदार्थों में मैं आपका चिन्तन करूँ।

श्रीशङ्करानन्दजी "कथं विद्यां" इस प्रश्न का यह आशय निकालते हैं कि पहिले विभूतियों में आपका ध्यान करने से जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायेगा, तब भी आपका निर्विशेष रूप समझने की शक्ति हो सकेगी, इसलिए पहिले विभूति बतलाइये, तब निर्विशेष रूप को जानने का विचार होगा। (१६-१७)

हे जनार्दन ! आपने यद्यपि संक्षेप से विभूति और योग सुनाया है, किन्तु इस आपके अमृतमय उपदेश को सुनकर तृप्ति नहीं हो रही है, अतः विस्तार से उस विभूति और योग का वर्णन कीजिए।

विभूति और योगशब्द का अर्थ इस अध्याय के सातवें श्लोक की व्याख्या में श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार हम लिख चुके हैं। आपका उपदेश सुनकर तृप्ति नहीं होती–ऐसा कथन भी गीता में अर्जुन का यहीं प्राप्त हुआ है। (१८)

●

उन्तीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ।।१९।।
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।।२०।।
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणमहं शशी ।।२१।।
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ।।२२।।

इस प्रकार अर्जुन के भावपूर्ण प्रश्नों को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ ! अब जो मेरी दिव्य विभूतियाँ प्रसिद्ध हैं उन्हें तुमसे संक्षेप से ही कहता हूँ, क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है अर्थात् कोई भी उन मेरी विभूतियों की गणना करने में समर्थ नहीं हो सकता। यहाँ पहले पद्य में अर्जुन ने भगवान् से विभूति और योग को विस्तारपूर्वक कहने की प्रार्थना की थी, उसी के उत्तर में भगवान् ने कहा कि विभूतियों के विस्तार का तो अन्त नहीं है अतः प्रधान का ही निर्देश करता हूँ। "हन्त" यह अव्यय पद भगवान् की दयालुता और अर्जुन की दयापात्रता सूचित करता है। "विभूतयः" इस प्रथमान्त को पृथक् वाक्य का कर्ता मानना उचित होगा, क्योंकि "कथयिष्यामि" इस क्रिया का कर्म तो द्वितीयान्त होना चाहिये था ? यद्यपि अट्ठारहवें पद्य में योग और विभूति दोनों का अर्जुन का प्रश्न है, फिर भगवान् ने केवल विभूति कहने की प्रतिज्ञा क्यों की ? इस प्रश्न का उत्तर श्रीरामानुजाचार्य देते हैं कि विभूतिशब्द का अर्थ है जो भगवान् के द्वारा प्रवृत्त किये जाँय अर्थात् उनका प्रवर्त्य हो और योगशब्द का अर्थ है कारणरूपता। वे दोनों ही यहाँ बतलाये गये हैं। "**अहं सर्वस्य प्रभवः**" इन शब्दों से कारणता बतलाई गई और "**मत्तः सर्वं प्रवर्तते**" इससे प्रवर्त्यता। आगे जो विभूतियाँ कही जायेंगी, उनमें भी दोनों ही प्रकार के तत्त्व बतलाये जायेंगे–प्रवर्त्य भी और अपने पैदा किये हुए भी। "**अहमादिश्च मध्यं च**" इत्यादि पद्य से आरम्भ में ही सबकी कारणता बतला दी गई है, तब केवल विभूतिकथन की ही जो प्रतिज्ञा है उसे योग का भी उपलक्षण समझना चाहिये।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या का भी मत इनसे मिलता जुलता ही है। श्रीशङ्कराचार्य के अनुयायी नीलकण्ठजी लिखते हैं कि योगशब्द का अर्थ "वैश्वरूप्य" अर्थात् अपनी सर्वरूपता है, वह आगे ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप प्रदर्शन में स्पष्ट होगी। इस अध्याय में केवल विभूतियों का ही वर्णन है। इससे अर्जुन के दोनों प्रश्नों का उत्तर दो अध्यायों में दिया गया है, न्यूनता नहीं समझनी चाहिये। श्रीविद्यावाचस्पतिजी की व्याख्या के अनुसार तो विभूति और योगशब्दों का अर्थ इसी अध्याय के सप्तम श्लोक की व्याख्या में विस्तार से लिखा जा चुका है और गीता में भी विभूति और योग दोनों के ही उदाहरण वहाँ दिये जा चुके हैं। आगे भी जो बहत्तर प्रकार की विभूतियाँ बतलाई गई हैं उनमें भी "मैं आदित्यों में विष्णु हूँ, मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ" इत्यादि योग के उदाहरण हैं। विभूति के उदाहरण तो बहुत हैं ही। इसलिए केवल विभूति कथन की प्रतिज्ञा उनके मत में भी उपलक्षण रूप ही माननी चाहिये। "प्राधान्यतः" कहने का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि विभूति प्रकरण में जिन-जिनको भगवान् ने अपनी विभूति बतलाया है, वे उस उस वर्ग के प्रधान ही समझने चाहिये, जैसा कि आगे स्पष्ट होता जायेगा। (१९)

आपकी विभूतियों का अन्त क्यों नहीं है और आप विस्तार से विभूतियों का उपदेश क्यों नहीं कर सकते ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि हे गुडाकेश ! गुडाका नाम निद्रा का है उसका स्वामी अर्थात् उसे वश में रखने वाला हो, जो स्वयं निद्रा के वश में न हो, वह "गुडाकेश" कहा जाता है, अथवा जिसके मस्तक के बाल घुँघराले हों। मैं सब भूतों के अन्तःकरण में रहनेवाला सब भूतों का आत्मा रूप हूँ और मैं ही सब भूतों का आदि मध्य और अन्तरूप हूँ, अर्थात् जब कोई प्राणी न था उस समय भी मैं था और जब सब हैं तब भी मैं अपनी स्वतन्त्रता न छोड़ता हुआ उनमें सम्मिलित हूँ तथा जब कोई न रहेगा तब भी मैं रहूँगा। इस प्रकार सभी मेरी विभूति रूप हैं, तब उनकी गणना कैसे की जा सकती है। (२०)

अब विभूति कहने का आरम्भ करते हैं कि आदित्यों में मैं विष्णु हूँ, तेज वाले पदार्थों में किरणधारी सूर्य हूँ, मरुतों में मरीचि हूँ और नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

विष्णु यह शब्द दो जगह प्रसिद्ध है। एक सब जगत् के कर्ता और पालक को विष्णु कहा जाता है और दूसरे देवताओं में भी विष्णु नाम का देवता प्रसिद्ध है। यहाँ देवतारूप विष्णु को विभूति बतलाया है। उस देवतारूप विष्णु पर ही जगत्-पालक विष्णु की उपासनार्थ भावना की जाती है। इस विष्णु को और विभूतियों की समान कोटि में नहीं गिनना चाहिये, यह तो भगवान् का रूप ही है। इस देवतारूप विष्णु

का विवरण ऐतरेय ब्राह्मण के आरम्भ में ही मिलता है कि –

"अग्निर्वैदेवानामवमो विष्णुः परमः, तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः"

अर्थात् अग्नि देवताओं में सबसे आरम्भ का है और विष्णु सबके अन्त में हैं, इन दोनों के बीच में ही सब देवता हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में देवता तैंतीस माने गये हैं–आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य। ये सब मिलाकर इकतीस हुए। दो अश्वनीकुमारों को जोड़कर तैंतीस हो जाते हैं। इनमें अश्वनीकुमार तो तीनों लोकों की दो सन्धियों में आ जाते हैं और अन्य देवता क्रम से व्यवस्थित रहते हैं। इस पृथिवीलोक में आठ वसु हैं, अन्तरिक्ष में ग्यारह रुद्र हैं और सूर्य लोक में बारह आदित्य। उन आदित्यों की गणना छोटे से आरम्भ कर उत्तरोत्तर बड़े के क्रम से की गई है। इस प्रकार विष्णु नाम का आदित्य सबसे बड़ा सिद्ध होता है। उसे ही भगवान् ने सब विभूतियों से प्रथम गिना है। इसी रूप से विवस्वान् नाम के अपने छोटे भाई को आपने कर्मयोग का उपदेश दिया था–यह चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कह आये हैं। आगे दूसरा रूप सूर्य को बतलाया। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि रवि और आदित्य तो एक के ही नाम हैं, फिर यहाँ पुनरुक्ति होगी ? इसका उत्तर है कि आदित्य नाम से तो बारह देवता हैं और रवि नाम से यहाँ सूर्यमण्डल लिया गया है। उस सूर्यमण्डल में विराजमान देवतारूप को प्रथम बार विभूति बतलाया और द्वितीय विभूति उस मण्डल को बतलाया। इसीलिए यहाँ रवि का विशेषण "अंशुमान्" दिया गया है। हम पूर्व कह चुके हैं कि जिस वर्ग में जो प्रधान है, वही यहाँ विभूतिरूप से परिणत हैं। देवताओं का सबसे बड़ा होने के कारण विष्णुनाम का आदित्य प्रधान है और जितने तेज के मण्डल संसार में हैं उनमें सूर्यमण्डल ही प्रधान है। यद्यपि सूर्य से भी बहुत बड़े-बड़े तारे आजकल के वैज्ञानिक सिद्ध करते हैं, किन्तु हमारे पृथिवीमण्डल पर जितना तेज सूर्यमण्डल का आता है उतना और किसी का नहीं आता, वे बड़े तारे हमसे इतनी दूर हैं कि अपना बहुत ही कम प्रकाश हमारे पास तक पहुँचा सकते हैं। इसलिए इस पृथिवी पर खड़े होकर जो भगवान् उपदेश दे रहे हैं, उनका सूर्य को ही प्रधान मानकर उसे अपनी विभूति बतलाना सर्वथा उपपन्न है। इसमें कोई शङ्का नहीं हो सकती।

मरुत् नाम के उनचास देवता पुराणों में बतलाये गये हैं। उनकी उत्पत्ति का पुराणों में इस प्रकार विवरण मिलता है कि जब देवता बार-बार असुरों को मारने लगे और असुर निःशेषप्राय हो गये तो असुरों की माता दिति ने कश्यप से प्रार्थना की कि मुझे ऐसा पुत्र दीजिये जो इन्द्र को मारने वाला हो। कश्यप ने यह वर दिया कि एक वर्ष तक तू कभी अपवित्र न रहने का नियम पालन करेगी तो तुझे इन्द्र को मारने वाला पुत्र उत्पन्न हो जायेगा। दिति कश्यप से गर्भ प्राप्त कर उसी प्रकार के नियम में रहने

लगी। इन्द्र को भी जब यह विदित हुआ तो वह जाकर प्रत्यक्ष रूप में तो दिति की सेवा करने लगा, किन्तु छिपा छिपा हुआ दिति के अपवित्र होने की ताक में रहा। एक दिन दिति इन्द्र की सेवा की प्रशंसा करती हुई जङ्घाओं के बीच अपना सिर झुकाकर दिन में ही सो गई। इन्द्र इसे ही अपवित्रता का अवसर देखकर प्रच्छन्न रूप से उसके गर्भ में प्रविष्ट हो गया और अपने वज्र से गर्भ के सात टुकड़े कर दिये। जब छेदन करने से वे बालक रोने लगे तो उन्हें रोने से रोकते हुए इन्द्र ने फिर एक एक के सात सात टुकड़े कर दिये। उनकी रोदनध्वनि से दिति जाग पड़ी, तब इन्द्र ने बाहर निकल कर प्रार्थना की कि माता तुमने मेरा मारने वाला पुत्र चाहा था, इसलिए मैंने गर्भ का ही छेदन कर दिया, इस अपराध को क्षमा करो, तब दिति ने उससे यही कहा कि जो हुआ सो हुआ, अब ये सबके सब तुम्हारे सहचर रहें और पृथिवी से आरम्भ कर अन्तिम लोकपर्यन्त इनमें से सात सात का एक एक गण एक एक लोक में रहा करें आदि। इन उनचास मरुतों के नाम वेद में भी आये हैं और पुराणों में भी कई जगह हैं, किन्तु इनमें "मरीचि" नाम अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इतना अवश्य है कि पुराणों में नामों में भेद भी मिलता है, सम्भव है किसी पुराण में मरीचि नाम भी आया हो। भगवद्गीता की किसी व्याख्या ने इस पर प्रकाश नहीं डाला, केवल "अविगीता" नाम की जो आधुनिक टिप्पणी है, उसमें भी दो तीन पुराणों के नाम लिखे हैं, किन्तु मरीचि नाम कहीं नहीं मिला–यही लिखा है। यदि यह नाम कहीं भी उपलब्ध न हो तो उस टिप्पणी ने इस विभूति का यह आशय बतलाया है कि मरीचि नाम दीप्ति का है और इन मरुत् देवताओं को वेदों और पुराणों में कई जगह दीप्तिमान् कहा गया है। उन दीप्तिमान् मरुतों में मरीचि अर्थात् किरणों के रूप में मैं ही विराजमान हूँ। इस प्रकार यहाँ साररूप से अपने अवस्थित रहने के कारण भगवान् ने मरुतों में मरीचि को अपनी विभूति बतलाया। चौथे पाद में कहा गया कि नक्षत्रों में चन्द्रमारूप मैं हूँ। यहाँ नक्षत्रपद से सब तारामण्डल कहा गया, उनमें सबसे अधिक प्रकाशमान चन्द्रमा को प्रधान होने के कारण ही अपनी विभूति बतलाया गया अथवा नक्षत्र शब्द का अर्थ है चलने वाले ग्रह आदि, उनमें चन्द्रमा में ही सबसे अधिक गति है। इसलिए गतिमानों में प्रधान होने के कारण चन्द्रमा की विभूतियों में गणना हुई। (२१)

वेदों में सामवेद मैं हूँ, देवों में वासव अर्थात् इन्द्र मैं हूँ, इन्द्रियों में मन मैं हूँ और भूतों में चेतना मैं हूँ।

वेदशब्द के दो प्रकार के अर्थ किये जाते हैं। एक तो मन्त्र-ब्राह्मण समूहात्मक ग्रन्थ और दूसरा सब पदार्थों में अनुस्यूत वितानादि रूप। कई विद्वान् द्वितीय अर्थ को नहीं मानते। उनका कथन है कि शब्दों का शक्तिग्रह मुख्यरूप से व्यवहार से ही होता

है और वेदशब्द का व्यवहार मन्त्रब्राह्मण समूहरूप ग्रन्थों में ही प्रसिद्ध है, इसलिए वही वेदशब्द का मुख्य अर्थ व्यवहार से सिद्ध होता है, दूसरा अर्थ मानना युक्तियुक्त नहीं, किन्तु यह उन विद्वानों का कथन ही युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। यह ठीक है, शक्तिग्राहकों में व्यवहार ही मुख्य है किन्तु वेदशब्द का अर्थ करने के लिए वेद के व्यवहार को भी तो मानना चाहिये। वेद में ही जब बहुत स्थानों में दूसरे अर्थ का भी निरूपण स्पष्ट अक्षरों में है, तब उस दूसरे अर्थ को व्यवहार विरुद्ध कैसे कहा जाय। प्रस्तुत पद्य में मन्त्रब्राह्मण समूहरूप ग्रन्थों का ग्रहण करने पर उनमें सामवेद को भगवान् ने अपना रूप बतलाया, उसमें शङ्का हो सकती है कि लोक में ऋक्, यजुः, साम, अथर्व–यही क्रम प्रसिद्ध है और वर्तमानयुग के ऐतिहासिक विद्वान् भी यही निर्णय करते हैं कि ऋक् वेद ही प्रधान वेद है, सामवेद तो उसके अन्तर्गत ही है। सामवेद नाम से जो ग्रन्थ आजकल प्रसिद्ध है उसमें केवल सत्तर के आसपास मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं मिलते। इस पर भी यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की सब शाखाएँ तो अभी प्राप्त नहीं हुई हैं, अतः वे सत्तर मन्त्र भी किसी ऋग्वेद की शाखा से लिये गये होंगे। इसके अतिरिक्त सामवेद की ध्वनि को धर्म शास्त्रकारों ने अपवित्र भी बताया है, फिर भगवान् ने उसे अपना रूप क्यों बताया ? इसका उत्तर है कि सामवेद ग्रन्थ परिमाण में चाहे छोटा हो, किन्तु गान सामवेद के मन्त्रों का ही होता है और भक्तिमार्ग में गान को प्रधानता दी जाती है। जैसा कि एक भगवान् की उक्तिरूप पद्य में स्पष्ट कहा गया है–

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ।।

भगवान् कहते हैं कि मैं वैकुण्ठ में भी नहीं रहता और योगियों के हृदय में भी मैं नहीं रहता, केवल मेरे भक्त जहाँ गान करते हैं वहीं रहा करता हूँ। यहाँ गीता के मध्यम षट्क में भक्ति का ही प्रतिपादन मुख्य है, इसलिए गान प्रधान सामवेद को अपना रूप बतलाया, जो युक्तियुक्त ही है। परिमाण में छोटा होने पर भी गानमय होने के कारण सामवेद की प्रधानता बतलाई गई।

दूसरा जो वेदशब्द का अर्थ कहा गया, उसका विवरण वेदों में ही इस प्रकार मिलता है कि प्रत्येक पदार्थ का जो स्वरूपभूत पिण्ड है, वह "ऋक्" है और जहाँ तक उसका स्वरूप दिखाई पड़े, वहाँ तक का मण्डल उसका "साम" कहलाता है। इन दोनों के बीच में जो प्राणरूप अग्नि भरा रहता है वह "यजुः" है। इन वेदों का विचार करने पर तो साममण्डल के पेट में ही ऋक् और यजुः दोनों आ जाते हैं। इसलिए अधिक प्रदेश में व्याप्ति होने के कारण सामवेद ही प्रधान है, उसे ही भगवान्

ने अपना रूप बतलाया। इन वैज्ञानिक वेदों का विवरण अप्रस्तुत होने के कारण यहाँ नहीं किया जाता। जिनको अधिक जानना हो वे हमारी लिखी हुई "वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति" नाम की हिन्दी पुस्तक में देख सकते हैं।

दूसरे और तीसरे विषय पर तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि देवों का राजा होने के कारण इन्द्र उनमें प्रधान है और सब इन्द्रियों का परिचालक होने के कारण मन उनमें प्रधान है ही।

चौथे पाद में भूत शब्द से चेतन प्राणियों का ग्रहण करना चाहिये। चेतन प्राणी, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि के समुदाय रूप होते हैं। उनमें बुद्धि की वृत्तिरूप जो ज्ञान है वही प्रधान है। उसी के कारण वे जड़ पदार्थ से विलक्षण कहे जाते हैं। वही बुद्धिवृत्तिरूपी ज्ञान यहाँ "चेतना" शब्द से कहा गया है उसे ही भगवान् ने अपना विभूति रूप बतलाया। चेतनाशब्द का आत्माअर्थ करना तो यहाँ युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि उसे तो भगवान् पहिले ही अपना रूप बता चुके हैं। (२२)

●

तीसवां-पुष्प

''रुद्राणां शङ्करश्चास्मि''

रुद्रों में शङ्कर रूप मैं हूँ। इस वाक्य को और विभूतियों की समान कोटि में नहीं समझना चाहिये, किन्तु ''अहं'' शब्द का अर्थ जो विद्यावाचस्पतिजी के व्याख्या के अनुसार सब जगह अव्ययपुरुष है, उस अव्ययपुरुष का मुख्य योग शङ्कर में मानना चाहिये। जैसा कि आगे ''**वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि**'' इस वाक्य में भी माना जायेगा। भगवान् कृष्ण विष्णुरूप हैं। वे विष्णु और भगवान् शङ्कर एक ही रूप हैं– यह आगे स्पष्ट किया जायेगा। पहिले इस वाक्य का विवरण कर देना आवश्यक है।

रुद्र के सम्बन्ध में श्रुति में दोनों प्रकार के वचन मिलते हैं–''**एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः**'' अर्थात् रुद्र एक ही है दूसरा नहीं–यह एक वचन है और दूसरा वचन यह भी श्रुति में ही प्राप्त है–''**असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्**'' अर्थात् हजारों जिनकी संख्या भी नहीं हो सकती, इतने रुद्र भूमि में विराजमान हैं। इनकी संगति शतपथ ब्राह्मण के नवमकाण्ड के आरम्भ में इस प्रकार लगाई गई है कि क्षत्र अर्थात् राजा रुद्र एक हैं और असंख्यात रुद्र जो बतलाये गये हैं वे विट् अर्थात् प्रजारूप हैं। इस वाक्य में अधिपति शङ्कर रूप मैं हूँ। अथवा रुद्र अन्तरिक्षस्थ देवता हैं। वे ग्यारह माने गये हैं। श्रुति और पुराणों में उनके नाम प्राप्त होते हैं। श्रुति में (बृहदारण्यक उपनिषद्) जनक के यज्ञ प्रसङ्ग में शाकल्य के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य ने तैंतीस देवताओं की गणना में ग्यारह रुद्र–दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा, यों मिलाकर गिनाये हैं। दस प्राणों का विवरण इस प्रकार है कि मस्तक में सात (दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख) नीचे दो–मलमूत्र त्याग करने के छिद्र, दसवीं नाभि और ग्यारहवाँ मुख्य प्राण, जो कि व्यवहार में भी प्राणशब्द से कहा जाता है। ये आध्यात्मिक रुद्र हुए। ये अन्तरिक्षस्थ रुद्र देवताओं से ही शरीर में उत्पन्न होते हैं। इसलिए रुद्र कहलाते हैं।

आधिदैविक एकादश रुद्र तारामण्डलों में विराजमान हैं। इनके नाम भिन्न-भिन्न रूप से मिलते हैं–१. अज, एकपात्, २. अहिर्बुध्न्य, ३. विरुपाक्ष, ४. त्वष्टा, अयोनिज या गर्भ, ५. रैवत, भैरव, कपर्दी या वीरभद्र, ६. हर, नकुलीश, पिङ्गल या स्थाणु, ७. बहुरूप, सेनानी या गिरीश, ८. त्र्यम्बक, भुवनेश्वर, विश्वेश्वर या सुरेश्वर, ९. सावित्र, भूतेश या कपाली, १०. जयन्त वृषाकपि, शम्भु या सन्ध्य, ११. पिनाकी, मृगव्याध, लुब्धक या शर्व। ये तारामण्डल में अभिज्ञ विद्वानों द्वारा पहिचाने जाते हैं।

आधिभौतिक रुद्रों में आठ तो शिव की मूर्ति प्रसिद्ध है, जिनका कि वर्णन कालिदास आदि कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। १. पृथिवी, २. जल, ३. वह्नि, ४. वायु, ५. आकाश, ६. सूर्य, ७. चन्द्रमा और ८. यजमान, अर्थात् यज्ञ करने वाले का आत्मा। इनके अतिरिक्त यज्ञ में प्रसिद्ध तीन अग्नियाँ—पवमान, पावक और शुचि, ये ग्यारह हैं। ये सब ही दोनों प्रकार के हैं। इनमें कुछ उपद्रावक अर्थात् प्राणियों का अहित करने वाले हैं, उनसे अपने को बचाने की प्रार्थना वैदिक सूक्तों में की गई और कई मन्त्रों में उनसे "मूजवान्" पर्वत से भी परे जाने की प्रार्थना की गई है। वे ही संहारक रुद्र माने जाते हैं और जो प्राणियों के हितकर हैं उन्हें उपास्य माना जाता है। यहाँ भगवान् ने भी रुद्रों में जो शङ्कर हैं, शम् नाम कल्याण का है, अर्थात् कल्याण करने वाले शिव रूप को ही अपना रूप बतलाया।

इस शिवरूप का वर्णन श्रुति और पुराणों में बहुत कुछ प्राप्त होता है। उसी के आधार पर हम यहाँ संक्षेप से शिव का वर्णन लिख देते हैं।

माण्डूक्योपनिषद् में—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः।।७।।

यह शिव के परात्पर रूप का वर्णन मिलता है। यहाँ "शिव" शब्द स्पष्ट है और उसे ही परमात्मा रूप से विज्ञेय बतलाया। इसका अर्थ है कि जो किसी के द्वारा प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता, लोक व्यवहार में भी जो नहीं आता है और किसी प्रमाण से भी जिसका ज्ञान नहीं हो सकता, जिसका कोई लक्षण न होने से अनुमान से भी नहीं जाना जा सकता, मन से भी जिसका चिन्तन नहीं हो सकता, जो किसी शब्द के द्वारा भी नहीं कहा जा सकता, एक ही आत्मा है—यह प्रतीति जिसके आधार पर होती है, सम्पूर्ण संसार जहाँ शान्त हो जाता है, ऐसा शम प्रधान, एकरूप ही शिव, तीनों जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति से चौथा माना जाता है। वही आत्मा है, उसे ही जानना चाहिये। परात्पर रूप ही जब माया के द्वारा सीमाबद्ध रूप में दिखाया जाता है, तब वही पुरुष कहलाता है। पुरुष, गीता के पन्द्रहवें अध्याय में तीन रूप में वर्णित हुआ है अव्यय, अक्षर और क्षर। उनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच कलाएँ उसी अध्याय की व्याख्या में कही जायेंगी। उनमें अव्यय पुरुष जो ईश्वररूप कहा गया है, उसकी पाँच कलाएँ—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् या अन्न नाम से तैत्तिरीय उपनिषद् में वर्णित हैं। उन पाँचों के रूप में शिव की उपासना भिन्न-भिन्न नामों से प्रसिद्ध है। आनन्द रूप शिव मृत्युञ्जय नाम से पूजित होते हैं, क्योंकि मृत्यु का जय करने पर ही आनन्द प्रकट होता है।

विज्ञान रूप शिव दक्षिणामूर्ति से नाम प्रसिद्ध हैं, क्योंकि शिव की दक्षिणामूर्ति वर्ण मातृका पर प्रतिष्ठित है और विज्ञान भी वर्णमातृका पर ही प्रतिष्ठित रहता है। इससे दक्षिणामूर्ति की विज्ञानरूपता सिद्ध हो जाती है। ये दोनों मूर्तियाँ श्वेतरूप में पूजित होती हैं। तीसरा मनोमय शिवरूप कामेश्वर नाम से पूजित होता है, क्योंकि मन कामप्रधान है। काम को मन का ही रेत या सार श्रुतियों ने माना है। जैसा कि नासदीयसूक्त में लिखा है–

कामस्तदग्रे समवर्तताधि

मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्।

मन के धर्म अनुराग का वर्ण रक्त होने के कारण तन्त्रों में यह कामेश्वर शिवमूर्ति रक्तवर्ण की मानी गई है और पञ्चप्रेत पर्यङ्क पर शक्ति के साथ विराजमान इस कामेश्वर की उपासना तान्त्रिकों में प्रसिद्ध है। चौथी प्राणमय शिवमूर्ति पशुपति, नीललोहित आदि नामों से प्रतिष्ठित है। आत्मा ही पशुपति है, प्राणरूप पाश के द्वारा विकाररूप पशुओं का नियमन करता है, अतः प्राणमय मूर्ति को पशुपति कहना युक्तियुक्त है। नीललोहित शब्द का रहस्य यह है कि प्राण वैदिक परिभाषा में दो प्रकार का है, एक आग्नेय और दूसरा सौम्य। अग्नि का वर्ण लोहित-सुनहरा और सोम का नील या कृष्ण माना गया है। दोनों को मिलाकर प्राणरूप शिव का नील-लोहित नाम कहा गया है। पाँचवीं वाङ्मय शिवमूर्ति भूतेश नाम से उपास्य है। भूतों की पूर्वावस्था ही वाक्शब्द से कही जाती है। इसलिए वाङ्मय मूर्ति का "भूतेश" नाम युक्तियुक्त है।

अव्यय पुरुष के आगे अक्षरपुरुष का प्रादुर्भाव है। अक्षरपुरुष के रूप में शिव भगवान् का वर्णन इस श्रुति में मिलता है–

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु

र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ्जनाँस्तिष्ठति सङ्चुकोचान्तकाले

संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ।। (श्वेताश्वर० ३।२)

इस श्रुति का अर्थ है कि एक ही रुद्र है, दूसरा कोई नहीं, जो सब लोकों को अपनी शक्ति से वश में रखता है और सबके भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान है, वह सबका पालन करता है और अन्तकाल में वही सब जगत् को संकुचित कर लेता है। स्वयं अविकृत रहकर जगत् का उत्पादन पालन आदि करना अक्षर का ही कर्तव्य है। उस अक्षरपुरुष की पाँच कलाएँ होती हैं–ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम। इन कलाओं का स्पष्ट वर्णन पन्द्रहवें अध्याय में ही किया जायेगा। यहाँ इतना ही कहना

है कि इन्द्र, अग्नि और सोम ये तीनों मिलकर एक महेश्वरस्वरूप बनता है। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड में निरूपण है और महाभारत द्रोणपर्व के अन्त में शतरुद्रीय प्रकरण में भी भगवान् व्यास का वचन है–

स वै रुद्रः स च शिवः सोऽग्निः सर्वश्च सर्ववित्
सचेन्द्रश्चैव वायुश्च सोऽश्विनौ सच्च विद्युतः।
स भवः सच पर्जन्यः महादेवः सनातनः।
स चन्द्रमा सचेशानः ससूर्यो वरुणश्च सः।

(भारतद्रोण पर्व, अ. २०२, श्लो० १०२-१०३)

यहाँ अग्नि, इन्द्र, और चन्द्रमा पद से सोम, ये तीनों शिव के रूप हैं–यह स्पष्ट है। अन्य देवताओं को भी यहाँ शिव की सर्वात्मकता बतलाने के लिए शिव का रूप ही बतलाया गया है। इससे भी शिव की अक्षर पुरुष रूप से सर्वात्मकता सिद्ध हो जाती है। उपमन्यु के तपस्या करने पर भगवान् शिव ने पहिले इन्द्र रूप से ही उसे दर्शन दिया था–यह भी महाभारत और शिव पुराण में स्पष्ट रूप से वर्णित है। अग्नि और सोम दोनों शिव के बाह्य रूप हैं, जिनका कि वर्णन अभी आगे इस लेख में किया जायेगा।

आगे क्षर पुरुष रूप शिव अष्टमूर्ति रूप हैं, जिनका कि विवरण हम पूर्व आधिभौतिक रुद्र रूप से कर आये हैं। यों परात्पर और त्रिपुरुषरूपता शङ्कर की स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

पद्य खण्ड के अर्थ में जो पहिले लिखा गया है कि रुद्र का घोर रूप भी होता है और शिवरूप भी। वे रूप भी अक्षर पुरुष के अन्तर्गत ही समझने चाहिये। ऐतरेय श्रुति में लिखा है–"अग्निर्वा रुद्रः, तस्यैते द्वे तन्वौ, घोरान्या च शिवान्या च" आदि। इसका तात्पर्य है कि "अग्नीषोमात्मकं जगत्" अर्थात् अग्नि और सोम ये दोनों जो अक्षर पुरुष की पृष्ठ कलाएँ पूर्व अक्षर पुरुष के निरूपण में कही गई हैं, उनमें ही अग्नि के यहाँ दो रूप बतलाये गये–एक घोर रूप और दूसरा शिव रूप। जब तक अग्नि अकेला रहे तब तक वह घोररूप रहता है, उससे नाना प्रकार के रोग उत्पात आदि हुआ करते हैं, किन्तु सोम का सम्बन्ध होने पर उसका रूप शिव अर्थात् कल्याण कर हो जाता है। जितना सोम का सम्बन्ध अग्नि में हो उतना ही वह कल्याणकर बनता जाता है। इसलिये सोम सहित अग्नि ही शिवरूप से उपास्य है। उपद्रावक रूप अर्थात् केवल रुद्ररूप अग्नि से शान्त रहने या अपने को व अपने परिजनों को न मारने की प्रार्थना वैदिक रुद्रसूक्तों में की गई है और उससे मूजवान पर्वत के पार चले

जाने की भी प्रार्थना है। "परो मूजवतोऽतीहि"। मूजवान पर्वत शूलेमान नाम से प्रसिद्ध पर्वत के समीप है और शिवरूप अर्थात् सोम मिश्रित अग्नि से–

"या ते रुद्र शिवा तनुरघोरा पापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्तामिचाकशीहि"

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा अपनी सम्हाल रखने की प्रार्थना की गई है। मन्त्र का अर्थ है कि हे पर्वत के निवासी शिव ! जो तुम्हारा कल्याणकारी रूप है उस परमकल्याण कर रूप से हमारा शासन करते रहो। यही रूप सदाशिव नाम से सबका उपास्य होता है। आगमशास्त्र में इस रूप को ईश्वर से भी ऊपर माना गया है, किन्तु उस आगमिक प्रक्रिया का यहाँ विस्तार करना अप्रकृत प्रसङ्ग हो जायेगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि रुद्र अन्तरिक्षस्थ देवता हैं–यह पूर्व कहा जा चुका है और निरुक्त में अन्तरिक्षस्थ देवताओं का सामान्य नाम वायु है। वही वायु केवल अग्नि का सम्बन्ध होने से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर देता है और सोम का मिश्रण हो जाने पर सदा ही शिव रूप रहता है। इसी कारण सदाशिव नाम से रुद्र की उपासना मन्त्र में बतलाई गई है। वायु का घनीभूत रूप जल है और जल को ही वैदिक परिभाषा में अम्बा या अम्ब कहा जाता है। इस कारण सोम का अधिक सम्बन्ध बनाने के लिये साम्ब सदाशिव शब्द का भी उपासना में प्रयोग किया करते हैं।

अग्नि की प्रखररूपता के कारण पुरुषरूप और सोम को शीतलरूपता के कारण शक्तिरूप से समझा भी जाता है। इनमें से अग्नि सदा उर्ध्वगामी अर्थात् ऊपर को जाने वाला रहता और सोम ऊपर से नीचे की ओर आने वाला होता है। वास्तविक विचार में ये दोनोंएक ही रूप हैं। ऊपर जाने की एक मर्यादा है, उस मर्यादा पर पहुँच कर अग्नि सोमरूप में परिवर्तित हो जाया करता है और नीचे की ओर आकर जब वह सोम अग्नि में गिरता है तब वह अग्निरूप में परिवर्तित हो जाता है। घृत तण्डुल आदि सोमप्रधान पदार्थों का अग्नि में गिरकर अग्निरूप हो जाना तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। अथर्ववेद के बृहज्जाबालोपनिषद में लिखा है–

अग्नीषोमात्मकं विश्वमित्यग्निराचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी तनूः। शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजो विद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी ।।१।।

द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानिलात्मिका ।।२।।
वैद्युतादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजो रसविभेदैस्तु वृतमेतच्चराचरम् ।।३।।
अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ।।४।।
ऊर्ध्वशक्तिमयः सोमः अधः शक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ।।५।।
अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सोम्यममृतं विसृजत्यधः ।।६।।
अतएव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ।।७।।
आधारशक्त्यवधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ।।८।।
शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किंचन ।।९।।

इसका अर्थ यह है कि "इस सब जगत् के आत्मा अग्नि और सोम हैं या इसे अग्निरूप भी कहते हैं। घोर तेज (अग्नि) रूद्र का शरीर है, अमृतमय शक्ति देने वाला सोम शक्तिरूप है। अमृतमय सोम सबकी प्रतिष्ठा है, विद्या और कला आदि में तेज व्याप्त है। स्थूल व सूक्ष्म सब भूतों में रस (सोम) है और तेज (अग्नि) सब जगह व्याप्त है। तेज दो प्रकार का होता है–सूर्य और अग्निरूप एवं सोम के भी दो रूप हैं–रस (जल) और अनिल (वायु)। तेज के विद्युत् आदि अनेक विभाग हैं और रस के मधुर आदि भेद हैं। तेज और रस से यह चराचर जगत् बना है। अग्नि से ही अमृत (सोम) उत्पन्न होता है और सोम से अग्नि बढ़ता है, अतएव अग्नि और सोम के परस्पर हविर्यज्ञ से सब जगत् उत्पन्न है। अग्नि ऊर्ध्वशक्तिमय होकर अर्थात् नीचे आकर अग्नि बन जाता है। इन दोनों के सम्पुट से निरन्तर यह विश्व रहता है। अग्नि जब तक सोमरूप में परिणत न हो तब तक ऊपर ही जाता रहता है और सोम जब

तक अग्निरूप न बने तबतक नीचे ही गिरता रहता है। इसीलिये कालाग्निरूप रुद्र नीचे है और शक्ति इनके ऊपर विराजमान है। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्र में शिव के वक्ष:स्थल पर विराजमान शक्ति की उपासना प्रचलित है। अथवा उसका यह भी आशय हो सकता है कि ज्ञानशक्तिरूप शिव के आधार पर क्रियाशक्तिरूप शक्ति विराजमान है। दूसरी स्थिति में अर्थात् सोम की आहुति हो जाने पर अग्नि ऊपर और पावन सोम नीचे हो जाता है। ऊपर आता हुआ अग्नि अपनी आधारशक्ति सोम से धृत है (बिना सोम से उसका जीवन नहीं) और नीचे आता हुआ सोम शिव की ही शक्ति कहलाता है अर्थात् बिना शिव के आधार के वह भी नहीं रह सकता, दोनों एक दूसरे के आधार पर हैं। शिव शक्तिमय है और शक्ति शिवमय है, शिव और शक्ति जहाँ व्याप्त न हो–ऐसा कोई स्थान नहीं है।"

अग्नि और सोम का इससे अधिक विस्पष्ट वर्णन हो नहीं सकता। ये दोनों अग्नि और सोम अक्षररूप महेश्वर के ही अन्तर्गत हैं। इस प्रकार तीनों पुरुषों के रूप में शङ्कर भगवान् का वर्णन किया गया।

●

इकतीसवाँ-पुष्प

"शङ्कर का महत्व"

आर्य शास्त्रों के अनुसार ईश्वर तीन रूपों में उपास्य होता है– विश्व, विश्वचर और विश्वातीत। सम्पूर्ण विश्व को ईश्वररूप में देखना पहला मार्ग है। विश्व में सर्वत्र व्यापक ईश्वर को देखना दूसरा मार्ग है और विश्व से सर्वथा पृथक् तथा उससे ऊपर ईश्वर को देखना तीसरा मार्ग है। अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीनों पुरुषों में क्षर पुरुष ही विश्व के रूप में परिणत हुआ करता है। वह क्षर भी अक्षर का ही परिणाम या विवर्त है, अतः वह अक्षर ही जगत् को उत्पन्न कर "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (उसको उत्पन्न कर उस पर बैठ गया) इस न्याय से जगत् में व्याप्त होकर उसे अपनी मर्यादा में रखने के कारण विश्वचर कहलाता है और अव्यय पुरुष यद्यपि सबका आधार है, किन्तु सबमें सम्मिलित नहीं होता। जैसा कि यहीं नवम अध्याय के चौथे पद्य में भगवान् ने कहा है। इसलिए अव्ययपुरुष को और उससे भी पूर्व माया विरहित परात्पर को विश्वातीत कहा जाता है। इनमें से विश्वातीत और विश्वचर भगवान् शङ्कर के रूप का पूर्व पुष्प में विवरण किया गया।

अब उनके विश्वरूप की व्याख्या की जाती है। विश्वरूप का वर्णन मुण्डकश्रुति में इस प्रकार आता है–

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ, दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य, पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।

(मुण्ड० २।१।४)

अर्थात् अग्नि जिसका मस्तक है, सूर्य और चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, दिशाएँ जिसके कान हैं, वेद जिसकी वाणी है, वायु जिसके प्राण हैं, विश्व के प्राणी जिसके हृदय हैं और पृथिवी जिसके पैर हैं, वह सब भूतों का अन्तरात्मा ईश्वर है। इसी का विस्ताररूप से कथन पुराणों के विराट्रूप वर्णन में किया गया है। यहाँ अग्नि पद से सूर्य से आरम्भ कर आगे के स्वयम्भू पर्यन्त सब लोक समझ लेने चाहिये। स्वयम्भूमण्डल अग्निप्रधान है और सूर्यमण्डल भी अग्निप्रधान है, इस कारण अग्निशब्द से ही आगे के पाँचों लोकों को श्रुति में कह दिया गया।

अब भगवान् शङ्कर की मूर्त्ति की ओर ध्यान देना चाहिये। जो सूर्य से आरम्भ कर पाँच लोकश्रुति में कहे गये हैं, जिनको ईश्वर का मस्तक कहा है उसी का अनुसरण

कर शङ्कर की मूर्त्ति भी पाँच मस्तकों की बनाई जाती है। उनमें सबसे ऊपर का स्वयम्भूमण्डल रूप मुख अग्निप्रधान होने के कारण रक्त बनाया जाता है जिसका नाम "ईशान" है। पूर्व की ओर "तत्पुरुष" नाम का मुख सूर्य स्थानीय है, वह श्वेतरूप का बनाया जाता है, क्योंकि सूर्य की किरणों में सातों रूप मिलाकर श्वेतरूप ही भासित होता है। मध्य का जनलोक अप्प्रधान होने के कारण कृष्णरूप माना जाता है जो मूर्ति में दक्षिण की ओर रक्खा जाता है, वह "अघोर" नाम से प्रसिद्ध है। पश्चिम की ओर का मुख "सद्योजात" नाम से पीतवर्ण का माना जाता है उसे महर्लोक का प्रतिनिधि मान लेना चाहिये। रक्त और कृष्ण का मध्यवर्ती पीतवर्ण माना जाता है। उत्तर ओर का मुख "वामदेव" नाम का तपो नाम का प्रतिनिधि पुनः श्वेतवर्ण माना जाता है। यही बात शङ्कर के ध्यान में भी कही गई है –

"मुक्तापीतपयोदभौक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभिः"

श्रुति में जो सूर्य और चन्द्रमा नेत्र बतलाये गये हैं, उनके साथ अग्नि को और मिलाकर शङ्कर की मूर्ति में तीन नेत्र रखे जाते हैं। उनमें मध्य का नेत्र कुछ ऊपर की ओर उठा हुआ रखा जाता है। वह मस्तक की ओर उठने का ही सङ्केत समझना चाहिये। सातों लोकों में सूर्यपर्यन्त तीन लोक ही मुख्य माने जाते हैं, आगे के लोक हमारे लिए अप्रकाशित ही हैं, इसलिए शङ्कर के आकार में भी उनको जटारूप से ही माना गया है। जनलोक ही जलप्रधान है–यह कह चुके हैं। इसी आशय से भगवान् शङ्कर की जटा में गङ्गा का निवास माना जाता है। चन्द्रमण्डल तो मूर्ति में नेत्ररूप से आ गया, आगे जटा के समीप जो चन्द्रमा है, वह चन्द्रकलारूप है। इसका भी आशय है कि जनलोक भी सोमप्रधान होने के कारण (सोम, वायु और जल तीनों एक ही तत्त्व के रूप हैं, इसलिए जनलोक को जलप्रधान या सोमप्रधान कहने में विरोध नहीं समझना चाहिये।) चन्द्रशब्द से कहा जाता है, किन्तु वह मण्डलरूप नहीं है, कलारूप ही है, वही मस्तक के ऊपर का चन्द्रमा है। इन्हीं सब बातों को लक्ष्य कर शङ्कर का "व्योमकेश" नाम भी कहा जाता है। यहाँ व्योम शब्द से द्युलोक के ऊपर का ही आकाश समझना चाहिये। भगवान् शङ्कर का ध्यान श्वेतरूप में किया जाता है। जैसा कि कहा गया है–

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारु चन्द्रावतंसम्
रत्नाकल्पोज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम् ।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानम्
सर्वाद्यं सर्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ।।

इस ध्यान से पद्य में "रजतगिरिनिभं" और "रत्नाकल्पोज्वलाङ्गम्" ये दोनों पद शङ्कर का स्वच्छ श्वेतरूप बतलाते हैं। इसका आशय एक तो यह है कि वैज्ञानिकों के मतानुसार श्वेतरूप सब रूपों की समष्टिरूप है। सब रूपों को मिलाने पर यदि वे सबके सब जागृत रहें तो श्वेत होता है और सब मूर्च्छित हो जाँय तो कृष्णवर्ण होता है। दोनों ही प्रकार के हमारे देवताओं के ध्यान प्रसिद्ध हैं। कृष्णरूप में भगवान् विष्णु, भगवती काली आदि का ध्यान होता है और श्वेतरूप में भगवान् शङ्कर का। सूर्य किरणों में सातों ही रूप हैं–यह वैज्ञानिक भी कहते हैं; और तिकोने काच से देखने पर स्पष्ट भी देखे जा सकते हैं। सातों रूपों के पृथक्-पृथक् कागज लेकर एक चक्कर में रखकर उनको जोर से घुमाने पर भी श्वेत ही दिखाई देगा। इन दशाओं में सातों रूप जागृत रहते हैं यही कारण श्वेत दीखने का है। इससे यही सिद्ध हुआ कि सब रूप भगवान् शङ्कर में ही हैं और वे जागते हुए हैं। इसीलिए मन्त्रशास्त्र में शिव को प्रकाशरूप कहा जाता है और शक्ति को विमर्शरूप कहा जाता है। विमर्शप्रकाश का विरोधी होने से कृष्णवर्ण हुआ। उस कृष्णवर्ण शक्ति को पृथक् निकाल लेने पर शङ्कर का श्वेतरूप ही शेष रह जाता है। दूसरी बात यह भी है कि श्वेतरूप स्वाभाविक है और रूप–काला, पीला, लाल आदि रङ्ग श्वेत पर चढ़ाये जाते हैं, किन्तु श्वेत बनाने के लिए किसी रङ्गरेज की आवश्यकता नहीं होती और रङ्गों को धोकर हटा देने पर वस्त्र आदि श्वेत ही हो जाते हैं। इससे श्वेतवर्ण सब रङ्गों का अभावरूप ही सिद्ध होता है, बस, जहाँ सब रूपों का अभाव हो और सब रूपों की समष्टिरूप जो हो अर्थात् सब रूप उसी से प्रकट होते हों, वही ईश्वर का रूप हुआ। उसी रूप में शङ्कर का ध्यान किया जाता है। ईश्वर का विरुद्ध धर्मों का आश्रय होना भी श्रुति स्पष्ट बतलाती है–"**तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके**" वह चलता है, नहीं भी चलता है, वह दूर भी है और समीप भी है, वे विरुद्ध धर्म भी शङ्कर की मूर्ति के ध्यान में स्पष्ट हैं, वही गङ्गारूप से जल भी विराजमान है और नेत्ररूप से अग्नि भी वहीं विराजमान है, उसी मूर्ति में अमृतमय चन्द्रमा भी है और विष भी है। विष को गले में छिपा रक्खा है और चन्द्रमा को मस्तक के ऊपर स्पष्ट कर रक्खा है। इससे भक्त लोग अमृत का ही लाभ करते हैं, विष उनकी दृष्टि में आता ही नहीं। ये सब ईश्वर के लक्षण शङ्कर में विद्यमान हैं। उनके हाथ में जो मृग है, वह यज्ञ का प्रतीक है। श्रुति में ऐसा वर्णन मिलता है कि यज्ञ मृगरूप होकर दौड़ा। यज्ञ से ही सब संसार का उत्पादन और पालन होता है, इसलिए ईश्वर के हाथ में यज्ञ रक्खा गया है और काटनेवाला परशु संहार का चिह्न है। शेष दो हाथों में जो वर और अभय उक्त ध्यान में बतलाये गये हैं, वे भक्तों को उत्तम लोक देना या उनका मृत्यु का भय हटाना प्रकट कर रहे हैं। उनका शरीर जो

विभूति से आच्छन्न रहता है, वह विभूति भस्मरूप है और वही जगत् का मूलतत्त्व है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि भिन्न-भिन्न रूपों के पदार्थ जलाने पर सब कोयले के रूप में काले हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न रूप पहिले सब पदार्थों में सूर्य किरणों से प्राप्त थे उन सबको जब अग्नि ने हटा दिया तब भीतर का स्तर काला निकल पड़ा जो कि परमेष्ठीमण्डल का रूप है। वह मण्डल सोमप्रधान होने से कृष्णवर्ण ही है, उन जले हुए कोयले आदि पदार्थों को भी फिर अग्नि में डाला जाय तो अन्त में श्वेत भस्म ही प्रकट होता है–यह अन्तिम श्वेतरूप स्वयम्भूमण्डल का है और पूर्व कथन के अनुसार यह स्वतः सिद्ध है। स्वयम्भूमण्डल ही सब जगत् के आदि में बना है, जैसा कि मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में जगत् की सृष्टि का निरूपण करते हुए बतलाया गया है। इसी आशय से हमने विभूति रूप भस्म को जगत् का मूलतत्त्व कहा था। सब जगत् का संहार कर अन्त में भगवान् शङ्कर उसके भस्म को शरीर पर लपेटे रहते हैं और इसी से आगे फिर जगत् का उत्पादन करते हैं, यह उत्पादन और संहार की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

अब शङ्कर के शरीर में जो चारों ओर सर्प लिपटे रहते हैं उसका भी आशय बतलाया जाता है। एक तो स्पष्ट बात यह है कि भगवान् शङ्कर को जगत् का संहारकर्त्ता माना जाता है, इसलिए संहार की सामग्रीरूप सर्प उनके शरीर में रहना आवश्यक है। दूसरी बात यह भी है कि शङ्कर तमोगुण के नियन्ता माने गये हैं और सर्प से अधिक तमोगुणी जीव कोई नहीं मिलता, अपने बच्चों का भी आप ही खा जाना यह सर्प जाति की स्त्रियों में ही देखा जाता है। इसलिए उस तमोगुण रूप सर्प को भगवान् अपने शरीर में ही नियन्त्रित रखते हैं। तीसरा आशय कुछ गम्भीर है और ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। आकाशमण्डल में जो ग्रह घूमते हैं वे एक बार जिस मार्ग पर चलकर मण्डल बनाते हैं, दूसरी बार उसी मार्ग पर नहीं चलते, किन्तु कुछ हटकर चलते हैं। इस प्रकार उनके भिन्न-भिन्न मण्डल बनते जाते हैं और कुछ काल के अनन्तर जब उसी पहले मार्ग पर आ जाते हैं तब उनके वे मण्डल सर्प के रूप में वेष्टित हो जाते हैं। ऐसे प्रत्येक ग्रह नक्षत्रों के भिन्न-भिन्न सर्पों के आकार बन जाते हैं। आकाश भगवान् शङ्कर का प्रथम शरीररूप है, इसलिए उसमें वे सर्प भिन्न-भिन्न स्थानों में दिखलाये गये हैं। ध्यान में कहा हुआ व्याघ्र चर्म भी संहारक जन्तु सम्बन्धी होने के कारण संहार की ही सामग्री है। "प्रसन्न" पद से उनकी आनन्दरूपता ध्यान में प्रकट की गई है और कमल पर बैठे हुए जो उक्त ध्यान में शङ्कर को बतलाया गया है, वहाँ कमल पृथिवीरूप है और सब लोकों में व्यापक शङ्कर का भी अपने पृथिवीलोक में ही ध्यान करना भक्तों के लिए हितकर होता है, इसी आशय से वह पद दिया गया है। इस सम्पूर्ण ध्यान के विवरण से शङ्कर की महेश्वररूपता स्पष्ट हो जाती है।

ब्रह्मा विष्णु और शङ्कर की एकता

श्रुतियों में तो एक ही परब्रह्म माना गया है। सृष्टि करने वाला, पालन करने वाला और संहार करने वाला ये तीनों ब्रह्मा विष्णु और शिवरूप पुराणों में ही वर्णित हैं, उन पुराणों में तीनों की एकता ही बतलाई गई है। विष्णुपुराण में ब्रह्मा का कथन है कि–

मद्रूपमास्थाय सृजत्यजो यः, स्थितौ च योऽसौ पुरुषस्वरूपी ।
रुद्रस्वरूपेण च योऽत्ति विश्वं, धत्ते तथानन्तवपुस्समस्तम् ।

(विष्णु पु० अंश ४। अ.१ श्लो०८६)

जो अजन्मा मेरे रूप को धारण कर जगत् की सृष्टि करता है, स्थिति के समय जो पुरुषरूप है और जो रुद्र स्वरूप धारण कर विश्व का संहार करता है तथा अनन्तशरीर वाले विष्णु के रूप में सम्पूर्ण विश्व का धारण करता है।

इसी प्रकार शिवमहिमाप्रधान कूर्मपुराण में भी कहा है कि–

रजोगुणमयं चान्यद्रूपं तस्यैव धीमतः ।
चतुर्मुखस्तु भगवान् जगत्सृष्टौ प्रवर्तते ।
सृष्टं च पाति सकलं विश्वात्मा विश्वतो मुखः ।
सत्वं गुणमुपाश्रित्य विष्णुर्विश्वेश्वरः स्वयम् ।
अन्तकाले स्वयं देवः सर्वात्मा परमेश्वरः ।
तमोगुणं समाश्रित्य रुद्रः संहरते यतः ।
एकोऽपि सन् महादेवस्त्रिधाऽसौ समवस्थितः।

(कूर्म पु० पू० ४।५०-५३)

अर्थात् उसी प्रसिद्ध पुरुष का रजोगुणप्रधान दूसरा रूप है जिससे ब्रह्मा के रूप में जगत् की सृष्टि करता है और वही सत्वगुण का आश्रय कर विश्वात्मा विष्णु के रूप में उस जगत् का पालन करता है तथा अन्त में तमोगुण का आश्रय कर रुद्ररूप में विश्व का संहार करता है। यों एक ही महादेव तीनों रूपों में स्थित हैं।

इसी प्रकार प्रायः सभी पुराणों में तीनों रूपों की एकता ही बतलाई गई है। कूर्मपुराण में तीनों के पृथक् पृथक् नाम लिखकर उन नामों की निरुक्ति से भी एकता सिद्ध की गई है एवं शिव और विष्णु के जहाँ जहाँ सहस्र नाम मिलते हैं

उनमें भी विष्णु सहस्रनाम में शिव के और शिव सहस्रनाम में विष्णु के भी नाम अन्तर्गत होते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी तीनों की एकता मानने से ही निर्वाह होता है। तीनों रूपों को भिन्न-भिन्न मान लेने पर संहारक रूप का ही अधिक महत्व सिद्ध होगा, क्योंकि वह एक के उत्पादित और दूसरे के पालित जगत् को नष्ट कर देता है, इस कारण वही उन दोनों से बड़ा सिद्ध हुआ। इसी प्रकार यह भी मानना होगा कि संहारक रूप ही सबका संहार कर अन्त में शेष रहता है, तब आगे सृष्टि भी वही कर सकता है, क्योंकि दूसरा कोई रूप तो बचा ही नहीं है ? फिर वह सृष्टि करने या पालन करने कहाँ से आवेगा। इससे यही मानना उचित है कि एक ही परमात्मा किसी रूप से सृष्टि करता है, किसी रूप से पालन करता है और किसी रूप से संहार करता है, वही अन्त में शेष रहता है। इससे ब्रह्मा विष्णु और शङ्कर की एकरूपता ही सिद्ध होती है।

इनमें ब्रह्मा की उपासना का तो कोई सम्प्रदाय नहीं, किन्तु विष्णु और शिव के सम्प्रदाय उपासकों में बहुत प्रसिद्ध हैं और उनमें परस्पर कौन छोटा और कौन बड़ा इस बात को लेकर परस्पर कलह भी चलता रहता है। किन्तु पुराणों को देखने से यही प्रतीत होता है कि यह कलह आधुनिक साम्प्रदायिकों का ही है, भगवान् व्यास ने तो जैसे पाद्म, वैष्णव, नारद, वाराह, गारुड़ ये पुराण विष्णु की प्रधानता के बनाये हैं; इसी प्रकार वायु (शिव) लिङ्ग, स्कन्ध, कूर्म और ब्रह्माण्ड ये पुराण शिव की प्रधानता के बनाये हैं। विष्णु की प्रधानता के पुराणों में विष्णु को ही उत्पादक, पालक और संहारक कहा है एवं शिव के प्रधानता के पुराणों में शिव को ही उत्पादक, पालक और संहारक रूप से वर्णित किया है। शेष पुराणों में मिली-जुली ही पाँचों देवताओं की उपासना बतलाई है। यहाँ भगवद्गीता में भी अव्यय पुरुषरूप भगवान् कृष्ण ने विष्णु और शङ्कर दोनों को ही अपनी विभूति कहा है। इससे दोनों की समानता या एकरूपता ही प्रकट होती है। वस्तुतः अव्यय पुरुषरूप मूलतत्त्व को "वेवेष्टि" इति विष्णुः (जो सबका वेष्टन करे अर्थात् सबके भीतर बाहर रहे) इस व्युत्पत्ति के अनुसार चाहे विष्णु कह लिया जाय अथवा "शेरतेऽस्मिन् लोकाः" (जिसमें सब लोक शयन करते हैं अथवा जो सबका कल्याणकारक है) इन व्युत्पत्तियों के अनुसार शिव कह लिया जाय, इससे दोनों की मूलतत्त्वरूपता ही सिद्ध होती है, कोई भेद नहीं सिद्ध होता। शिष्ट सम्प्रदाय में भी एक पद्य प्रसिद्ध है-

उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययतो भिन्नवद्भाति ।
कलयतु कश्चन मूढो हरिहरभेदं विना शास्त्रम् ।

अर्थात् दोनों हरि और हर शब्दों में प्रकृतिरूप हृ धातु एक ही है, केवल प्रत्यय का भेद है। उस प्रत्यय का भी अर्थ एक ही है, इसलिए हरि और हर दोनों शब्दों का एक ही अर्थ सिद्ध हुआ। इन दोनों में भेद कल्पना शास्त्रों को बिना देखे ही है।

कई सज्जन श्रीशङ्कर को तमोगुणी कहकर इनको उपासना के अयोग्य बतलाने की चेष्टा किया करते हैं, किन्तु उन्हें यह सोचना चाहिये कि जीव तो प्रकृति के गुणों के वश में रहा करते हैं और ईश्वर प्रकृति या माया के वश में नहीं होता, अपितु प्रकृति या माया का नियन्त्रण करता है। शिव भगवान् ईश्वर हैं, वे भी प्रकृति या माया के नियन्त्रण करने वाले ही हैं, तब सत्वगुण का नियन्त्रण करने की अपेक्षा मलिन तमोगुण का नियन्त्रण कठिन होता है, इससे तो शिव का उत्कर्ष ही सिद्ध होता है। शिष्ट सम्प्रदाय में भिन्न-भिन्न देवताओं से भिन्न-भिन्न फलप्राप्ति की इच्छा का भी एक पद्य प्रसिद्ध है –

आरोग्यं भास्करादिच्छेद् धनमिच्छेत् हुताशनात् ।
ज्ञानं महेश्वरादिच्छेत् मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात् ।
शक्तेरनन्तसौभाग्यम्' इत्यादि ।

अर्थात् रोगरहित रहने की सूर्य भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये, धन प्राप्ति की इच्छा अग्नि से करनी चाहिये, ज्ञान महेश्वर की उपासना से प्राप्त करना चाहिये एवं मोक्ष विष्णु भगवान् से प्राप्त करना चाहिये और लौकिक भिन्न प्रकार का ऐश्वर्य आदि शक्ति की उपासना से होता है आदि। इससे मोक्ष प्राप्ति के लिए भगवान् विष्णु की ही उपासना प्राप्त होती है, ऐसा कई विद्वान् कहा करते हैं, किन्तु इसमें भी यह विचार आवश्यक है कि बिना तत्त्वज्ञान के तो मोक्ष होता नहीं–यह "**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है। तब विष्णु भगवान् भी बिना तत्व के तो मुक्ति देंगे नहीं और ज्ञान महेश्वर से ही मिलेगा, तब यही सिद्ध हुआ कि मोक्ष का अधिकारी पहिले महेश्वर भगवान् बना देते हैं तब उसका मोक्ष में प्रवेश भगवान् विष्णु कर लेते हैं। इससे मोक्ष देना भी दोनों ही के द्वारा सिद्ध हुआ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य श्रीवल्लभाचार्य ने भी अपने सम्प्रदाय के सारभूत आरम्भिक ग्रन्थ में यह लिखा है कि यद्यपि शिव और विष्णु दोनों ही भोग और मोक्ष देने में समर्थ हैं, तथापि शिव भोग ही देते हैं और विष्णु मोक्ष ही देते हैं। इसमें युक्ति उन्होंने यह लिखी है कि जो जिसका स्वयं उपयोग करता है, वह दूसरे को नहीं देता यह प्रसिद्ध बात है। विष्णु भगवान् भोग का उपयोग स्वयं करते हैं और शिव शान्ति रूप मोक्ष का उपयोग करते हैं, इस कारण शिव अपने उपयोग की वस्तु मोक्ष न देकर

भोग ही देते हैं और विष्णु अपने उपयोग की वस्तु भोग किसी को न देकर मोक्ष ही देते हैं। किन्तु यहाँ भी ऐसी विपरीत युक्ति कही जा सकती है कि जिसके पास जो हो वही तो दूसरे को भी दे सकेगा। इससे भगवान् विष्णु के पास यदि भोग माना जाता है तो वे भोग ही दे सकेंगे और शिव के पास शान्तिरूप मोक्ष माना जाता है तो वे मोक्ष ही दूसरे को दे सकेंगे। इसलिए ऐसी युक्तियों में न पड़कर दोनों से ही साधक की इच्छा और अधिकार के अनुसार दोनों ही प्राप्त होते हैं–यह ही मानना चाहिये।

महाभारत के अनुशासन पर्व में जब महाराज युधिष्ठिर महाविद्वान् भीष्म से धर्म सुन रहे थे और उन्होंने शिव की महिमा सुनना चाहा, तब भीष्म पितामह ने यही उत्तर दिया कि शिव की महिमा कहने में मैं असमर्थ हूँ; क्योंकि शिव भगवान् तो सर्वत्र व्यापक हैं और दिखाई किसी को कहीं नहीं देते। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि केवल मैं ही नहीं कोई भी जीवधारी शिव की महिमा कहने में असमर्थ है, हाँ इस सभा में भगवान् कृष्ण उपस्थित हैं, ये उनके अनतरङ्ग हैं। ये चाहें तो उनकी महिमा का वर्णन कर सकते हैं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से भी प्रार्थना की कि आप युधिष्ठिर को शिव की महिमा सुनाइये। भगवान् कृष्ण ने भी आरम्भ में यह कह कर कि शिव की महिमा पूर्ण रूप से जानने में तो ब्रह्मा आदि भी असमर्थ रहते हैं, हाँ उनके कुछ गुणों का वर्णन करता हूँ। इसके आगे उन्होंने अपनी रानी जाम्बवती की सुयोग्य पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना और सुयोग्य पुत्र प्राप्ति के लिए शङ्कर की तपस्या और उनकी कृपा प्राप्त करने की अभिलाषा से अपने गरुड़ पर चढ़कर शिव के परमभक्त उपमन्यु के आश्रम में जाना, वहाँ उनसे दीक्षा प्राप्त कर बहुत काल तक शिव की तपस्या करना, अन्ततः प्रसन्न होकर पार्वती सहित शिव का इन्हें दर्शन देना और प्रसन्नतापूर्वक शिव और पार्वती दोनों के ही इन्हें वरदान–यह लम्बी कथा भगवान् कृष्ण ने उस सभा में सब को सुनाई। इससे सब सभा बड़ी प्रसन्न हुई और शिव का गुणगान करने लगी।

कूर्मपुराण आदि में यही कथा कहकर इसके आगे इतना और कहा गया है कि वरदान देकर भगवान् शिव ने कृष्ण से अपने साथ ही चलने को कहा और इन्हें कैलाश पर अपने साथ लिवा ले गये। वहाँ कृष्ण बहुत काल तक आनन्द विहार करते रहे। इसी अवसर में द्वारका को सूनी समझ कई शत्रुओं ने द्वारका पर आक्रमण कर दिया, तब गरुड़ जहाँ इन्हें पहुँचा आये थे, वहाँ लेने को आये, किन्तु वहाँ न पाकर वापस लौट गये, फिर नारद से पता पाकर गरुड़ कैलाश पर गये और वहाँ कृष्ण को शत्रुओं के आक्रमण का सब वृत्तान्त सुनाया, तब कृष्ण शिव से विदा लेकर द्वारका आये और यथावत् पुरी की रक्षा की, इत्यादि।

यह आगे का कूर्मपुराण आदि में किया हुआ वर्णन मनुष्य आकारधारी शङ्कर

का ही हो सकता है। वरदान तक का महाभारत वर्णन तो ईश्वर रूप शङ्कर का है। उन्हीं का नररूप में अवतार भी पुराणों से सिद्ध होता है, जिनका पार्वती से विवाह आदि का वर्णन है और अर्जुन के साथ युद्ध वर्णन भी महाभारत में मिलता है। वे नररूपधारी शिव भगवान् शिव के अवतार ही कहे जा सकते हैं। पुराणों में रुद्र की सृष्टि का भी दो प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है–एक भूत, प्रेत, पिशाच आदि की सृष्टि उन्होंने की, उनको मनुष्यों का नाशक समझकर ब्रह्मा ने उन्हें ऐसी सृष्टि करने से मना कर दिया और दूसरे कई पुराणों में ऐसा भी मिलता है कि शङ्कर ने ब्रह्मा की प्रेरणा पर अपने समान ही भयानक रूप वाले तथा जन्म मृत्यु से रहित प्राणियों की सृष्टि आरम्भ की, तब ब्रह्मा ने उनसे कहा कि मृत्युरहित ऐसे प्राणियों की सृष्टि करोगे तो संसार इन्हीं से भर जायेगा, फिर अन्य पैदा किये हुए प्राणी कहाँ रहेंगे। इससे मरणशील प्राणियों की सृष्टि करो। भगवान् शङ्कर ने वैसी सृष्टि करने का निषेध कर दिया और वे सृष्टि से विरत हो गये।

भगवद्गीता के उक्त पद्यांश का यह भी आशय लगाया जा सकता है कि उन सब भयानकरूप प्राणियों में उनका सृष्टि करने वाला जो मुख्य शङ्कररूप है वह मैं ही हूँ अर्थात् वह अव्यय पुरुष ही है।

●

बत्तीसवाँ-पुष्प

वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ।।२३।।
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ।।२४।।
महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ।।२५।।
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।।२६।।
उच्चैश्श्रवसमश्वानां विद्धिमाममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ।।२७।।

आगे कहा जाता है कि यक्ष और राक्षसों में वित्तेश अर्थात् धन का स्वामी कुबेर मैं हूँ। यहाँ कई व्याख्याकार लिखते हैं कि यक्ष और राक्षस जाति में बहुत थोड़ा भेद है, दोनों ही क्रूर जातियाँ हैं। राक्षस शब्द का अर्थ कोशकारों ने जिससे रक्षा की जाय वह राक्षस है–ऐसा किया है।

इन दोनों जातियों का ही अधिपति कुबेर को माना जाता है, इस कारण दोनों के प्रधानभूत कुबेर को प्रधानता के कारण ही भगवान् ने अपनी विभूति कहा।

वसु नाम के जो आठ देवता प्रसिद्ध हैं, उनमें मैं पावक हूँ और शिखर वाले पर्वतों में मेरु अर्थात् सुमेरु मैं हूँ। आगे हिमालय पर्वत की भी विभूतियों में गणना आती है, इस पुनरुक्ति के निवारण के लिए कई व्याख्याकारों ने "शिखरी" शब्द का अर्थ विशेष प्रकार के शिखर वाले या रत्नयुक्त शिखर वाले किया है। तात्पर्य यही है कि यदि सब स्थावर पदार्थों में से किसी में मेरा ध्यान करना हो तो हिमालय में किया करो और विशेष प्रकार के रत्नयुक्त शिखर वालों में ध्यान करना हो तो सुमेरु पर्वत में ध्यान किया करो। ध्यान करने के लिए ही इन विभूतियों की गणना है–यह आरम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। (२३)

हे पार्थ ! पुरोहित अर्थात् राजाओं को याजन आदि कराने वालों में मुख्य इन्द्र

के पुरोहित बृहस्पति को मेरा रूप समझो। सेनाओं के नेता जो भिन्न-भिन्न लोक में हैं, उनमें स्कन्द अर्थात् देवताओं का सेनापति कार्तिकेय रूप मैं हूँ और सरस् अर्थात् जलाशयों में समुद्ररूप मैं हूँ। (२४)

मन्त्रों में द्रष्टा ऋषि कहे जाते हैं। उनमें भी जो अधिक मन्त्रों के द्रष्टा हैं वे महर्षि पद से कहे जाते हैं। उन महर्षियों में भृगुरूप मैं हूँ। भृगु महर्षि के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में एक कथा मिलती है कि ऋषि लोग एक समय सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे। उनके चित्त में विचार हुआ कि ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु इन तीनों देवताओं में कौन बड़ा है। तब उन्होंने ब्रह्मा के पुत्र भृगु ऋषि को परिक्षा के लिए तीनों देवताओं के समीप भेजा। वे पहिले ब्रह्मलोक में गये, वहाँ पर परीक्षार्थ ब्रह्मा को इन्होंने प्रणाम या स्तुति आदि कुछ नहीं किया। ब्रह्मा को अपने पुत्र का यह अविनय देख चित्त में क्रोध हुआ और वह क्रोध उनके मुख की रक्तता से प्रकट भी हो गया, यह देखकर भृगु आगे महेश्वर के समीप कैलाश पर गये। इन्हें आया देखकर शंकर भगवान् इनसे मिलने के लिए खड़े हुए, किन्तु ये उनसे नहीं मिले, तब शंकर भगवान् को भी क्रोध आ गया और "तुम बड़े असभ्य हो" ऐसा कहकर उन्होंने इन्हें मारने के लिए त्रिशूल उठा लिया, तब भगवती पार्वती ने प्रार्थना कर उन्हें किसी प्रकार शान्त किया। इसके अनन्तर भृगु वैकुण्ठ में विष्णु भगवान् के समीप गये। वहाँ विष्णु भगवान् अपनी पत्नी लक्ष्मी माता की गोद में सो रहे थे। भृगु ने जाते ही उनके वक्षस्थल पर लात मारी। तब भगवान् विष्णु उठ खड़े हुए और प्रणाम कर भृगु ऋषि से कहने लगे कि ब्रह्मन् ! मुझे आपका आगमन विदित नहीं था, इसलिए यह मेरा अपराध क्षमा कीजिये, आपके चरण बड़े कोमल हैं, मेरे वक्षस्थल से उनमें चोट लगी होगी, आदि। तब भृगु यज्ञ में अन्य ऋषियों के पास लौट आये और उन्हें सब वृत्तान्त सुनाया। सब सुनकर ऋषियों ने सत्वगुण प्रधान होने के कारण विष्णु भगवान् को ही सर्वश्रेष्ठ माना। श्रीभागवत वैष्णवपुराण है इस कारण विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन वहाँ उचित ही है। उन्हीं भृगु को यहाँ भगवान् कृष्ण ने अपना रूप बतलाया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी दूसरे की लात भगवान् को नहीं लगी थी, अपितु अपने ही विभूतिरूप एक महर्षि की लात थी।

भृगु महर्षि ने भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में ही लात क्यों मारी ? इस पर भी अनेक विद्वान् कल्पना किया करते हैं कि भगवान् के उत्तमाङ्ग में लात मारना तो अत्यन्त अनुचित होता और उनके चरणों में से गङ्गा प्रकट हुई हैं, वहाँ लात मारने से श्रीगङ्गा का तिरस्कार होता। भगवान् के वक्षस्थल में तो लक्ष्मी का निवास है और ब्राह्मण तत्रापि ऋषि, लक्ष्मी का सदा ही तिरस्कार करते हैं—यह सब सोचकर भृगु ने

भगवान् विष्णु के वक्षस्थल में ही लात मारी। श्रुति में भृगु का दूसरे प्रकार का भी वर्णन मिलता है "अर्चिषि भृगुः संबभूव, अङ्गारेष्वङ्गिरा" इत्यादि। किन्तु वह प्राणरूप भृग्वङ्गिरा का वर्णन है। उससे यहाँ कोई सम्बन्ध नहीं। आगे कहा गया है कि गिराम् अर्थात् अर्थ प्रतिपादक शब्दों में एक अक्षर रूप मैं हूँ। यहाँ गीता के सभी व्याख्याकारों ने एक अक्षर पद से प्रणव या ओङ्कार का ही ग्रहण किया है किन्तु पूर्व सप्तम अध्याय में ही "**प्रणवः सर्ववेदेषु**" कहा जा चुका है। उससे यहाँ पुनरुक्ति ही होगी? इस कारण हमारे मतानुसार यहाँ यह अर्थ करना चाहिये कि वाणी जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नाम से चार प्रकार की प्रसिद्ध हैं, उनमें अर्थ प्रतिपादक और सब प्राणियों में व्यापक "स्फोटरूप" मैं हूँ। अर्थ प्रतिपादकस्फोट सब प्राणियों में व्यापक रूप से रहा करता है–यह वैयाकरणों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। इससे "गिराम्" यह बहुवचन भी सुसंगत हो जायेगा।

सब प्रकार के यज्ञों में जपरूप यज्ञ मेरा रूप है। स्मृतियों में भी कहा गया है कि जपयज्ञ सबसे उत्तम है, क्योंकि इसमें पशु, बीज आदि किसी की हत्या नहीं करनी पड़ती, इस श्रेष्ठता के कारण ही यहाँ भी भगवान् ने उसे अपना रूप बतलाया और स्थितिशील अर्थात् एक स्थान से न हटने वाले पदार्थों में हिमालयरूप मैं हूँ। इस पर जो वक्तव्य था वह हम "मेरुः शिखरिणामहम्" पर कह चुके हैं। (२५)

सब प्रकार के वृक्षों में अश्वत्थ अर्थात् पीपल रूप मैं हूँ। इस अश्वत्थ का जगत् रूप से पन्द्रहवें अध्याय में वर्णन किया जायेगा। उपनिषदों में ब्रह्म का भी अश्वत्थ रूप से निरूपण मिलता है। यह वृक्ष बहुत घेर घुमेर होता है और सोम इसमें प्रधान रूप से रहा करता है। इसी कारण इसके नीचे सोने बैठने वालों को यक्ष्मा आदि रोग नहीं होते। इसी विशेषता से वट आदि वृक्षों से भी इसे प्रधान माना जाता है। इस प्रधानता के कारण ही भगवान् ने इसे अपना रूप बतलाया।

देवर्षियों में नारदरूप मैं हूँ। पहिले महर्षियों में भृगुरूप अपने को बतला आये हैं। महर्षि और देवर्षियों में यह भेद समझना चाहिये कि जिनका देवताओं में भी आवागमन रहे वे देवर्षि कहे जाते हैं और केवल मनुष्यलोक के निवासी महर्षि नाम से प्रसिद्ध होते हैं। देवर्षि नारद का सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का अध्ययन करना उपनिषदों में भी प्रसिद्ध है और इन्द्र आदि देवताओं के समीप इनका जाना आना प्रायः पुराण आदि में बहुधा वर्णित है। इसलिए ये देवर्षि कहे जाते हैं और भक्तिमार्ग के तो ये प्रधान आचार्य ही हैं। इन्हीं कारणों से देवर्षियों में प्रधान मानकर इनको भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

गन्धर्वों में प्रधानरूप चित्ररथ नाम का गन्धर्व मैं ही हूँ। ज्ञान या तप के बल से जिन्होंने बहुत महत्त्व प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध कहे जाते हैं। उनमें कपिलमुनि रूप मैं हूँ। कपिलमुनि विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक हैं–यह श्रीमद्‌भागवत में वर्णित हुआ है और दर्शन विद्या इन्होंने ही आरम्भ की है, इस कारण इन्हें आदिविद्वान् भी कहा जाता है। इसलिए भगवान् कृष्ण का इन्हें अपना रूप बतलाना सर्वथा सुसंगत है। (२६)

घोड़ों में समुद्र मन्थन के समय अमृत के साथ निकला हुआ उच्चैःश्रवा नाम का अश्व जो सब अश्वों में प्रधान है और इन्द्र का वाहन है उसे मेरा ही रूप समझो। इसी प्रकार समुद्र मन्थन के समय ही प्रकट हुआ 'ऐरावत' नाम का गजेन्द्र भी मेरा ही रूप है और मनुष्यों में ही कहीं ध्यान करना हो तो मनुष्यों के अधिपति राजा को आश्रय बनाकर मेरा ध्यान किया करो। स्मरण रहे कि आरम्भ में अर्जुन का यही प्रश्न था कि मैं किन-किन भावों में आपका ध्यान किया करूँ। इस कारण भगवान् सब वर्गों में जो जो प्रधान हैं, उन्हें ही अपना रूप बतलाकर उनके आधार से ध्यान करने का उपदेश अर्जुन को दे रहे हैं। इसी कारण घोड़े, हाथी, राजा आदि को अपना रूप बतलाते हैं। इसका आशय यही है कि इन वर्गों में ही यदि ध्यान करना चाहो तो इन-इन प्रधान व्यक्तियों में मेरा ध्यान किया करो। (२७)

●

तैंतीसवाँ-पुष्प

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ।।२८।।
अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।।
पितृणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ।।२९।।
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ।।३०।।
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जान्हवी ।।३१।।

जिनसे दूसरे पर युद्ध में प्रहार किया जाय, उन्हें आयुध कहते हैं। उन आयुधों में सर्वप्रधान वज्र जो इन्द्र के हाथ में रहता है, वह मैं हूँ। दूध देने वाली गायों मे कामधेनु नाम की जो गौ है, जो कि न केवल दूध देती है अपितु उससे जो चाहा जाय वही दे देती है–ऐसी सर्वश्रेष्ठ गौ मेरा ही रूप है और सन्तान उत्पन्न करने का कारण जो कन्दर्प अर्थात् कामदेव है, जिसके कारण पुरुषों की स्त्री संसर्ग में प्रवृत्ति होती है, वह मेरा ही रूप है। इन्हीं भगवान् की बाल-लीलाओं में जो रासलीला आती है, उसकी व्याख्या करते हुए श्रीधरस्वामी ने लिखा है कि "कामविजयख्यापनार्थेयं लीला" अर्थात् भगवान् कृष्ण ने कामदेव से खुले मैदान की लड़ाई लड़कर उसे परास्त किया–यही इस लीला का आशय है। किन्तु यहाँ भगवान् कृष्ण ने उस कामदेव को भी अपना ही रूप बतलाया है। तब वहाँ श्रीधरस्वामी का यही आशय समझना होगा कि अपने ही एक भिन्न कार्य करने वाले सर्वविजयीरूप को भगवान् ने परास्त किया। "प्रजनः" पद से यह भी सूचित किया जाता है कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ऋतुकाल में स्त्रीसंसर्ग में प्रवृत्ति कराने वाला जो काम है, वही शास्त्रानुकूल होने के कारण मेरा रूप है, व्यर्थ काम अशास्त्रीय होने के कारण मेरा रूप नहीं और सर्पों में उनका राजारूप वासुकि नाम का सर्प मेरा रूप है। (२८)

नागों में नागों का ईश्वर अनन्त अर्थात् शेषनाग मेरा रूप है, जिस शेष को पर्यङ्क बना कर भगवान् विष्णु उस पर शयन किया करते हैं। यहाँ कुछ व्याख्याकारों ने सर्प और नागों का यह भेद बतलाया है कि एक सिर वाले सर्प कहलाते हैं और अनेक

सिर वाले नाग कहे जाते हैं। किसी व्याख्याकार ने यह भी लिखा है विषवाले सर्प कहे जाते हैं और जिनमें विष न हो वे नाग हैं। किन्तु संस्कृत के कोशों से इन व्याख्याकारों की पुष्टि नहीं होती। श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार इन शब्दों का यह अर्थ करते हैं कि जो सर्पण करते हैं अर्थात् गतिशील होते हैं वे सर्प हैं और जो न चलने वाले हों वे नग या स्वार्थिक अण् प्रत्यय से नाग कहे जा सकते हैं। अमरकोशकार ने कद्रू नाम की कश्यप की स्त्री से उत्पन्न नाग होते हैं, उन्हीं के ईश्वर, अनन्त नाम से कहे जाते हैं और सर्पों का राजा वासुकि है ऐसा लिखकर इसके अनन्तर ही अजगर के नाम लिखे हैं। अजगर से चला नहीं जाता यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। इससे अन्तिम व्याख्या ही कुछ कोशानुमत और व्याकरणानुकूल होने से युक्तियुक्त प्रतीत होती है। जल के अधिष्ठाताओं में वरुणरूप मैं हूँ। यादस् शब्द का अर्थ कोशकार ने जलजन्तु लिखा है, किन्तु वरुण को जन्तुरूप नहीं कहा जा सकता, इसलिए श्रीशङ्कराचार्य ने जलदेवता इसका अर्थ किया है और श्रीरामानुजाचार्य ने जलनिवासी अर्थ माना है। वरुणजल का देवता होने के कारण जल में ही निवास करता है-ऐसा श्रीभागवत से एकादशी व्रत के अनन्तर नन्द के जल में डूब जाने की कथा से भी सिद्ध होता है, क्योंकि भगवान् कृष्ण ने जल में प्रवेश करके ही वरुणलोक प्राप्त किया था और वहीं से नन्दजी को लौटा लाये थे। पितरों में अर्यमारूप मैं हूँ और दण्ड देकर प्रजाओं को मर्यादा में जो रखते हैं, उनमें यमरूप मैं हूँ। (२९)

दैत्यों में प्रह्लादरूप मैं हूँ। दैत्य जाति राक्षस यक्ष आदि से भिन्न प्रकार की है। प्रह्लाद की रक्षा के लिए ही आपने नृसिंहरूप धारण किया था। प्रह्लाद भक्तों में शिरोमणि गिना जाता है। अनन्त भक्त होने के कारण वह भक्तरूप ही हो गया है। उसे ही भगवान् ने यहाँ अपना रूप बतलाया है। जगत् की सब वस्तुओं का परिणाम करने कराने वालों में कालरूप मैं हूँ। विष्णुपुराण में विष्णु भगवान् के चार रूप बतलाये हैं, उनमें काल भी एक है। मृग अर्थात् वन में विचरने वाले प्राणियों में मृगेन्द्र अर्थात् सिंहरूप मैं हूँ, वन में विचरने वालों में सिंह प्रधान हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि वनेचरों में ही यदि मेरा ध्यान करना हो तो सिंह का आधार मानकर उसमें ही मेरा ध्यान करना चाहिये। पक्षियों में वैनतेय अर्थात् गरुड़ मैं हूँ। (३०)

जो वेग से चलकर वस्तुओं को पवित्र करते हैं अर्थात् कूड़ा-करकट निकाल कर वस्तुओं को स्वच्छ कर दिया करते हैं, उनमें पवन अर्थात् वायुरूप मैं हूँ। शस्त्र धारण करने वालों में रामरूप मैं हूँ। यहाँ रामशब्द का अर्थ कई व्याख्याकार दाशरथीराम करते हैं और कई परशुराम। परशुराम अर्थ करने वाले व्याख्याकार दाशरथी राम यहाँ न लिये जाने का कारण यह बतलाते हैं कि दाशरथी राम तो आपका साक्षात् रूप ही

हैं, वे विभूतियों में क्यों गिने जाते। किन्तु यह युक्ति उनकी ठीक नहीं प्रतीत होती क्योंकि आगे के पद्यों में वासुदेव को अर्थात् स्वयं अपने आपको भी गिनाया है। यह गणना तो ध्यान करने के लिये है, इसलिये यहाँ शङ्कर या वासुदेव की तरह दाशरथी राम को भी गिना जा सकता है।

हमारे मतानुसार भी यहाँ परशुराम को ही लिया जाना उचित है, किन्तु कारण यह है कि इन विभूतियों में जो उस काल वर्तमान थे उनकी ही गणना है। इसीलिए भूतकाल के वराह, नृसिंह, वामन अवतार या भविष्यकाल के बुद्ध, कल्कि यहाँ विभूतियों में नहीं गिने गये। इससे यही मानना होगा कि भूत और भविष्यत् को गिनाने से तो अनन्तता हो जाती और किन-किन भावों में आपका चिन्तन करूँ यह अर्जुन का प्रश्न भी वर्तमान काल के चिन्तन के आधार कहने का ही संकेत करता है। परशुराम भगवान् चिरजीवी होने के कारण महाभारतकाल में भी उपस्थित थे, इसी कारण भीष्म, द्रोण और कर्ण ने इनसे ही विद्या सीखी थी। उन वर्तमान परशुराम का ही यहाँ विभूतियों में निर्देश किया हुआ मानना चाहिये।

जल-जन्तुओं में सबसे बड़ा मकर मेरा रूप है और नदियों में जान्हवी अर्थात् श्रीगङ्गारूप मैं ही हूँ। श्रीगङ्गा का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से यहाँ श्रीगङ्गा के महत्व का संक्षिप्त वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

गङ्गाजल का महत्त्व तो न केवल भारतवासी किन्तु अन्य देशों के वैज्ञानिक भी मानते हैं। एक बार अमेरिका में बहुत प्रकार के जल भिन्न-भिन्न स्थानों से मँगाकर उनकी रासायनिक परीक्षा की गई थी और उस परीक्षा के द्वारा गङ्गाजल को ही सर्वश्रेष्ठ माना गया था। कई बार पाश्चात्य डाक्टरों ने परीक्षा कर यह भी सिद्ध किया है कि विसूचिका आदि भयङ्कर रोगों के कीटाणु इस जल में डालते ही इसके प्रभाव से मर जाते हैं। यह बात तो भारतवासी प्रत्येक गृहस्थ ही जानता है कि कई वर्षों तक किसी पात्र में रक्खा रहने पर भी इसमें कीड़े नहीं होते हैं और बहुत काल तक यह जैसा का तैसा बना रहता है। सोने को खूब तपाकर गङ्गाजल में डुबाने पर भी यह क्षीण नहीं होता, जहाँ कि अन्य प्रकार के जल क्षीण हो जाया करते हैं। ये सब इसके महत्त्व प्रत्यक्ष सिद्ध हैं, किन्तु इस प्रकार के महत्त्व का कारण क्या है, इसका विचार करने पर साधारण दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक या बहुत से भारतीय भी यही समझ लेते हैं कि हिमालय प्रदेश से यह आता है और वहाँ की विचित्र प्रकार की औषधियों के सम्पर्क से ऐसे महत्त्व इसमें प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु भारतीय ऋषियों ने इस प्रकार की अटकल से ही सन्तोष नहीं कर लिया था। उन्होंने अपने अन्वेषण से निश्चय किया था कि यह जल उत्पत्ति से ही अन्य जलों से विलक्षण प्रकार का है। जैसा कि वेदों

और पुराणों में स्पष्ट लिखा है। वेद के मन्त्र और ब्राह्मणों में जल के कई प्रकार के भेद बतलाये गये हैं। कर्मकाण्ड में बोले जाने वाला एक सुप्रसिद्ध मन्त्र है कि–

या दिव्या आपः पयसा सम्बभूवु-
र्या आन्तरिक्षा उत पार्थिवीर्याः ।
हिरण्यवर्णा यज्ञियास्ता न आपः,
शिवाः शंस्योनाः सुहवा भवन्तु ।

इस मन्त्र में जल के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। एक दिव्य, दूसरा अन्तरिक्ष का और तीसरा पृथिवी का। अन्यान्य मन्त्रों में भी इस प्रकार से जल के भेदों का कहीं संक्षेप से और कहीं विस्तार से वर्णन है। जैसा कि –

या आपो दिव्या पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उतवा पृथिव्याम् ।
तासां त्वा सर्वासामपामभिषिञ्चामि वर्चसा

(अथर्वश्रुति, ४।२।८।५)

इस अथर्ववेद के राज्याभिषेक मन्त्र में भी जल के उक्त तीनों ही प्रकार लिखे हैं।

एवं –

या आपो दिव्या उतवा स्त्रवन्ति खनित्रिमा उतवा स्वयंजाः ।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह भावयन्तु ।

(ऋक्-७।४९।२)

इस ऋग्वेद के मन्त्र में दिव्यजल को पृथक् गिनाकर आगे पृथिवी के जलों के ही तीन भाग कर दिये गये–एक नदियों में बहने वाला, एक कूप आदि खोद कर निकाले जाने वाला और एक जो पर्वत आदि प्रदेशों में स्वयं ही निकल पड़ता है।

ऐतरेय उपनिषद् में शब्दान्तर से जल के चार विभाग बतलाये हैं और उनका स्थान निर्देश भी किया है –

स इमाँल्लोकानसृजत् अम्भोमरीचीर्मरमापः,
अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा, अन्तरिक्ष-
मरीचयः, पृथिवीं मरः या अधस्तात् ता आपः ।

(ऐत०, १।१।२)

यहाँ लोकशब्द से जल ही लिये गये हैं, क्योंकि कई जगह वेदों और पुराणों में लोकसृष्टि के प्रसङ्ग में जल की ही प्रथम सृष्टि बतलाई गई है। उस जल के यहाँ लोकभेद से चार भाग बतलाये गये हैं। जिनके नाम हैं अम्भः, मरीचिः, मर और आपः। इनका स्थान निर्देश इस प्रकार बतलाया कि द्युलोक से अर्थात् सूर्यमण्डल से ऊपर का जो अप् भाग है, यह "अम्भ" कहा जाता है। द्युलोक अर्थात् सूर्यमण्डल ही उसकी प्रतिष्ठा है, अर्थात् ऊपर के लोकों का जल सूर्यमण्उल के आसपास ही आकर ठहरता है और मरीचि नाम सूर्यकिरणों का है। उनमें व्याप्त जो जल अन्तरिक्ष में फैला रहता है, वह जल भी मरीचियों से सम्बन्ध रखने के कारण "मरीचि" नाम से ही कहा जाता है। तीसरा जल "मरः" बतलाया जो कि शतपथ ब्राह्मण में कहे गये आठ रूपों में प्राप्त होकर पृथिवी का निर्माण करता है और पृथिवी से नीचे के पाताल आदि लोकों में जो जल मिलता है, उसका जलसामान्य के वाचक अप्शब्द से ही व्यवहार किया गया। इस उपनिषद् में पूर्व वेदमन्त्रों में कहे गये दिव्यजल का ही अम्भशब्द से व्यवहार किया गया, अन्तरिक्ष के जल का "मरीचि" शब्द से और पार्थिव जल को "मर" और "आप" दो भागों में बाँटा। यहाँ "अम्भ" शब्द से और पूर्वोक्त मन्त्रों में दिव्य शब्द से जो जल कहा गया है वही श्रीगङ्गाजल है। इसी के लिए मन्त्रों में यह भी कहा गया है कि चन्द्रमा जल के भीतर होकर ही चला करता है और यह भी कहा गया है कि यह दिव्यजल सूर्य के समीप या सूर्य के साथ रहा करता है। सूर्य की किरणें धक्का मार कर इसे हटाया करती हैं। इस प्रकार सूर्य किरणों से हटाया जाकर यह दिव्यजल सुमेरु प्रान्त में जहाँ कि सूर्यकिरणों का वेग बहुत अल्प हो जाता है, वहाँ इकट्ठा होकर घनीभूत हो जाता है और वहीं सूक्ष्मरूप से स्थूलजल के रूप में आकर नीचे गिर पड़ता है।

यह भी स्मरण रहे कि एक सूर्य का प्रकाश जहाँ तक फैलता है, उस सम्पूर्ण गोल को एक ब्रह्माण्ड माना जाता है। अनन्त आकाश में ऐसे हजारों ब्रह्माण्ड हैं। इनमें ऐसी भी घटना होती है कि दो ब्रह्माण्डों की परिधि आपस में मिल जाया करती हैं। ऐसी स्थिति में सूर्य की किरणों द्वारा अन्तिम परिधि के पास आई हुई एक ब्रह्माण्ड की जलधारा दूसरे ब्रह्माण्ड में भी प्रविष्ट हो जाती है। वामन भगवान् ने जब अपने पैरों से तीनों लोकों को नापा था, उस समय उनके पाद के अङ्गुष्ठ से हमारे ब्रह्माण्ड की परिधि का कुछ अंश टूट गया था। इसीलिए हमारे इस ब्रह्माण्ड को "वामन नखाग्रस्फुटित ब्रह्माण्ड" कहते हैं। श्रीभागवत और विष्णुपुराण में श्रीगङ्गा का यही वर्णन मिलता है कि उस टूटी हुई परिधि के स्थान से दूसरे ब्रह्माण्ड की जो जलधारा इस ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट हुई वही क्रमशः श्रीगङ्गा के रूप में परिणत हो गई। महाभारत में और अन्य कई पुराणों में गङ्गा का इस प्रकार का विवरण स्पष्ट मिलता है –

तस्य शैलस्य शिखरात् क्षीरधारा नरेश्वर ।
विश्वरूपाऽपरिमिता भीमनिर्घातनिःस्वना ।।
पुण्यापुण्यतमैर्जुष्टा गङ्गा भागीरथी शुभा ।
प्लवन्तीव प्रवेगेन ह्रदे चन्द्रमसः शुभे ।।
तया ह्युत्पादितः पुण्यः स ह्रदः सागरोपमः ।
तां धारयामास तदा दुर्धरां पर्वतैरपि ।
शतं वर्षसहस्त्राणां शिरसैव महेश्वरः ।

(महारत भीष्मपर्व जन्बूखण्ड अ० ६)

यहाँ गङ्गा का सुमेरु पर गिरना और उसी का वहाँ एक चन्द्र सरोवर बनाना स्पष्ट कहा है तथा महेश्वर ने उसे बहुत वर्षों तक धारण किया यह भी कहा गया है। महेश्वर का शिरोभाग आकाश कहा जाता है जैसा कि कोश में इनका नाम "व्योमकेश" प्रसिद्ध है और अष्टमूर्ति शिव की मूर्तियों में आकाश ही सर्वोच्च है। इससे यही तात्पर्य निकला कि यह गङ्गा की धारा आकाश में बहुत काल तक घूमती रही। वैज्ञानिक लोग जानते हैं कि तत्त्वों में परिवर्तन बहुत काल में ही होता है, इससे सूक्ष्मजल को घन बनने में बहुत वर्ष लगे—यह युक्त ही है।

वामपादाम्बुजाङ्गुष्ठनखस्त्रोतविनिर्गताम् ।
विष्णोर्बिभर्ति यां भक्त्या शिरसाहर्निशं ध्रुवः ।१०९।
ततः सप्तर्षयो यस्याः प्राणायामपरायणाः ।
तिष्ठन्ति वीचिमालाभिरुह्यमानजटाजले ।११०।

(विष्णुपुराण अं० २, अध्याय ८।)

यहाँ विष्णुपुराण में जो विष्णु के वामपाद के अङ्गुष्ठ से गङ्गा का निकलना लिखा है, वह वामनावतार विष्णु के ही पादनख से विदीर्ण ब्रह्माण्ड परिधि से दूसरे ब्रह्माण्ड की जलधारा का प्रवेश समझना चाहिये। जैसा कि श्रीभागवत के वर्णन से स्पष्ट हो जायेगा। आगे ध्रुव और सप्तर्षियों का शिर पर धारण और आचमन आदि जो बतलाया गया है वे ध्रुव और आकाश में दीखने वाला सप्तर्षिमण्डल ही हैं। इससे भी बहुत काल तक आकाश में सूक्ष्मरूप से गङ्गा का विचरना स्पष्ट हो जाता है।

"तत्र भगवतः साक्षाद्यज्ञलिङ्गस्य विष्णोर्विक्रमतो वामपादाङ्गुष्ठनखनिर्भिन्नोर्ध्वाण्डकटाह विवरेणान्तः

प्रविष्टा या बाह्यजलधारा तच्चरणपङ्कजावनेजनारु-
णकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापदोपस्प-
र्शनामला साक्षाद्भगवत्पदीत्यनुलक्षितवचोऽभि-
धीयमानातिमहता कालेन युगसहस्त्रोप-
लक्षणेन दिवो मूर्धन्यवततार। यत्तद्
विष्णुपदमाहुः। यत्र ..... वीरव्रत औत्तन-
पादिः शिरसा विभर्ति", इत्यादि ।

(श्रीभागवत, स्क० ५।अ० १७।)

यहाँ श्रीभागवत में विक्रमण करते हुए विष्णु के वामपदाङ्गुष्ठ–इन पदों से विष्णु का वामन अवतार स्पष्ट हो जाता है और श्रीगङ्गा को जो विष्णुपद से निकली हुई लोक में बतलाया जाता है, उसका अभिप्राय भी स्पष्ट है कि उस ध्रुव सन्निहित आकाश प्रदेश को जहाँ कि सप्तर्षि मण्डल है–"विष्णुपद" ही कहा जाता है। अमरकोश में तो "विष्णुपद" नाम आकाश सामान्य का ही माना गया है। वहाँ बहुत काल तक भ्रमण कर प्रकट होने से ही श्रीगङ्गा "विष्णुपदी" या विष्णुपाद से निकली हुई कही जाती है। ध्रुव का शिर से धारण करना यहाँ भी स्पष्ट वर्णित है। आगे उसका अलकनन्दा आदि चार रूपों में बहना और भारतवर्ष में होकर समुद्र में मिलना भी स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार मन्त्रों, ब्राह्मणों और पुराणों में श्रीगङ्गा का महत्व अति स्पष्ट है।

●

चौंतीसवाँ-पुष्प

(२) श्रीगङ्गा का महत्त्व

श्रीदेवीभागवत में श्रीगङ्गा के उद्भव का और भी रहस्य बतलाया गया है कि श्रीगङ्गा किस प्रकार प्रकट हुई। वहाँ कथा है कि कार्तिकी पूर्णिमा के दिन श्रीराधा के महोत्सव में सब ब्रह्मा आदि देवता गोलोक में उपस्थित थे। गोप गोपी आदि गोलोक के निवासियों की भी बड़ी सभा लगी हुई थी, राधा और कृष्ण मध्य में रासमण्डल में विराजमान थे, उस शुभ अवसर में सरस्वती का सुन्दर गायन हो रहा था। उस गायन से प्रसन्न होकर ब्रह्मा आदि सब देवताओं ने आभूषणों से सरस्वती का सम्मान किया। भगवान् कृष्ण ने भी दिव्य आभूषण देकर सरस्वती का बहुत सम्मान किया। अनन्तर ब्रह्मा की प्रेरणा से उस सभा में उपस्थित श्रीशङ्कर भगवान् ने भी अपना गान आरम्भ किया। शङ्कर का गान आरम्भ होते ही सभा के सब लोग आत्मविस्मृत होकर मूर्च्छित-से हो गये। कुछ काल के अनन्तर जब सबको चेतना प्राप्त हुई, तो सबने सामने रासमण्डल की ओर देखा कि वहाँ राधा-कृष्ण नहीं है और उनके स्थान में जल भरा हुआ है। यह देखकर सब लोग चकित होकर अति विकल हो गये कि सबके आराध्य देव राधा कृष्ण कहाँ गये ? सबको अत्यन्त विकल देख आकाशवाणी के द्वारा भगवान् कृष्ण ने यह बोधित किया कि शङ्कर के गान से हम दोनों द्रुत हो गये हैं और हमारा अङ्ग ही जो जलरूप में परिणत हो गया, वह रासमण्डल में भरा हुआ है। अब हमारे स्थान में इसी को मानकर तुम सब इसी की उपासना करो। वस्तुतः हम निराकार हैं। तुम सबको दर्शन देने के लिए नराकार में प्रकट होते हैं और आज इस समय हम ''नीराकार'' हो गये हैं। तीनों को अर्थात् निराकार, नराकार और नीराकार को एक ही मानना चाहिये। तीनों रूपों में साधकों को हमारा ध्यान करना चाहिये। यह वाणी सुनकर सब देवता और गोप गोपियों ने उस जल को प्रणाम किया। ब्रह्मा ने अपने कमण्डलु में उसका अंश भर लिया, शङ्कर ने अपनी जटाओं में उसका अंश धारण कर लिया। इस प्रकार श्रीगङ्गा, राधाकृष्ण के अङ्ग से प्रकट हुई।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं और श्रीराधा उनकी आनन्ददायिनी (ह्लादिनी) शक्ति हैं। श्रीकृष्ण आनन्दरूप हैं किन्तु बिना शक्ति की सहायता के अपने आनन्द का अनुभव नहीं कर सकते, न अन्य साधक ही बिना शक्ति की सहायता के उनके आनन्द का अनुभव कर सकता है। उनकी अन्तरङ्गशक्ति श्रीराधा ही उनके आनन्द का उनको भी अनुभव कराती हैं और उनके भक्तों को भी उनके आनन्द का अनुभव कराती हैं। इसी

कारण उनका "राधा" नाम है। व्याकरण के अनुसार "राध" धातु का अर्थ सिद्धि ही है। आनन्द का अनुभव में आना ही उसकी सिद्धि है। दोनों मिलकर ही वेदान्त और आगम प्रक्रिया में ब्रह्म नाम से कहे जाते हैं। उनके अङ्ग से प्रकट होने के कारण ही श्री गङ्गा "ब्रह्मद्रवी" कही जाती है।

शतपथ ब्राह्मण के छठे काण्ड के प्रथम ब्राह्मण में इसी अंश को अपनी परिभाषा के शब्दों में संकेतित किया गया है। वहाँ पहिले ऋषियों की सत्ता और उनका सात रूप में विस्तार बतला कर आगे कहा है कि ब्रह्म ने अनेक रूप में होने का जब विचार किया तब उससे पहिले त्रयी विद्या अर्थात् तीनों वेद प्रादुर्भूत हुए। फिर उस त्रयी विद्या को तपाने से उसी वाक्रूप लोक से अप् का प्रादुर्भाव हुआ। ब्रह्म ने त्रयी विद्या के साथ उस अप् में प्रवेश किया। इससे आगे पृथिवी की उत्पत्ति का वर्णन है।

यहाँ ब्रह्मपद से शक्ति सहित ही ब्रह्म समझना चाहिये, क्योंकि सृष्टिकर्ता शक्ति सहित ब्रह्म ही होता है। शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म से सृष्टि नहीं हो सकती यह सभी पुराणों में स्पष्ट है। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि शक्ति सहित ब्रह्म से ही अप् की उत्पत्ति है और वे अप् दिव्य अप् रूप ही हैं। वे ही घनीभूत होकर गङ्गा के रूप में प्रकट होते हैं यह सब विषयपूर्व पुष्प में विस्तार से बतलाया जा चुका है। श्रुति में मध्य में जो त्रयी विद्या की उत्पत्ति बतलाई गई, वह त्रयी विद्या त्रैगुण्य का ही रूप समझना चाहिये। प्रकृति के द्वारा ही सब जगत् की सृष्टि हुआ करती है। वह अप् की सृष्टि में भी पूर्व आवश्यक ही है। त्रयी विद्या सहित ब्रह्म का जो अप् में प्रवेश श्रुति के द्वारा बतलाया गया, उसका तात्पर्य है कि तीनों वेद ही धर्मों के प्रतिपादन में मुख्य प्रमाण हैं। वे धर्म प्रतिपादक प्रमाण धर्म के ही बोधक समझने चाहिये। धर्मसहित ब्रह्म ने इस अप् में प्रवेश किया, इसी से गङ्गा "धर्मद्रवी" भी कही जाती है।

"धर्मद्रवी" कहने का कई विद्वान् एक दूसरा भी आशय लगाया करते हैं कि श्रीगङ्गा का तीनों देवताओं से सम्बन्ध माना जाता है। ब्रह्माजी के कमण्डलु में वे रहती हैं, शङ्करजी के जटाजूट में और विष्णुजी के चरणों में। ये तीनों देवता ही प्रकृति के तीनों गुणों के अधिष्ठाता माने जाते हैं। विष्णु सत्वगुण के, ब्रह्मा रजोगुण के और शङ्कर तमोगुण के। इन देवताओं का सम्बन्ध बतलाना, इनके अधिष्ठेय गुणों का बोधक मान लिया जाय, तब श्रीगङ्गा का तीनों गुणों से सम्बद्ध सिद्ध होगा। धर्म का भी प्रकृति के तीन गुणों से ही सम्बन्ध है। तत्रापि रजोगुण से धर्म का मुख्य सम्बन्ध है। सत्वगुण के चरण तक ही उसकी व्याप्ति रहती है आगे मोक्ष का अधिकार आ जाता है और तमोगुण के मस्तक तक ही धर्म का सम्बन्ध है। तमोगुण के नीचे के भाग में अधर्म की व्याप्ति हो जाती है। इस न्याय से धर्मद्रवी गङ्गा का भी तीनों देवताओं के पृथक्-

पृथक् अङ्गों से सम्बन्ध बतलाया गया। रजोगुणरूप ब्रह्मा के कमण्डलु से सम्बन्ध कहा जाता है। कमण्डलु हाथ में रहता है। हाथ शरीर का मध्य भाग है, वह सम्पूर्ण शरीर का बोधक है। इससे धर्मद्रवी गङ्गा का रजोगुण से पूर्णतया सम्बन्ध सिद्ध हुआ। विष्णु के चरण से ही सम्बन्ध माना गया। पूर्वोक्त प्रकार से धर्म का सम्बन्ध सत्वगुण के चरण तक ही है और शङ्कर के मस्तक से सम्बन्ध माना गया, वहीं तक धर्म की व्याप्ति रहती है। इस निरूपण से भी गङ्गा की धर्मरूपता मानी जा सकती है। वास्तव में तो ये तीनों देवता एक ब्रह्म के ही रूप हैं–यह हम पूर्व शङ्कर के निरूपण में श्रुति स्मृति प्रमाणों से सिद्ध कर चुके हैं, इसलिए शतपथ श्रुति में धर्म सहित ब्रह्म का ही अप् रूप गङ्गा जल में प्रवेश कहा गया।

इन दो पुष्पों में अप् या "अम्भः" रूप गङ्गा जल की जो जो स्थिति कही गई है, उन सबका संक्षिप्त विवरण वाल्मीकि कृत गङ्गा स्तोत्र के एक पद्य में ही मिल जाता है। वह पद्य यह है–

ब्रह्माण्डं खण्डयन्ती हरशिरसि जटावल्लिमुल्लासयन्ती,
स्वर्लोकादापतन्ती कनकगिरिगुहागण्डशैलात्स्खलन्ती ।
क्षोणीपृष्ठे लुठन्ती दुरितचयचमूं निर्भरं भर्त्सयन्ती,
पाथोधिं पूरयन्ती सुरनगरसरित् पावनी नः पुनातु ।।

इसका अर्थ है कि पहिले यह गङ्गा ब्रह्माण्ड की परिधि को तोड़ती है, आगे महादेव के मस्तक की जटाओं को सुशोभित करती है, अर्थात् आकाश मण्डल में भ्रमण करती है, फिर स्वर्लोक से नीचे गिरती है और सुवर्ण के पर्वत सुमेरु की गुफाओं और पाद पर्वतों में चक्कर खाती है, यहाँ से आगे चलकर पृथिवी के पृष्ठ अर्थात् भारतवर्ष में भ्रमण करती हुई पाप की सेनाओं का समूल विध्वंस करती है और अन्त में जाकर समुद्र को पूर्ण करती है। "पूरयन्ती" पद से यहाँ यह अभिप्राय प्रकट किया गया कि समुद्र गङ्गा के प्रपात से ही भरता है और उत्तरभारत की नदियां प्रायः गङ्गा में ही आकर मिल जाती हैं तथा गङ्गा ही सब नदियों को साथ लेकर समुद्र की पूर्ति करती है। समुद्र में भी मीठी धारा बहुत दूर तक अलग ही चलती रहती है–यह गङ्गासार संगम की यात्रा करने वाले सज्जन जानते ही हैं। ऐसी देवताओं की नगर की नदी हम सबको पवित्र करे। इस प्रकार श्रुति-स्मृति और पुराण आदि सबमें गङ्गा का बहुत बड़ा महत्त्व माना गया है। अब जो सज्जन केवल मन्त्र भाग को ही वेद मानते हैं, उनको गङ्गा का महत्व मन्त्र से भी समझाया जा सकता है। मन्त्र भाग में भी स्पष्ट है कि –

इदमापः प्रवहत यत्किञ्चिद्दुरित मयि,
यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वाशेप उतानृतम् ।

इसका अर्थ है कि मैंने जो कुछ पाप किये हैं ? जो किसी के साथ द्रोह किया है, जो किसी को दुर्वचन कहे हैं अथवा जो असत्य भाषण किया है, उन सब पापों को अप् बहा देवे। यहाँ सब प्रकार के पापों का क्षय करने की अप् से प्रार्थना स्पष्ट है और अप् नाम यहाँ भी गङ्गा जल का है–यह बात पूर्व पुष्प के मन्त्रों से स्पष्ट की जा चुकी है।

इसी गङ्गा को भगवान् ने अपना रूप बतलाया है, जो कि पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है कि उनके अङ्ग से सम्भूत होने के कारण ये उनका ही रूप हैं।

●

पैंतीसवां-पुष्प

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ।३२।
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ।३३।
मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ।३४।
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।३५।
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ।३६।

हे अर्जुन ! मैं सब सृष्टि का आदि, अन्त और मध्य हूँ, अर्थात् जब कुछ नहीं था तब भी आदिभूत मैं उपस्थित था और जब कुछ न रहेगा तब भी सबका शेषभूत मैं रहूँगा ही। किसी पदार्थ का नाश लोक में कुछ शेष मानकर ही समझा जाता है। जैसा घड़ा फूट गया तो "ठीकरी" बची और उसे भी तोड़ा गया तो चूर्ण बचा, इत्यादि। सबमें सत्ता अनुगत रहती है, इसी कारण सत्ता को नित्य और ब्रह्म रूप माना जाता है। इसलिए इन विशेषणों से भगवान् अपनी सत्ता ही प्रदर्शित करते हैं। मध्य में जब जगत् के सब पदार्थ बन जाते हैं, तो उनमें भी व्याप्त होकर मैं रहता हूँ। लोक में और न्यायदर्शन में जब एक नया पदार्थ बन जाता है तब पूर्व का पदार्थ नहीं रहता। जैसा कि मृत्तिका के पिण्ड से जब घट बना लिया गया तो मृत्तिका-पिण्ड अब नहीं रहा। उसी प्रकार यह भी प्राप्त होगा कि जब ब्रह्म से जगत् बन गया तब ब्रह्म नहीं रहा ? इस शङ्का के निवारण के लिए ही भगवान् ने "मध्यं चैव" पद दिया है, अर्थात् जगत् की स्थिति में भी अविकृत रूप से सब जगत् के पदार्थों में प्रविष्ट होकर रहता ही हूँ। सब पदार्थों में सत्ता मेरी ही व्याप्त हो रही है। लोक में और न्यायशास्त्र में जो उपादान कारण का कार्यदशा में लोप माना जाता है, वह उनकी भ्रान्ति है। वस्तुतः उपादान कारण की ही सत्ता कार्य में संक्रान्त हो जाती है, इसी तरह सत्तारूप मुझसे ही सब जगत् के पदार्थ सत्तावान् होते हैं। विभूतियों के कथन के आरम्भ में भी ऐसा ही कहा है, उसकी यहाँ पुनरुक्ति प्रतीत होती है। उसका निवारण अन्य व्याख्याकार

इस रूप में करते हैं कि वहाँ भूतों का अर्थात् प्राणियों का ही आदि, मध्य और अन्त अपने को बतलाया था और यहाँ जड़चेतन रूप सब जगत् का ही आदि, अन्त और मध्य अपने को बतला रहे हैं। केवल पुष्टिमार्ग के अनुयायी श्रीवल्लभाचार्य के नाम से जो व्याख्या मुद्रित है, उसमें यह अर्थ किया गया है कि पुष्टि, मर्यादा और प्रवाहरूप जगत् का आदि अर्थात् उत्तमाङ्ग–मस्तक रूप मैं हूँ और "अन्त" अर्थात् उन सबके मध्य में विराजमान मन रूप मैं हूँ एवं मध्य अर्थात् मर्यादा का हृदय रूप जो वेद है वह भी मैं ही हूँ।

इसी सम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी–यह व्याख्या करते हैं कि सर्ग तीन प्रकार के होते हैं–कार्यसर्ग, कारणसर्ग और लीलारूप सर्ग। वे ही तीन सर्ग यहाँ आदि, अन्त और मध्यशब्द से कहे गये हैं। इनमें आदि सर्ग बाह्य जगत् की सृष्टि को कहा जाता है, जिसका कि नाम कारण सर्ग है और अन्त सर्ग ब्रह्मा के किये हुए रजोगुण रूप सर्ग को कहा जाता है, वह यहाँ अन्तपद से लिया गया तथा मध्यपद से लीलारूप सर्ग लिया जाता है। इन तीनों सर्गों के मध्य सर्ग को ही भगवान् श्रेष्ठ मानते हैं, इसलिए उसका अन्त में निर्देश किया। तीनों सर्गों के रूप से मैं ही विराजमान हूँ। ये दोनों व्याख्याएँ वल्लभसम्प्रदाय के अनुकूल हैं। उनके साम्प्रदायिक ग्रन्थों में ही इन विषयों का अधिक विस्तार मिल सकता है। आगे भगवान् कहते हैं कि विद्याओं में अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मा की विद्या मैं हूँ। जीव इसी विद्या से मोक्ष को प्राप्त हो सकता है और मोक्ष ही प्राप्त करने की वस्तुओं में श्रेष्ठ है, इसीलिए उसे प्राप्त कराने वाली आत्मविद्या भी सर्वश्रेष्ठ है। जो विद्वान् परस्पर विचार किया करते हैं जिसे कि लोक में "शास्त्रार्थ" कहा जाता है, उनके वे विचार तीन प्रकार के हुआ करते हैं– वाद, जल्प और वितण्डा। इन सबका निरूपण न्यायदर्शन में प्राप्त होता है। उन तीनों में वादरूप मैं हूँ। किसी विषय की सिद्धि "वाद" से ही हुआ करती है। इस कारण वाद सबमें प्रधान है। (३२)

अक्षरों में अकार रूप मैं हूँ। अकार ही अन्य सब वर्णों और अक्षरों का उत्पादक है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है–

अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति।

(ऐतरेय आ० २।३।७।१३)

अर्थात् अकार ही सब वाणी का मूल है। स्पर्श और ऊष्मा के योग से अभिव्यञ्जित होकर वह नाना वर्णों के रूप में प्रकट हो जाता है। श्रुति में स्पर्श शब्द वर्णोच्चारण के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों और स्थानों का बोधक है और ऊष्मा वर्णों में ठोसपन

लाने वाली एक प्रकार की गर्मी है। इन दोनों का अकार के साथ योग होने पर वर्णमाला के सब वर्णों की उत्पत्ति हो जाती है। जैसा कि अकार का अपने रूप में कण्ठ स्थान है, उसे ही तालु स्थान से उच्चरित किया जाय तो इकार रूप हो जाता है। मूर्धास्थान से उच्चारण करने पर ऋकाररूप, दन्तस्थान में ऌकार रूप और ओष्ठ स्थान में आकर वही उकार रूप हो जाता है। ऋ और ऌ संयुक्त अक्षर है। इनमें अकार के मध्य में र और ल व्यञ्जनों का सम्बन्ध और किया जाता है। इन स्वरों को यदि द्विगुण किया जाय और वाणी का आयतन न बढ़ाया जाय तो ये स्वर दीर्घ हो जाते हैं एवं त्रिगुण करने और आयतन न बढ़ाने से ये प्लुतस्वरूप हो जाते हैं। अ और इ दोनों के योग से एकार और अ और उ इन दोनों के योग से ओकार बनता है। इन ए और ओ के पूर्व भाग में पुनः अकार का सम्मिश्रण कर देने पर ऐ और औ हो जाते हैं। इस प्रकार सब स्वरों की उत्पत्ति का विवरण किया गया। स्वरों का विवृत प्रयत्न है अर्थात् इनके उच्चारण के समय जिह्वा और स्थानों में परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वे अलग अलग ही रहते हैं। यदि जिह्वा का स्थान के साथ सम्बन्ध कर दिया जाय तो वही अकार ककार के रूप में परिणत हो जाता है और उसी के साथ बाह्य प्रयत्न (मुख से बाहर के प्रयत्न) संवार से उच्चारण किया जाय तो ग कार रूप हो जाता है, इस ग कार के उच्चारण में यदि नासिका का भी योग किया जाय तो वही ङ कार हो जाता है और क तथा ग दोनों वर्ण ही ऊष्मा का सम्बन्ध किया जाने पर ख और घ के रूप में परिणत हो जाते हैं। यह कण्ठ स्थान के व्यञ्जनों का विवरण हुआ। इनको यदि तालुस्थान में लाया जाय तो च छ ज झ ञ और मूर्धास्थान में आकर ट ठ ड ढ ण। दन्तस्थान में आकर त थ द ध न एवं ओष्ठ स्थान में आकर प फ ब भ म के रूप आ जाते हैं। यदि स्थान के साथ जिह्वा का पूरा सम्बन्ध न कर कुछ सम्बन्ध किया जाय तो स्थान भेद से य र ल व ये अन्तस्थ वर्ण बन जाते हैं और जिह्वा के स्पर्श के तारतम्य और स्थानभेद से ये ही श ष स के रूप में चले जाते हैं। अकार और ह कार तो स्थान दृष्टि से एक ही हैं, केवल प्रयत्नभेद से ही इनका भेद प्रतीत होता है। यों संक्षेप रूप में अकार की सर्ववर्णरूपता बतलायी गयी। विस्तार से इस विषय के विवरण की इच्छा जानने वाले शिक्षा नाम के वेदाङ्ग का अवलोकन करें। यों अकार के सर्वमूल होने के कारण भगवान् ने अकार को अपना रूप बतलाया।

समास जो व्याकरण में प्रसिद्ध हैं, उनके समुदाय में द्वन्द्व समास रूप मैं हूँ। द्वन्द्व समास में यही विशेषता हुआ करती है कि इसमें जिन जिन पदों का समास हो उन दोनों ही पदों के अर्थ प्रधान रहते हैं और अन्य समासों में नैयायिक के मतानुसार लक्षणा हुआ करती है, किन्तु द्वन्द्व समास में उनके मत में भी लक्षणा की कोई आवश्यकता

नहीं पड़ती। इन्हीं विशेषताओं के कारण द्वन्द्व समास सब समासों में प्रधान माना जाता है, अतः उसे ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

श्रीनीलकण्ठजी दूसरे प्रकार से भी व्याख्या करते हैं कि सम्यक् स्थिति समास शब्द का अर्थ है। वह विचार के लिए विद्वानों की स्थिति हो या गुरुशिष्यों की अध्ययन-अध्यापन की, अथवा किसी मन्त्र के अर्थ पर विचार करने के लिए स्थिति हो, सभी स्थिति समास शब्द से कही जाती है। उन सब स्थितियों में होने वाले जो विचार हैं वे सामासिक कहे जायेंगे। उन विचारों में जो रहस्यभूत गम्भीर अर्थों का विचार है वह मेरा रूप है। द्वन्द्व शब्द का रहस्य अर्थ व्याकरण में पाणिनि "द्वन्द्वं रहस्य (८।१।१५) इत्यादि सूत्र में लिखा है। रहस्य अर्थात् गुप्त गम्भीर अर्थों का विचार ही समितियों में प्रधान हुआ करता है, अतः उसे ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया।

मैं ही न क्षीण होने वाला नित्य कालरूप हूँ। पूर्व में भी तीसवें पद्य में अपनी कालरूपता भगवान् बतला चुके हैं। इस पुनरुक्ति का समाधान व्याख्याकार यही करते हैं कि मैं काल का भी काल हूँ। अथवा पूर्व क्षण दिन आदि भेदों से भिन्न काल को अपना रूप बतलाया और यहाँ अक्षयकाल को अपना रूप कह रहे हैं। आगे विश्वरूप प्रदर्शन में अपने को कालरूप कहेंगे। उसी का संकेत यहाँ पहिले ही कर दिया-यह माना जा सकता है। धाता अर्थात् सबको अपने अपने कर्म का फल देने वाला, इसीलिए सब तरफ मुखवाला भी मैं ही हूँ। कई व्याख्याकार धाता शब्द का अर्थ हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा भी करते हैं, वे चतुर्मुख हैं अर्थात् चारों दिशाएँ मुख हैं इसलिए "विश्वतो मुखः" कहा गया। हम पूर्व शङ्कर के प्रकरण में लिख आये हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर ये एकरूप ही हैं और यहाँ ब्रह्मा की गणना अन्यत्र नहीं हुई इसलिए यहाँ दूसरी व्याख्या ही उपयुक्त प्रतीत होती है। (३३)

सर्व प्राणियों का अन्त में हरण करने वाला मृत्युरूप भी मैं ही हूँ और उत्पन्न होने वाले प्राणियों में उद्भव अर्थात् उन्नतिरूप मैं ही हूँ। स्त्रियों में कीर्ति, श्री और वाक् एवं स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा ये मेरा ही रूप है। यहाँ व्याख्याकारों ने श्री, वाक् इत्यादि के भिन्न भिन्न प्रकार के अर्थ किये हैं। हमारे विचार से यहाँ ऐसा अर्थ करना उचित होगा कि "श्री" शब्द तो लक्ष्मी के लिए और वाक्शब्द सरस्वती के लिए प्रसिद्ध ही है। कीर्ति, शब्द आदि वर्ण की समानता से और "कीर्त्यते सर्वैःस्तूयते" इस व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार काली का वाचक हो सकता है। इसलिए महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ये तीनों पुराणों और तन्त्रों में प्रसिद्ध देवियाँ मेरा अर्थात् अव्यय का ही रूप हैं। जैसा कि देवीभागवत आदि में कहा गया है कि "स्त्रीपुं भेदो

न गण्यते" अर्थात् वास्तव में ब्रह्म का तो कोई लिङ्ग नहीं, उनकी स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में उपासना हो सकती है। इनके अतिरिक्त स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा जो बतलाई गयी, वे भी इन प्रधान देवताओं के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। जैसा कि स्मृति और मेधा सरस्वती के रूप, धृति महाकाली का रूप है, क्योंकि वही सबकी आदिभूता अतएव सबका धारण करने वाली है और क्षमा महालक्ष्मी का रूप है, क्योंकि लक्ष्मीवान् पुरुषों का ही क्षमाशील होना परमगुण माना जाता है। (३४)

साम शब्द का अर्थ प्रत्येक प्रदार्थ से निकलने वाले प्राणों का अन्तिम मण्डल है—यह हम पूर्व "वेदानां सामवेदोस्मि" की व्याख्या में लिख चुके हैं। जगत् में सब पदार्थों में भिन्न भिन्न साम होते हैं, उन सबमें सूर्यमण्डल का साम सबसे बड़ा है इसलिए वह बृहत्साम कहा जाता है। सब साममण्डलों में वह बृहत्साम मैं ही हूँ। छन्द जो छन्दःशास्त्र में प्रसिद्ध हैं उनमें गायत्री नाम का छन्द मैं हूँ। इस गायत्री की वेदों में बड़ी महिमा गायी गयी है। सोम लेने के लिए भिन्न भिन्न छन्द गये वे सोमस्थान में अपने वर्ण और छोड़ आये। जब गायत्री गई तो वह सोम को भी ले आई और उन वर्णों के छोड़े हुए अक्षरों को भी ले आई, इत्यादि शतपथब्राह्मण में कहा गया है। ब्रह्मसूत्र में भी 'छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न' इत्यादि सूत्र में श्रेष्ठ है। ब्राह्मण वर्ण भी गायत्री छन्द से ही प्रजापति ने बनाया है—यह "गायत्र्या ब्राह्मणं निरवर्तयत्" इस श्रुति से सिद्ध है। इन्हीं कारणों से गायत्री को सर्वश्रेष्ठ मानकर भगवान् ने अपना रूप बतलाया। महीनों में मार्गशीर्ष मेरा रूप हैं। यहाँ लोकमान्यतिलक ने मार्गशीर्ष को अपना रूप भगवान् ने क्यों बतलाया—इस पर कुछ विवेचन लिखा है। उनका कथन है कि पूर्व काल में मार्गशीर्ष से ही महीनों की गणना होती थी इसीलिए इसका नाम "आग्रहायण" भी कोश में मिलता है। इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि कभी सम्पात मृगशीर्ष नक्षत्र पर रहा होगा उसी समय वसन्त ऋतु का और संवत्सर का भी प्रारम्भ हो सकता है। महाभारत-मीमांसाकार ने यह अनुमान लगाया है कि महाभारत का युद्ध मार्गशीर्घ में ही हुआ था—यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है, अतः भूमि का भार उतारना जो भगवान् कृष्ण के अवतार का मुख्य प्रयोजन था, वह मार्गशीर्ष में ही सिद्ध हुआ, इस कारण मार्गशीर्ष को भगवान् ने अपना रूप बतलाया और ऋतुओं में वसन्त ऋतु रूप मैं हूँ। ऋतुओं में तो वसन्त की श्रेष्ठता लोक में और कविसम्प्रदाय में प्रसिद्ध ही है। (३५)

छल करने वालों में द्यूतरूप मैं हूँ। यहाँ बहुत से लोग शङ्का किया करते हैं कि द्यूत जैसे जघन्य कार्य को भगवान् ने अपना रूप क्यों बतलाया ? इस पर हमारा वक्तव्य यह है कि जैसे अन्य कई धर्मों में उत्तम वस्तु परमात्मा से उत्पन्न मानी जाती

है और निकृष्ट वस्तु या कार्य शैतान से उत्पन्न माने जाते हैं, वैसा आर्यशास्त्रों का मत नहीं है। ऐसा मानने पर तो शैतान परमात्मा से ही बड़ा सिद्ध हो जाता है, क्योंकि बुराइयाँ संसार में बहुत हैं। आर्यशास्त्रों में तो सत् और असत् सब वस्तु परमात्मा से ही उत्पन्न मानी जाती हैं। जैसा कि गीता में ही स्थान स्थान पर कहा गया है। परमात्मा बड़ा दयालु है, वह जीवों के उद्धार के लिए चाहा करता है कि जीव किसी भी प्रकार मेरी ओर झुकें और मैं उनका उद्धार करूँ। इसलिए जो सदा ही द्यूत, चोरी आदि कुकर्मों में निरत रहते हैं और ईश्वर का कभी नाम भी नहीं लेना चाहते, यदि उन कुकर्मों में कहीं ईश्वर भाव बतलाया जाय तो संभव है वे भी उस तरफ झुक सकें, और शनैः शनैः उद्धार पा सकें। इसी आशय से द्यूत को भी भगवान् ने अपना रूप बतलाया है और तेजस्वियों में तेजरूप मैं ही हूँ। जीतने वालों में जयरूप होकर मैं प्रविष्ट हूँ, व्यवसाय अर्थात् नाना उद्योग करने वालों में व्यवसायरूप से मैं ही प्रविष्ट रहा हूँ और सत्वगुण वाले धार्मिकों में सात्विकरूप से मैं ही प्रविष्ट हूँ।

इन पद्यों में धर्मरूपता ही भगवान् ने अपनी प्रकट की है, क्योंकि वैसे धर्म वालों में वह धर्म ही साररूप होता है। यद्यपि यह बात पहिले सप्तम अध्याय में बतलाई गई है, तथापि यहाँ भी उसका स्मरण करने के लिए और दोनों प्रकरणों की एकवाक्यता बोधन करने के लिए धर्मरूपता के कुछ उदाहरण यहाँ भी कह दिये गये। (३६)

●

छत्तीसवाँ-पुष्प

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ।।३७।।
दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।।३८।।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।३९।।
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।।४०।।
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।४१।।
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।४२।।

वृष्णि अर्थात् यादवों में वसुदेव का पुत्र मैं हूँ। यद्यपि वसुदेव पुत्र ही यहाँ उपदेश करने वाले हैं इसलिए वासुदेवरूपता तो उनकी सिद्ध ही है, परन्तु जैसा कि हम कई जगह स्पष्ट कर चुके हैं कि यहाँ अहं शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम अव्यय भगवान् हैं। इस प्रकार यह संगति बैठ जाती है कि मैं वासुदेव अव्ययपुरुषरूप हूँ। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि मैं आपका चिन्तन कहाँ कहाँ करूँ–यह अर्जुन का प्रश्न था, इसलिए अपना नाम भी बतलाना भगवान् को आवश्यक प्रतीत हुआ कि मेरे रूप में भी परमात्मा का चिन्तन कर सकते हो। कई व्याख्याकारों ने यह भी लिखा है कि स्वयं अपने आपकी विभूति तो हो नहीं सकते, इसलिए विभूतिमान् अर्थात् जिसकी विभूति बतलाई गई है वह ही मैं हूँ। किसी किसी व्याख्या में वासुदेवशब्द का अर्थ हलधर बलराम भी किया है, वे भी वसुदेव के पुत्र हैं और विष्णु के दस अवतारों में उनकी ही गणना किया करते हैं। उनका मत है कि कृष्ण तो स्वयं भगवान् ही हैं, वे अवतारों की गणना में नहीं आ सकते। वस्तुतः यहाँ श्रीविद्यावाचस्पतिजी की ही व्याख्या अनुकूल होती है, जैसा हमने पूर्व में ही लिखा है कि "वासुदेव" यादवों में अव्ययपुरुषरूप हैं। पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तुम–श्रोता ही अव्यय पुरुष के

रूप हो। इसका आशय है कि तुम अपने आत्मा में भी अव्ययपुरुष का चिन्तन किया करो। मुनियों में व्यासरूप मैं हूँ। साक्षात् मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि कहलाते हैं। उनमें तो भृगु को अपना रूप बतला चुके हैं और जो ऋषियों से सीखकर वैसे ही विद्वान् बन गये हों वे मुनि कहे जाते हैं। उन मुनियों में व्यास को भगवान् अपना रूप बतला रहे हैं। व्यास भगवान् ने बहुत बड़े बड़े कार्य किये हैं। वेदों का विभाग, अष्टादशपुराणों और महाभारत आदि की रचना एवं वेदान्त के ब्रह्मसूत्र का निर्माण, इत्यादि कार्य उनके प्रसिद्ध हैं। इन्हीं कारणों से व्यासमुनियों में सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं। उन सर्वश्रेष्ठ व्यास को ही भगवान् ने अपना रूप बतलाया। कवियों में उशना अर्थात् शुक्राचार्यरूप मैं हूँ। (३७)

दमन करने वालों में दण्डरूप मैं हूँ। दमन अर्थात् मनुष्यों को अपनी अपनी मर्यादा में रखने वालों में दण्डरूप मैं हूँ। मर्यादा में रखने के चार उपाय नीति में वर्णित है—साम, दान, भेद और दण्ड। इनमें दण्ड को यद्यपि अगतिक गति कहा गया है, अर्थात् जब किसी भी उपाय से काम न चले तब दण्ड का प्रयोग करना चाहिये, किन्तु उक्त चारों उपायों में है दण्ड ही मुख्य, क्योंकि इससे अवश्य ही मर्यादा की रक्षा हो सकती है। इसी कारण "भीषाऽस्मात् वातः पवते" इत्यादि श्रुतियों में परमात्मा को भी भयदाता अर्थात् दण्ड देने वाला ही बतलाया गया है।

यहाँ भगवान् का भी यही आशय है कि दण्डरूप उपाय से ही मैं सूर्य चन्द्र आदि सबको मर्यादा में रखता हूँ। अपनी विजय चाहने वाले में नीतिरूप मैं हूँ। विजय दिलाने वालों में नीति ही प्रधान है। "जिगीषताम्" पद का विजय चाहने वाले पुरुष अर्थ किया जाय तब तो यहाँ भी धर्मरूपता ही भगवान् ने बतलाई—यही सिद्ध होगा और "जिगीषताम्" पद का विजय दिलाने वाले उपाय—यह अर्थलक्षणा से ले लिया तो उनमें सर्वश्रेष्ठ होने के कारण "नीति" को अपना रूप बतलाया—यह सम्बन्ध ठीक बैठ जायेगा। आगे भगवान् कहते हैं कि गोपनीयों में मौन मेरा रूप है, अर्थात् किसी वस्तु की गोपनीयता वाक्संयम से विशेष रूप में रहती है। इष्टमन्त्र आदि के द्वारा मनुष्यों की सिद्धि मिलना तभी संभव होता है जब उसको गुप्त रखा जाय। अतः सभी गोपनीयों में प्रधान होने के कारण भगवान् ने अपने को मौनरूप कहा और ज्ञानियों में जो ज्ञान है वह भी मेरा रूप है। परमप्रकाशरूप भगवान् की दिव्य आत्मविभूति ज्ञान है। सप्तम अध्याय में चार प्रकार के भक्तों की गणना के अन्त में ज्ञान को अपनी विभूति बतलाकर भगवान् ने उसकी विशेषता प्रकट की। (३८)

हे अर्जुन ! सभी भूतों का जो बीज अर्थात् मूल कारण है वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चर या अचर पदार्थ नहीं है जो मुझसे अलग हो, अर्थात् सबकी सत्ता मेरे

द्वारा ही है। (३९)

इसी बात को स्पष्ट करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि हे परन्तप अर्जुन ! कहाँ तक कहूँ मेरी दिव्य विभूतियाँ अनन्त हैं अर्थात् उन सबकी गणना नहीं हो सकती। यहाँ विभूतियों का जो विस्तार मैंने कहा वह तो एक संक्षेप प्रकार है। (४०)

भगवान् अपनी विभूतियों को पहचानने का लक्षण बतलाते हैं कि संसार में जो जो पदार्थ विशेष ऐश्वर्य, लक्ष्मी या शोभा तथा बल से युक्त हैं, वे सब मेरे तेज के अंश से प्रकट हुए हैं–ऐसा तुम समझो।

यहाँ विभूतिमत् आदि पदों में मतुप् प्रत्यय प्रशंसा अर्थ का बोधक है, अतः प्रशंसित ऐश्वर्य ही लेना चाहिये।

यहाँ श्रीविद्यावाचस्पति के मतानुसार "विभूतिमत्" शब्द से ब्राह्मण और श्रीमत्पद से वैश्य तथा ऊर्जित पद से क्षत्रिय का ग्रहण विवक्षित है। प्रशंसा योग्य विभूति, लक्ष्मी और बल को लोक में विशेष स्थान मिलता है। (४१)

इस प्रकार इस प्रकरण को पूर्ण करते हुए भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! अथवा तुझे इन बहुत सी बातों को जानने से क्या प्रयोजन है ? बस, साररूप से यही जान लो कि इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से व्याप्त कर मैं स्थित हूँ।

यह जगत् भगवान् का एक अंशरूप है–इसका विवरण ऋग्वेद के "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ० १०।९०।३) इस मन्त्र में मिलता है। इसी बात को यहाँ भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित कर कहा कि बस यही एक बात सदा ध्यान में रखने योग्य है। (४२)

दसवाँ अध्याय समाप्त ।

●

एकादश अध्याय

सैंतीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ।।१।।
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ।।२।।
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ।।३।।
मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ।।४।।

मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने रहस्यमय अध्यात्मविद्या का जो उपदेश दिया है उससे मेरा यह मोह जाता रहा। (१)

मैंने आपसे संसार की उत्पत्ति और लय का भी विस्तार से विवरण सुना, और हे पुण्डरीकाक्ष ! मैंने अविनाशी माहात्म्य का भी विस्तार से श्रवण किया। (२)

हे परमेश्वर ! इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि आपने अपने विषय में जो वर्णन किया है आप वैसे ही हैं। हे पुरुषोत्तम ! मैं आपका वह ईश्वरभाव से सम्पन्न रूप देखना चाहता हूँ। (३)

यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह ईश्वररूप देखने का मुझमें सामर्थ्य है तो हे योगेश्वर प्रभो ! मुझे आप अपना वह अव्यय रूप दिखलाइये। (४)

गीता के पिछले दश अध्यायों में भगवान् ने अर्जुन को जो मोहनाशक तत्त्वोपदेश दिया उस उपदेश ने अर्जुन के मोहान्धकार को दूर करने में प्रकाशस्तम्भ का कार्य किया, उसी की सूचना अर्जुन ने इस एकादशाध्याय के प्रथम पद्य में दी है। औषध खा लेने के बाद जब तक रोगी यह न अनुभव प्रकाशित करे कि उसका रोग दूर हो गया तब तक उसे सफल चिकित्सा नहीं कहा जा सकता। दवा वही है जो रोगी का रोग दूर कर स्वास्थ्य का अनुभव करा दे। इस प्रकार औषध सेवन के दो कार्य हो जाते हैं–एक रोग दूरीकरण और दूसरा स्वास्थ्यलाभ। अर्जुन का अज्ञानरूपी रोग अभी

दूर हुआ है–यह अभी उसके कथन से प्रतीत हुआ है, परन्तु अभी स्वस्थ होकर "करिष्ये वचनं तव" कहने की बात दूर है। यहाँ मोह अर्थात् द्वैतरूप अज्ञान का विगत होना अर्थात् अंशतः दूर होना ही अर्जुन ने स्वीकार किया। वह बिलकुल विनष्ट नहीं हुआ, वह बात गीता के अन्त में हुई, जब भगवान् ने पूछा कि "कच्चिदज्ञान संभूतः प्रनष्टस्ते धनंजय" उसके उत्तर में अर्जुन ने "नष्टो मोहः" की घोषणा की। यदि वह इतने ही से युद्धार्थ समुद्यत हो गया होता तो सम्भवतः गीता में अट्ठारह अध्याय नहीं, दस ही अध्याय होते। यहाँ के कथन से अर्जुन ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भगवान् ने जो कुछ कहा उसको उसने पूर्णरूप से अपनी बुद्धि में जमा भी लिया है। यह नहीं कि वह सारा कथन हवा में ही उड़ गया हो। श्रीकृष्ण ने जो कुछ उपदेश दिया उन उपदेशों के यहाँ अर्जुन ने शीर्षक लगा दिये हैं। वह कह रहा है कि आपने मुझे रहस्यमय अध्यात्मविद्या का उपदेश दिया है। इस अध्यात्मविद्या के उपदेश से ही भारत विश्वगुरु रहा है। जिस देश में संग्रामाङ्गण में खड़े खड़े संसार का सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण अनन्त ज्ञान के अमृत से भरा उपदेश सुना दिया गया हो, उस देश की क्षेत्र में समानता संसार में कौन कर सकता है। यही बात स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका की सर्वधर्मपरिषद में बड़ी फटकार के साथ कही थी कि ऐ अमेरिका निवासियो, विज्ञान से चमत्कार भरे यन्त्रों का तुमने आविष्कार किया है, व्यापार की अनन्त वस्तुएँ तुमने निकाली हैं, भारत तुमसे यन्त्र विज्ञान और व्यापार में पिछड़ गया है, वह तुमसे सीखेगा, तुम उसे सिखाते रहो, यन्त्र भी भेजते रहो, उसमें हमें कुछ नहीं कहना पर आश्चर्य तो यह है कि आप भारत में मिशनरियां भेजते हैं, भारत के लोगों को धर्मोपदेश देने के लिए। जिस देश में लड़ाई में खड़े खड़े गीता जैसे उपदेश सुना दिये गए हों, जिस देश की सूत कातने वाली स्त्रियों के चर्खे से 'सोऽहं सोऽहं' की ध्वनि निकला करती है, उस देश के निवासियों को आप लोग क्या धर्म सिखाएंगे। इस पर वहाँ के समाचार पत्रों ने भी इसका समर्थन किया था कि जहाँ विवेकानन्द जैसे महापुरुष विद्यमान हैं वहाँ धर्मोपदेशक भेजना हमारे लिए लज्जा की बात है।

वह अध्यात्मज्ञान जब साक्षात् भगवान् के मुख से ही सुन लिया तब उसके आनन्द की सीमा न रही, वह आनन्दविह्वल हो उठा, इसका प्रमाण यह है कि उसने उपर्युक्त चार श्लोकों में कमलपत्राक्ष, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, प्रभो, योगेश्वर, इतने सम्बोधन भगवान् के लिए लगा दिये। भगवान् कृष्ण का अर्जुन से प्रारम्भ से ही प्रेम रहा है, उसी स्नेह से प्रेरित होकर आज भगवान् ने सारे भारतीय शास्त्रों का निचोड़ अर्जुन को थोड़ी ही देर में कह सुनाया। अर्जुन जब गद्गद् हो गया तो बड़े स्नेह से उसने उनका स्मरण कमलपत्राक्ष शब्द से किया। यह भगवान् के नेत्रों की माधुरी को प्रकाशित करने

वाला सम्बोधन है जो कि प्रगाढ़ स्नेह का प्रतीक है। प्रेमपूर्ण भक्ति की उत्कट अवस्था में ही ऐसा सम्बोधन निकलना संभव है। भगवान् ने विगत अध्यायों में सारे संसार को अपनी ही विभूति बतलाया है, अर्जुन ने वह रूप भी उनका अच्छी तरह समझ लिया है, इसी उद्देश्य से उसका दूसरा सम्बोधन परमेश्वर है। उन सर्वव्यापी भगवान् को वह पुरुष रूप में ही देखता आया है, वह ईश्वर होते हुए भी अर्जुन के मानवशरीरधारी मित्र हैं, कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर भाव के उनके महत्त्व का और अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते करते भगवान् मेरी पहुँच के भी बाहर हो जाँय–यही विचार कर उनको पुरुषोत्तम कह रहा है, वे आज भी पुरुषश्रेष्ठ रूप से ही उनके सामने उपस्थित हैं। अर्जुन अपनी अपेक्षा प्रत्येक बात में श्रीकृष्ण को बढ़ा हुआ पाता है। ज्ञान में, वीरता में, योग में, ऐश्वर्य में, किसी भी क्षेत्र में उनकी थाह नहीं है। इसीलिए उनका स्वयं को भृत्य, सेवक, दास, अनुचर समझ कर वह उन्हें प्रभो कह रहा है। भगवान् ने कर्मयोग, बुद्धियोग आदि विविध योगों का अर्जुन को उपदेश दिया है, किस समय किस मार्ग से चलने में कल्याण है–यह भी स्पष्ट कर दिया है–"इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्" इत्यादि से प्रारम्भ से ही भगवान् ने योगमार्ग को प्रकाशित किया है। यह समझ कर अर्जुन उन्हें योगेश्वर भी कह रहा है। अर्जुन के द्वारा श्रीकृष्ण के लिए प्रयुक्त एक साथ इतने अर्थगर्भित सम्बोधन अर्जुन के अपने आपको भगवदर्पण कर देने के द्योतक हैं। अर्जुन एक सत्य वक्ता है, वह अपने मनोभावों को उसी रूप में उपस्थित कर देता है। श्रीकृष्ण के विषय में उसने अपने सभी मनोभावों को सर्वदा अवितथरूप में प्रकाशित किया। गीता के प्रथमाध्याय में उसने श्रीकृष्ण के सामने अपने सभी मनोभावों को खुलकर व्यक्त किया था। जब भगवान् की अविरल उपदेश धारा बहने लगी और अर्जुन उसमें निमज्जन करने लगा, तब भी उसने अपने मनोभावों को नहीं दबाया। जहाँ कहीं उसके मन में शंका हुई वहीं गीताकार को 'अर्जुन उवाच' से अर्जुन की शंका को उपस्थित करना पड़ा। अर्जुन ने एक जगह भगवान् से यहाँ तक पूछ लिया कि –

"तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव"

हे भगवान् आप मुझे इस घोर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं।" भगवान् भी कभी भी अर्जुन के प्रश्नों की उपेक्षा नहीं करते, अपितु उसके प्रत्येक प्रश्न का विश्लेषण करके पूर्ण अधिकार पूर्वक प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में शास्त्रों के गम्भीर रहस्यों का सीधी और सरल भाषा में सार कहते चले जा रहे हैं। अर्जुन पूर्ण एकाग्रता से उसका श्रवण कर रहा है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के अनुसार आत्मज्ञान से दूर जाकर ही मनुष्य

शोक मोहादि से ग्रस्त हुआ करता है। अर्जुन का मोह भी आत्मज्ञान के अभाव में लब्धास्पद हो रहा है। आत्मोपदेश से ही उसका दूर होना संभव है। आत्मज्ञान की तीन सीढ़ियाँ हैं–श्रवण, मनन और निदिध्यासन। अर्जुन भी यहाँ भगवान् से श्रवण कर रहा है और भगवान् के प्रभाव से उसका मनन भी साथ ही साथ चल रहा है। अर्जुन के मध्य में आने वाले प्रश्न ही उपदेश काल में उसकी मननशीलता की सूचना दे रहे हैं। अब निदिध्यासन बाकी है जो आत्मज्ञान का अनिवार्य अङ्ग है। निदिध्यासन समाधि या योग का ही स्वरूप है, उसमें आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन होना आवश्यक है। ज्ञानमार्ग के पथिक उसी के लिए अष्टाङ्गयोग का आश्रय लेते हैं। परन्तु यहाँ अर्जुन को योगाभ्यास करने का समय नहीं है। चारों ओर शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना युद्ध के लिए तैयार खड़ी है। आत्मा के पूर्णज्ञान के बिना अर्जुन का रोग निर्मूल नहीं हो सकता। वह नहीं भी हुआ। इसीलिए इस समय अर्जुन इस अवसर को हाथ से जाने देना नहीं चाहता। एक जागरूक भक्त के रूप में उसने यह भगवान् से निवेदन कर ही दिया कि आपने अपने जिस रूप का अभी विस्तार से वर्णन किया है क्या आपके उस रूप को मैं देख सकता हूँ ? हो सकता है वह ऐसा हो जिसके देखने का मैं अधिकारी न समझा जाऊँ। परन्तु आपके उस रूप को देखने की लालसा मेरे मन को अत्यन्त उत्सुक बनाए दे रही है। आपसे तो यह छिपा नहीं है कि मैं आपका वह रूप देख सकता हूँ या नहीं। यदि देख सकता हूँ तो हे भगवन् ! आप वह रूप मुझे अवश्य दिखा दीजिए।

शास्त्रों का शब्दात्मक उपदेश सभी सुनते रहते हैं परन्तु वह ज्ञान सर्वदा जाग्रत नहीं रह पाता, न ही वह समस्त संशयों का निवारक है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान सभी संशयों का उच्छेदक होता है, आंखों देखी वस्तु को सभी सर्वथा सत्य मान लेते हैं। यही बात आत्मज्ञान के विषय में भी है। आत्मोपदेश तो एक से एक बड़े विद्वान् और महात्मा के द्वारा करोड़ों व्यक्ति सर्वदा सुनते रहते हैं, परन्तु सभी आत्मज्ञानी नहीं हो जाते। आत्मज्ञान आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन करने के बाद ही होता है। आत्मा या परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन बिना परमेश्वर की कृपा के संभव नहीं। वही उन्हें देख या जान सकता है जिसे वे स्वयं वरण कर लें–

''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः''

''सोइ जाने जेहि देहु जनाई।।''

बड़े–बड़े महात्मागण भी आत्मोपदेश करते करते थक जाते हैं, जब कोई श्रोता उनसे यह प्रार्थना करता है कि महात्मन् ! मेरी आपके वचनों में बड़ी श्रद्धा हो गई

है, आप कृपा कर मुझे ईश्वर का दर्शन करा दीजिए, तब वे महात्मा यदि कोरे परोपदेश कुशल हों तब तो बगलें झांकते हैं और यदि परमेश्वर से अनुगृहीत हैं तब यही निर्देश करते हैं कि भक्ति, उपासना या ज्ञान किसी मार्ग का अभ्यास करो, तुम्हें परमेश्वर का दर्शन अवश्य हो जायेगा। इसी प्रकार का मार्ग दिखलाने में वे समर्थ हैं, ईश्वर को आँखों के सामने प्रकाशित कर देना उनकी सामर्थ्य के बाहर की बात है। परन्तु यहाँ तो अर्जुन को कोई विद्वान् महात्मा उपदेश देने नहीं आये हैं, स्वयं भगवान् परमेश्वर ही अर्जुन को अपने स्वरूप से अवगत करा रहे हैं, इसलिए उनके लिए अपने रूप को दिखा देना कुछ भी अशक्य नहीं, अर्जुन भी इसीलिए भक्ति विनम्र होकर उनसे उनके स्वरूप के दिखा देने की प्रार्थना कर रहा है। भगवान् भी शास्त्रों के परिपालक हैं, यदि शास्त्र किसी मनुष्य को इस प्रकार भगवद्दर्शन का अधिकार नहीं देता तो शायद भगवान् भी अपने उस रूप को मुझे प्रकाशित नहीं करेंगे–इसी विचार से अर्जुन ने भी 'यदि' लगा दिया है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं है कि 'यदि' भगवान् अपना रूप दिखा सकते हों तो दिखावें। भगवान् के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखने वाला अर्जुन भगवान् के सामर्थ्य में आशंका करे यह संभव नहीं है। अतः यही मानना उपयुक्त है कि शास्त्र परिपालन की दृष्टि को सामने रखकर ही अर्जुन ने यह निवेदन किया है। अर्जुन के अग्रज भीमसेन के सामने भी एक बार ऐसा ही प्रसंग आ गया था, वह गन्धमादन पर्वत पर कमल के पुष्पों को द्रौपदी के लिए लाने जा रहा था। पवनसुत हनुमान् पहाड़ की उस छोटी सी पगडंडी के बीच वृद्ध वानर का वेश बनाकर लेट गये और उनके बीच में लेट जाने से वह छोटा सा मार्ग रूक गया। इतने में भीम उसी मार्ग से बढ़ते हुए वृद्ध वानर के सामने जा पहुँचे। उन्हें बड़ी जल्दी थी, लेकिन वानर का उल्लंघन उन्होंने अनुचित समझकर वृद्ध वानर से कहा कि तुम मेरे मार्ग से हट जाओ मैं शीघ्रता में हूँ। वानर ने बड़ी शिथिल वाणी में उत्तर दिया कि पथिक मैं बहुत अस्वस्थ हूँ, मार्ग में पड़ा हूँ, उठने की शक्ति भी मुझमें नहीं है, तुम्हीं कृपया मेरी पूंछ एक तरफ हटाकर निकल जाओ। भीम को तो शीघ्रता थी ही उन्होंने अपने दोनों हाथों से वृद्ध वानर की पूंछ उठाकर अलग करने की चेष्टा की, अपनी दस हजार हाथियों की पूरी शक्ति लगा डाली पर यह कोई सामान्य पूंछ नहीं थी, इसी पूंछ ने राक्षसराज रावण की लङ्का को अग्निदेव के अर्पण कर दिया था, वह पूंछ टस से मस भी न हुई। दुःशासन के दस हजार हाथियों के बल की द्रौपदी के चीर में परीक्षा हो चुकी थी, भीम के उसी बल की वृद्ध वानर की पूंछ में परीक्षा हो गई। आश्चर्य का पुतला बना भीम प्रार्थना कर रहा था कि आप कोई सामान्य वानर नहीं हैं, अवश्य ही आप कोई देव, विद्याधर या यक्ष हैं। आप कृपया मुझे अपना परिचय दीजिए। वृद्ध वानर

ने कहा मैं हनुमान् तुम्हारा अग्रज हूँ। तुम्हें इस मार्ग में आगे जाते देखकर तुम्हें सावधान करने के उद्देश्य से यहाँ आकर लेट गया हूँ। आगे गन्धर्व राज्य है, यह मनुष्यों के जाने का मार्ग नहीं है, मनुष्य यहीं तक आ सकता है जहाँ तुम खड़े हो, यदि तुम अपने कार्य को बहुत ही आवश्यक समझते हो तो आवश्य जाओ, परन्तु गन्धर्वों से सावधान रहना, यही मुझे तुम्हें बतलाना था। वृद्ध वानर का कथन भीम ने बड़ी श्रद्धा से सुन तो लिया परन्तु जिस प्रकार अर्जुन ने यहाँ भगवान् से उनका ईश्वर रूप देखने की प्रार्थना की है वैसे ही भीमसेन ने भी भगवान् से प्रार्थना की कि आज सौभाग्य से आपका दर्शन हो गया, मेरी एक अभिलाषा पूर्ण कर दीजिए। मुझे कृपया अपना वह रूप दिखा दीजिए जिस रूप को धारण कर आपने समुद्रोल्लंघन किया था। उसके बाद ही उसने देखा कि हनुमान् का मस्तक आकाश में सूर्य के नजदीक पहुँच गया, उनके पैरों में सारे अन्तरिक्ष का अन्तराल बँध गया, उस विशाल और मन से भी अचिन्त्य हनुमान् के रूप को देखकर भीमसेन घबड़ा गया और उनसे अपने रूप का संवरण करने की प्रार्थना करने लगा। यहाँ अपने नेत्रों को सफल बनाने के लिए ही अर्जुन ने भी भगवान् से अपना रूप दिखा देने की विनम्र प्रार्थना की है। (१-४)

●

अड़तीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्त्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।।५।।
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ।।६।।
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुड़ाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ।।७।।
नतु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।।८।।

अर्जुन की पूर्वोक्त विश्वरूप दर्शन की इच्छा पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कोई नकारात्मक उत्तर नहीं दिया। कोई सामान्य व्यक्ति जो कि उस रूप को दिखलाने में असमर्थ हो वही नकारात्मक उत्तर देता है। परन्तु भगवान् तो सभी सामर्थ्यों से युक्त हैं। प्रश्न यही रह जाता था कि अर्जुन भगवान् के उस अव्ययरूप को देखने का अधिकारी है या नहीं, यही बात अर्जुन ने भी अपने पूर्वोक्त कथन से स्पष्ट कर दी थी कि यदि आप यह समझते हैं कि आपका वह रूप आँखों से देखने का मैं अधिकारी हूँ तो कृपया मुझे दिखलाइये। इससे अर्जुन ने अपना विनीत भाव प्रकट कर दिया था और वह अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं जाना चाहता–यह भी उसने स्पष्ट कर दिया था। विनय-अभिमानशून्यता बड़े से बड़े अधिकार को प्राप्त करने में समर्थ बना देती है। पहले के अध्यायों में श्रीकृष्ण ने अपने रूप को प्राप्त करने का अधिकारी उसे ही बतलाया है जो भक्तिभाव से उन्हें आत्मसमर्पण कर दे। यही बात अर्जुन के विषय में पहले भी और यहाँ भी सर्वथा चरितार्थ हो चुकी है, इसीलिए भगवान् ने उसे यह अमूल्य उपदेश भी दिया और जब उसने विश्वरूप दर्शन की इच्छा प्रकट की तो उसके उत्तर में वे कहते हैं–

"हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों हजारों स्वरूपों को तुम देखो, वे रूप अनेक प्रकार के दिव्यरूप हैं, उनमें नानावर्ण हैं अनेक प्रकार की आकृतियाँ उनमें हैं।" (५)

"आदित्य वसु रुद्र अश्विनीकुमार मरुत इत्यादि देवताओं को देखो और हे भारत ! बहुत से ऐसे आश्चर्यों को देखो जो कि तुमने आज तक कभी नहीं देखे होंगे।" (६)

"हे गुडाकेश ! आज तुम मेरे शरीर में चर और अचर सहित सारे जगत् को देखो और इसके अतिरिक्त भी तुम अपने मन में जो शङ्का धारण किये हुए हो उसका उत्तर भी देख लो।" (७)

"तुमने ठीक ही कहा, तुम अपने इन्हीं प्राकृतिक नेत्रों से मेरे ऐश्वर्य रूप को देखने में समर्थ न हो सकोगे। मैं तुम्हें दिव्य चक्षु प्रदान करता हूँ, उन चक्षुओं से मेरे ईश्वर सम्बन्धी योग को देखो। (८)

इन चार श्लोकों में भगवान् ने चार बार "पश्य" इस शब्द की आवृत्ति की है। ऐसा मालूम होता है कि भगवान् अपने उस रूप को अर्जुन को दिखाने के लिए पहले से ही तैयार बैठे हैं। उनमें अपने रूप को अर्जुन के प्रति दिखलाने का बड़ा उत्साह है कि आज हमें मानों सृष्टि में पहली बार विराट् रूप के दर्शन का एक अधिकारी प्राप्त हुआ है। एक व्यक्ति अपने महत्व को प्रकाशित करने के लिए किसी उपयुक्त अधिकारी का अन्वेषण करता रहता है। कोई प्रकाण्ड विद्वान् यह चाहता है कि मुझे कोई ऐसा योग्य शिष्य प्राप्त हो जिसे मैं अपने ज्ञान का पूर्ण रूप से वितरण कर सकूँ। कोई भी कलाकार अपनी कला के महत्व को पहचानने वाले व्यक्ति का अन्वेषण करता रहता है। जब गुरु को शिष्य और कलाकार को कोई पारखी मिल जाता है तो वे अपनी विद्या और कला को प्रकाशित करने के लिए कुछ भी उठा नहीं रखते। अर्जुन की विद्या, बुद्धि और पराक्रम में श्रीकृष्ण को पूर्ण विश्वास है। यद्यपि सामान्य व्यक्तियों की भाँति उन्हें अपने रूप को प्रकाशित करने की कोई लालसा नहीं है, जैसे कि किसी विद्वान् और कलाकार को हुआ करती है। परन्तु किसी भी उपयुक्त पात्र के मिलने पर अपने रूप दिखाने का जो उत्साह उनके अन्दर है वह उनकी शब्दावली में प्रतिपद प्रकाशित हो रहा है। उन्होंने अर्जुन को यहाँ पार्थ कहकर सम्बोधन किया। व्याख्याकारों ने इस सम्बोधन की पृष्ठभूमि में अर्जुन के प्रति भगवान् कृष्ण के निरतिशय स्नेह का प्रकाशन माना है। अर्जुन के आगे दो सम्बोधन-भारत और गुडाकेश और हैं। भारत उसके वंश का ही परिचायक सम्बोधन है परन्तु गुडाकेश सम्बोधन अर्थगर्भित है। भगवान् के इस विराट् रूप को देखने की योग्यता पूर्ण जितेन्द्रिय पुरुष में ही संभव है, अभ्यास करते करते इन्द्रियों को बहुत से लोग वश में कर लिया करते हैं, परन्तु आलस्य के आक्रमण से संसार का कोई प्राणी नहीं बच पाता। वह आलस्य शरीर मन आदि के श्रम से उत्पन्न होता है, निद्रा उसी का मूर्तिमान् रूप है। 'गुडाका' का अर्थ

निद्रा किया जाता है, इसका 'ईश' अर्थात् जितनिद्रय पुरुष ही 'गुडाकेश' सम्बोधन का अधिकारी है। अर्जुन ने अपनी जीवन की कितनी ही रात्रियाँ भगवान् के साथ नाना कार्य करते हुए बिता दी थीं, अत: भगवान् को इसका प्रमाण मिला हुआ था कि अर्जुन जितेन्द्रिय पुरुष होने के कारण अप्रमत्त और कर्तव्य में जागरूक पुरुष है, ऐसा ही पुरुष उस रूप को देखने का अधिकारी हो सकता है। वैसे अर्जुन का यह सम्बोधन गीता में ही अनेक बार प्रयुक्त हो चुका है और अन्यत्र भी यथावसर प्राचीन साहित्य में इसका उपयोग हुआ है, परन्तु इस प्रकरण में अर्जुन का भगवान् के द्वारा किया गया यह सम्बोधन कुछ विशेष महत्व रखता है जो कि ऊपर प्रकट किया गया है और जिससे विश्वरूप दर्शन के लिए अर्जुन की पूर्ण पात्रता सिद्ध हो जाती है।

भगवान् ने इस पद्यावली में यह बतलाया है कि विराट्रूप में उसे क्या दिखाई देगा। अर्जुन यहाँ अनेक प्रकार के दिव्यरूपों को देखेगा, उसे इस रूप में नाना प्रकार के वर्ण दिखाई देंगे और अनेक प्रकार की आकृतियाँ दिखाई देंगी। अपने इस कथन से भगवान् ने विराट् रूप की मोहक दर्शनीयता को व्यक्त किया है। किसी सुरम्य दृश्य के लिए रूप का आकर्षण प्रथम वस्तु है। कोई नाटक रंगमंच आदि तब तक दर्शनीय नहीं बनता जब तक की उसमें अनेक प्रकार के लाल, पीले, नीले, हरे, काले, सफेद विविध आँखों को लुभाने वाल रङ्ग न हों। नाटक के मंच को विविध रंगों की रोशनी से सजाये बिना दर्शकों को उसमें आनन्द प्राप्त नहीं होता। वर्तमान में तो मिश्रण से कितने ही प्रकार के वर्णों की सृष्टि हो रही है। जो कुछ मुझे दर्शन कराया जायगा यह कोई भयावह दृश्य होगा या बिलकुल नीरस स्वरूप होगा, ऐसा नहीं है। दुनियाँ का रमणीय से रमणीय रूप भी तो वहीं से प्रादुर्भूत हुआ है, मोहक से मोहक रंग भी तो उसी से प्राप्त हुए हैं, नहीं नहीं हमारे दृश्यमान सुन्दर वर्णों की रमणीयता तो विश्वरूप के वर्णों की रमणीयता का आभास भी नहीं दे सकेगी। जिन वर्णों को हम देखते हैं, उनसे तो हमारा मन ही नहीं भरता, इसका अर्थ है कि वो अपूर्ण है, मन को पूर्णतया तृप्ति प्रदान कर देना उनकी शक्ति के बाहर है, परन्तु परमात्मा के शरीर स्थित वर्ण तो सर्वथा परिपूर्ण मात्रा में सुव्यवस्थित दिखाई देंगे। वर्णों के साथ ही साथ नाना आकृतियों के देखने की बात भी भगवान् ने उस रूप की दर्शनीयता को प्रकट करने के लिए ही कही है। अनेक प्रकार के रंग जैसे देखने में आकर्षण उत्पन्न करते हैं, वैसे ही अनेक प्रकार की आकृतियाँ भी दृष्टि के आकर्षण में मुख्य कारण हैं। देवियों और देवताओं में भी विलक्षण आकृतियाँ मानी गई हैं। हनुमान् वानराकार हैं, गणपति का मस्तक हाथी का है, ब्रह्मा और शंकर के पांच मुख हैं, कार्तिकेय के छह मुख हैं, वराह और नृसिंह के भी विलक्षण आकार हैं। इस प्रकार उपास्य देवताओं में भी

विचित्र आकृतियों के दर्शन होते ही हैं। यह विश्वरूप भी सभी देवताओं का एकत्र प्रदर्शक होगा। अतः इसमें एक ही जगह नाना आकृतियों का दिखाई देना भगवान् ने कहा है। यह भगवान् का विराट् रूप यद्यपि एक ही है परन्तु इनमें आकृति और वर्णों की तथा दर्शनीय पदार्थों की अनेकता से "रूपाणि" यह बहुवचनान्त प्रयोग किया गया है। शत और सहस्त्र शब्द यहाँ सैकड़ों और हजारों के वाचक नहीं अपितु अनन्त के वाचक हैं, जैसा कि वेदमन्त्र में भी "सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" इत्यादि स्थलों पर व्यवहार देखा गया है। वहाँ यदि 'सहस्त्रशीर्षा पुरुषः' का अर्थ 'वह पुरुष एक हजार मस्तकों वाला था' यह किया जाय तो 'सहस्त्राक्षः' आदि का ठीक अर्थ न बैठेगा, एक हजार आँखों वाला ऐसा अर्थ करने पर सिर भी एक हजार और आंखें भी एक हजार यह अर्थ होगा, तो क्या सारे सिर एक ही नेत्रों वाले होंगे। इस प्रकार के स्थलों पर भी भरत शास्त्र के अनुसार इन संख्यावाचक शब्दों को निश्चित संख्या में सीमित न मानकर अपरिमित संख्या का द्योतक माना जाता है, उसी के अनुसार यहाँ भी हे पार्थ ! अनन्त रूपों को तुम इस मेरे एक ही शरीर में देख लो—यह आशय स्पष्ट हो जाता है।

श्रीरामानुजाचार्य भगवान् के इस कथन की पृष्ठभूमि में अर्जुन का कौतूहलान्वित और हर्ष से गद्‌गद् होकर प्रार्थना करना ही भगवान् की इस परमरूपदर्शन की कृपा का कारण है ऐसा मानते हैं, जो कि अन्य व्याख्याकारों को भी सम्मत है। उन्होंने पद्य के "रूपाणि" पद के विशेषण के रूप में 'सर्वाश्रयाणि' और जोड़ा है, उनके अनुयायी 'तात्पर्य चन्द्रिका' के रचयिता वेङ्कटनाथ ने सर्वाश्रयत्व को स्पष्ट करते हुए सबके आश्रयरूप आदित्य आदि मण्डलों को ग्रहण किया है, शतसहस्त्ररूपों की व्याख्या में श्रीरामानुजानुयायी तात्पर्य चन्द्रिकाकार ने उनके सम्प्रदाय में व्यूह बना कर अनन्तरूपों में परिदृष्ट हो जाते हैं। एक ब्रह्माण्ड को एक आदित्य प्रकाशित करता है, इस रूप में सभी ब्रह्माण्डों का एक साथ दर्शन होगा अतः ब्रह्माण्डों की अनेकता को शतसहस्त्र आदि शब्दों से बतलाया गया है ऐसी व्याख्या भी उनकी है। नानाविधशब्द के अर्थ में भी प्रत्येक अवयव संस्थान में भूषण और आयुधों के अलग-अलग सन्निवेश आदि का अभिप्राय अन्तर्गर्भित है। दिव्यशब्द का अर्थ भी यहाँ 'दिविभवं दिव्यम्' 'स्वर्ग में होनेवाला' ऐसा करना उपयुक्त नहीं, क्योंकि आगे उस रूप के वर्णन में पृथिवी आदि का भी समावेश बतलाया जायेगा। इसीलिए श्रीरामानुज ने दिव्य का अर्थ 'अप्राकृत' किया है, अर्थात् ये रूप इस प्रकार के हैं जो प्रकृत के समुत्पादित नहीं हैं, जो भगवान् के अपने ही रूप हैं। नाना वर्णों की व्याख्या में भी तात्पर्यचन्द्रिकाकार ने अपने सम्प्रदायानुसार यही विलक्षणता दिखलाई है कि वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध

ये जो चार व्यूह हैं वे प्रत्येक युग के अनुसार श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण माने गए हैं, उन सभी का इस विश्वरूप में एकत्र सन्निवेश होने से ही इस रूप में नानावर्णों की समष्टि हो गई है।

आगे के पद्यों में बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, दो अश्विनी कुमार और उनचास मरुत् को देखने को कहा गया है, साथ ही ऐसे दृश्य भी देखने को कहा गया है जो अदृष्टपूर्ण हैं अतः उनका कोई अलग नाम भी नहीं दिया गया; उन्हें आश्चर्य ही कह दिया गया है। ये दृश्य केवल अर्जुन के ही द्वारा अदृष्टपूर्व हों—ऐसी बात नहीं है, वस्तुतः सृष्टि में ऐसे दृश्य किसी ने देखे ही नहीं। आदित्य, वसु, रुद्र और अश्विनीकुमार ये चारों सृष्टि के निर्माता तथा परिचालक देव प्राण हैं, इनका वर्णन वेदों में ही बड़े विस्तार से उपलब्ध हो जाता है, वस्तुतः ये अव्यय-परब्रह्म के सूक्ष्मशरीर में सर्वदा स्थित रहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का विवरण जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में प्राणि मात्र को हुआ करता है, वैसे ही परब्रह्म के भी तीनों शरीर हैं। यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् तो उनका स्थूल शरीर है ही, सूक्ष्मशरीर वह है जहाँ इस स्थूल जगत् के परिचालक तत्त्वदेवता, ऋषि, पितृ आदि सर्वदा उपस्थित होकर प्रतिक्षण अपने अपने नियत कार्य का संचालन करते हैं। उनके कार्य में थोड़ी सी भी असावधानी संभव ही नहीं है, क्योंकि स्वयं परब्रह्म प्रतिक्षण उनके कार्यों के निरीक्षक के रूप में सर्वत्र उपस्थित रहता है। "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" इत्यादि मन्त्रों में उस परब्रह्म के ही भय से सूर्य का उदय और वायु का संचरण बतलाया गया है। अतः परमात्मा का सूक्ष्मशरीर सर्वदेव, ऋषि, पितृ आदि से युक्त रहता है, सारा ब्रह्माण्ड उसके एकदेश में संस्थित रहता है, स्थूल जगत् में जिन घटनाओं का अनुभव हमें होता है, सूक्ष्म जगत् में वे घटनाएँ उससे बहुत पहिले ही घटित हो जाया करती हैं। सूक्ष्मजगत् के अन्वेषक और ज्ञाता स्थूलजगत् में घटित होने वाली बातों को पहिले ही जान लेते हैं। अनेक बार स्वप्नों में जो कि सूक्ष्म जगत् के ही अंश होते हैं, हमें आगे घटित होने वाली घटनाओं की पूर्व सूचनाएँ मिल जाया करती हैं। यहाँ भी भगवान् ने अपना सूक्ष्मरूप से सर्वत्र अवस्थित शरीर ही अर्जुन को दिखलाया है। अतः सूक्ष्मजगत् में स्थित सभी पदार्थों का परिचय दिया गया है।

आनन्दगिरि इस पद्य को पूर्वपद्य की व्याख्या के रूप में ग्रहण करते हैं। पहिले 'दिव्यानि रूपाणि' कहा गया था, उसी का स्पष्टीकरण आदित्य आदि के निर्देश से किया गया। पहिले पद्य में जो 'नानाविधानि' (अनेक प्रकार के) यह कहा गया था, उसी को यहाँ 'बहून्यदृष्टपूर्वाणि' से स्पष्ट किया गया है, वहाँ जो 'नानावर्णाकृतीनि'

कहा था, उसी को यहाँ 'आश्चर्याणि' कहा गया है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि संसार की अनेक बातों का ज्ञान तो हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो जाता है और बहुत सी बातें जो प्रत्यक्ष प्रमाण से वेद्य नहीं होतीं वे शास्त्र के द्वारा विदित होती हैं। देवता आदि का स्वरूप, स्वर्ग, अपूर्व आदि का ज्ञान शास्त्र के ही आधार पर होता है। इसके अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे पदार्थ हैं, जिनका शास्त्रों में भी वर्णन नहीं मिलता, परन्तु उनकी सत्ता अवश्य है। यहाँ विश्वरूप में लोकदृष्ट, शास्त्रदृष्ट और सर्वथा अदृष्ट सभी पदार्थों को देखने के लिए कहा गया है। श्रीवल्लभाचार्य के नाम से मुद्रित व्याख्या में 'आश्चर्याणि' का अर्थ यह किया गया है कि विश्वरूप में परस्पर विरुद्ध पदार्थों को एकत्र अवस्थित दिखलाया जायेगा। लोकमान्यतिलक ने लिखा है कि महाभारत के नारायणीय धर्मप्रकरण में भी नारद को भगवान् ने विश्वरूप दिखलाया था, वहाँ ये ही देवगण वर्णित हैं, वहाँ यह विशेषता है कि बारह आदित्य बाईं ओर, आठ वसु सामने की ओर, ग्यारह रुद्र दाहिनी ओर तथा दो अश्विनी कुमार पिछली तरफ थे। यहाँ गीता में उनके सन्निवेश का वर्णन नहीं है और यह आवश्यक भी नहीं है कि सन्निवेश का भी एक सा ही वर्णन सर्वत्र किया जाय। विश्वरूप दर्शन का प्रसंग अन्यत्र अनेक स्थानों पर आता है, तब 'अदृष्ट पूर्वाणि' का अर्थ कैसे समन्वित होगा ? इस पर आगे 'यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्' इस पद्यांश की व्याख्या में हम कहेंगे। देवताओं में भी ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चारों वर्णों का भेद शतपथ ब्राह्मण आदि में बतलाया गया है जिसका लोकमान्यतिलक ने यहाँ भी संकेत कर दिया है कि वसु ब्राह्मण हैं, आदित्य क्षत्रिय हैं, मरुद्‌गण वैश्य हैं और अश्विनीकुमार शूद्र वर्ण के हैं।

केवल आदित्य देवता ही नहीं, इस रूप में चर-अचर सहित सम्पूर्ण जगत् एक ही जगह दिखाई देगा। सारा जगत् करोड़ों वर्षों में भी कोई देखने में समर्थ नहीं हो सकता। यद्यपि विज्ञान के चमत्कारपूर्ण यन्त्रों के द्वारा वर्तमान में अल्प समय में सारी पृथ्वी की परिक्रमा सम्पन्न करा दी जाती है। आकाश के ग्रह नक्षत्र आदि का अन्वेषण और दर्शन भी शक्तिशाली यन्त्रों की सहायता से आज उपक्रान्त हो रहा है और देश तथा काल की दूरी आज बहुत सामीप्य में बदली जा रही है। परन्तु फिर भी सृष्टि के बहुत रहस्यमय प्रदेश अभी यन्त्रों की पहुँच के बाहर हैं और ऐसे-ऐसे ब्रह्माण्ड भी बहुत हैं। विज्ञान के द्वारा एक ब्रह्माण्ड का पता लग सकता है। कभी किसी चीज का कहीं पता लगता है, कभी कहीं कोई रहस्यमय पदार्थ प्राप्त हो जाता है, अन्वेषण का निरन्तर प्रचलित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि सर्वत्र रहस्य व्याप्त है। जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष दर्शन के योग्य हैं उन्हीं का इन यान्त्रिक गवेषणाओं से पता लगता है, परन्तु जो पदार्थ सर्वथा अतीन्द्रिय हैं, उनके विषय में विज्ञान सर्वथा नकारात्मक

उत्तर दे देता है। इसी से जनता में उन विषयों पर सन्देह अपना स्थान बना लेता है कि ये वस्तुएँ जिनका कि शास्त्रों में इतने विस्तार से वर्णन मिलता है, उनकी कोई स्थिति है या नहीं ? परन्तु वस्तुतः बात यही है कि वे पदार्थ इन्द्रिय ग्राह्य हैं ही नहीं। यहाँ भगवान् ने उन सभी तत्त्वों को अर्जुन को दिखा देने की प्रतिज्ञा जो की है वह उन्हीं के सामर्थ्य के अनुरूप है। वे अपने शरीर के एक देश में स्थित सम्पूर्ण चराचर को देखने के लिए कह रहे हैं। इसके अतिरिक्त अर्जुन को यह भी स्वतन्त्रता दे रहे हैं कि तुम वह सब भी देख लो जो देखना चाहते हो। प्रथम अध्याय में अर्जुन ने कहा था कि हम यह भी तो निश्चय नहीं कर सकते कि हममें और कौरवों में कौन अधिक बलवान् है, विजय हमारी होगी या उनकी होगी। अर्जुन को अपनी इसी शङ्का का उत्तर युद्ध होने के पहिले ही अपने नेत्रों से प्रत्यक्ष देखने के लिए भगवान् कह रहे हैं। आगे विश्वरूप के वर्णन में भी यह बात आयेगी कि संग्राम में खड़े समस्त योद्धागण विश्वरूप के मुख में प्रवेश कर रहे हैं। अतः सभी व्याख्याकार 'यच्चान्यद् द्रष्टमिच्छसि' का यही अर्थ लगाते हैं कि इससे अर्जुन की इसी मानसिक उलझन का समाधान किया गया है कि इस युद्ध में विजय किसकी होगी। युद्ध के पहिले ही जय पराजय कैसे दिखा दिये गये इसका उत्तर हम ऊपर दे चुके हैं कि भौतिक जगत् की घटनाएँ कैसे भौतिकजगत् की घटनाएँ सूक्ष्मजगत् में पहिले घटित हो जाती हैं और वे ही भौतिकजगत् में प्रतिबिंबित हो जाया करती हैं। यहाँ भगवान् ने अर्जुन की दृष्टि को जगत् से हटाकर सूक्ष्म जगत् की ओर उसे प्रेरित कर दिया।

भगवान् का वह दिव्य रूप, जिसको दिखाने की यहाँ प्रतिज्ञा हुई है भौतिक नेत्रों से दिखाई नहीं दे सकता। भौतिक नेत्र तो परिमित वस्तु को ही देखने में समर्थ हुआ करते हैं, वह रूप तो अपरिमित और आद्यन्तशून्य है। अतः उस दिव्यरूप को देखने के लिए दिव्यनेत्रों की ही आवश्यकता हुआ करती है। ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले योगी उस रूप का दर्शन करने के लिए अपने बाह्यनेत्रों को बन्द कर समाधि के द्वारा दिव्यनेत्रों का उद्‌घाटन करते हैं सामान्यदर्शन से ऊपर के दर्शन के लिए भी ज्ञानमयनेत्रों की आवश्यकता होती है जो कि गुरु के द्वारा प्रदत्त होते हैं–यही गुरु की विशेषता है। एक सुप्रसिद्ध उक्ति है–

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः

अज्ञानरूपी तिमिर से अन्धी बनी हुई दृष्टि का जिन्होंने विज्ञान के अंजन से भरी

सलाई लगाकर उन्मीलन कर दिया उन गुरुदेव को प्रणाम है। यहाँ भी अर्जुन ने "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" कह कर भगवान् के प्रति अपना शिष्यत्व स्वीकार कर ही लिया था, इसीलिए भगवान् भी अपना रूप दिखाने के लिए उसे दिव्य विज्ञानमय नेत्र दे रहे हैं। यह दूसरी बात है कि सामान्य गुरु आदि में जितनी शक्ति होती है उतना ही सामर्थ्य वे शिष्य की बुद्धि में दे सकते हैं, किन्तु अर्जुन को तो आज अपरिमित शक्तिवाले गुरु मिले हैं इसीलिए वे सब कुछ दिखला सकते हैं। महाभारत में अन्यत्र भी ऐसा प्रसंग आया है कि जब भगवान् ने अपने दिव्यरूप की झलक दिखायी। युधिष्ठिर का सन्धि-सन्देश लेकर धृतराष्ट्र की सभा में जब भगवान् श्रीकृष्ण दूत के रूप में उपस्थित हुए और दुर्योधन ने उन्हें बांधने का जब उपक्रम किया तब भी भगवान् ने अपना घोर रूप दिखलाया था –

> **"तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः**
> **न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानत्रस्त चेतसः**
> **ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम्**
> **तत्रायं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान्**
> **प्रादात्तेषां च भगवान्दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः**
>
> (म०भा० ५।१३१।१३-१५)

केशव के उस घोररूप को देखकर धृतराष्ट्र की सभा में उपस्थित सभी राजाओं के नेत्र बन्द हो गए, उनके चित्त में त्रास उत्पन्न हो गया। केवल द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह और विदुर उस तेज से त्रस्त नहीं हुए, वहाँ जो महात्मागण उपस्थित थे उन्हें भगवान् ने अपने स्वरूप को देखने के लिए दिव्यनेत्र प्रदान किये। योगचक्षु से दूर के विप्रकृष्ट पदार्थ और पास के सूक्ष्म पदार्थ भी दिखलाई दे जाया करते हैं। जब महाभारत युद्ध की तैयारी हो चुकी तो महर्षि वेदव्यास धृतराष्ट्र के पास पहुँचे। धृतराष्ट्र ने उनसे निवेदन किया कि सारे संसार के यशस्वी योद्धा इस संग्राम में आये हैं, यह युद्ध अवश्य ही दर्शनीय होगा, परन्तु नेत्रों के न रहने से मैं इस अभूतपूर्व दृश्य के देखने से वंचित ही रह जाऊँगा। इस पर सर्वविधि सामर्थ्य संपन्न भगवान् व्यास ने कहा कि राजन् ! यदि तुम्हारी इस युद्ध को देखने की प्रबल अभिलाषा है तो मैं तुम्हें योगशक्ति से दृष्टि प्रदान कर सकता हूँ, तुम अपने स्थान पर बैठे हुए ही संग्राम का सारा दृश्य देख सकोगे। इस पर धृतराष्ट्र ने कहा कि सारा जीवन तो बिना नेत्रों के कट गया और आज अपने पुत्रादि का नाश देखने के लिए मैं आपसे नेत्रों की याचना करूँ–यह उपयुक्त नहीं, यदि आप मुझ पर ऐसी ही कृपा करना चाहते हैं तो किसी मेरे अनुचर

को ऐसी शक्ति दे दीजिए जो मेरे पास में ही स्थित रह कर संग्राम का दर्शन करता रहे और मुझे पूरा पूरा विवरण सुनाता रहे। यह सुनकर भगवान् व्यास ने संजय, जो वहाँ उपस्थित थे उनको योगचक्षु प्रदान किये जिससे कि संजय धृतराष्ट्र के पास बैठे हुए महाभारत संग्राम का दर्शन किया करते थे और समय समय पर संग्रामभूमि में जाकर प्रत्यक्ष दर्शन भी कर लेते थे। वह यथादृष्ट दृश्यों को धृतराष्ट्र को सुनाते रहे। इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय सिद्ध महात्मागण अतीत अनागत दूरस्थ तथा अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थों को योगशक्ति से न केवल स्वयं ही जान लेते थे, अपितु जिस पर अनुग्रह करते उसे भी इस प्रकार देखने योग्य नेत्र प्रदान कर देते थे। भगवान् के सामर्थ्य की तो बात ही क्या, अर्जुन को कहीं यह शंका न हो कि आप दिव्यचक्षु देने की बात कह रहे हैं तो मेरे इन नेत्रों को आप क्या करेंगे ? इस पर टीकाकारों ने आशय स्पष्ट किया है कि हे अर्जुन ! तुम्हारी आँखों को जरा भी पीड़ित किये बिना मैं तुम्हें अपने रूप को देखने में समर्थचक्षु प्रदान करूँगा। तुम्हारे नेत्रों से केवल आवरण ही तो हटाना है जिसके कारण सूक्ष्मपदार्थ व्यवहित हो रहे हैं। मोतियाबिन्द का ऑपरेशन कर देने पर आँखें पुनः देखने में समर्थ हो जाती हैं, वहाँ केवल आँखों पर आया हुआ आवरण ही तो हटाया जाता है, यहाँ किसी यन्त्रशास्त्र आदि का प्रयोग आवरण हटाने के लिए नहीं करना पड़ेगा, यह केवल मानसिक व्यापार से ही सम्पन्न हो जायेगा।

दिव्यचक्षु प्रदान करके ऐश्वर्ययोग को दिखाने की बात यहाँ कही गई है। धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार बुद्धि के रूपों की सत्ता ईश्वर में है—यह हम कह आए हैं। यह ऐश्वर्ययोग बुद्धि का वह चतुर्थ रूप ही है जो भगवान् में सर्वदा वर्तमान रहता है। आठों सिद्धियाँ और नवों निधियाँ इस रूप में सर्वदा स्थित रहती हैं। अतः सर्वरूप होने के कारण भगवान् भक्त की इच्छा के अनुसार सभी रूपों में प्रकट हो जाया करते हैं। (५-८)

●

उन्तालीसवाँ-पुष्प

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ।।९।।
अनेक वक्त्रनयनमनेकाद्भूतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्याऽनेकोद्यतायुधम् ।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतो मुखम् ।।११।।
दिविसूर्यसहस्त्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाःसदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः ।।१२।।
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।।१३।।
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ।।१४।।

भगवान् ने अर्जुन को अपना दिव्यरूप देखने के लिए दिव्यनेत्र दे दिये और वे युद्ध क्षेत्र में अर्जुन के सारथी बने रथ हांक रहे थे, वहीं उन्होंने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखा दिया। भगवान् सारे विश्व के द्रष्टा हैं, आज अर्जुन की प्रार्थना पर उन्होंने अपने आपको दृश्य बना दिया, यहाँ अर्जुन द्रष्टा है और भगवान् अपने विश्वरूप में दृश्य हैं। अर्जुन जब भगवान् का विश्वरूप देख रहा है तब उसके मन में कोई प्रश्न नहीं है, केवल भगवान् के उस रूप को पूर्णरूप से देख लेने का कौतूहल है। हम जब कोई परमआश्चर्य की घटना देखते हैं तो हमारी वाणी मूक हो जाती है, केवल नेत्र ही देखने का काम करते हैं, अर्जुन की भी वही स्थिति है, विश्वरूप दर्शन के समय उसकी वाणी मौन है, सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मानों आँखों में ही एकत्र हो गई हैं। अभी वह उस रूप का वर्णन करने में भी असमर्थ है। उस विश्वरूप का दर्शन दो व्यक्तियों को इस स्थान पर हो रहा है, एक तो स्वयं अर्जुन है जो मुग्धभाव से इस रूप को देख रहा है और दूसरा संजय है जिसको भगवान् वेदव्यास की कृपा

से पहिले ही दिव्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी है, उसकी दृष्टि के सामने भगवान् का विश्वरूप भी है और उसका दर्शक अर्जुन भी खड़ा है, यद्यपि अर्जुन उस रूप दर्शन से मुग्ध हो चुका है, संजय की भी चाहे वही स्थिति हो चुकी हो परन्तु वह अपने कर्तव्य में जागरूक है, उसे महाभारत संग्राम में घटित होने वाली घटनाओं को सुनाने के लिए धृतराष्ट्र के पास भगवान् वेदव्यास ने दिव्यदृष्टि देकर बिठाया है, अतः जो विश्वरूप सामने प्रकट हुआ उसका वर्णन वह आगे छः श्लोकों में करता है। वह कहता है कि "हे राजन्, अर्जुन से ऐसा कह कर महायोगेश्वर भगवान् हरि ने पार्थ को अपना परम ऐश्वर्य रूप दिखाया।" हरि का अर्थ है हरण करने वाला, भगवान् भक्तों की अविद्या और क्लेशों के हरण कर लेने के कारण भी हरि हैं और यज्ञ में अपने भाग का स्वयं हरण करने के कारण भी हरि हैं तथा सबसे अधिक आकर्षक हरे रंग का शरीर धारण करने के कारण भी उन्हें हरि शब्द से सम्बोधित किया है। महाभारत के मोक्ष धर्मप्रकरण में हरि शब्द का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि–

"इडोपहूतं गेहेषु हरेर्भागं क्रतुष्वहम्
वर्णो मे हरितः श्रेष्ठस्तस्मात् हरिरिति स्मृतः"

भगवान् का एक नाम कृष्ण है जिसका अर्थ होता है काला, दूसरा हरि है जो उन्हें हरे रंग का बतलाया है परन्तु वर्णन की शैली में काला और हरा एक ही मान लिये जाते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं रहता। भगवान् का विशेषण यहाँ "महायोगेश्वर" है। विश्वरूप दिखाने की पूर्णशक्ति का इस विशेषण से तात्पर्य है, अनेक प्रकार के आश्चर्यों को दिखा देना बाजीगरों के द्वारा भी शक्य हो जाता है, भगवान् ने धृतराष्ट्र की सभा में दुर्योधन को जब विविध रूप दिखलाए तभी भगवान् के प्रति उसकी आस्था हो जानी चाहिए थी, परन्तु उसने वहाँ यही उत्तर दिया था कि हम तो राजा लोग हैं, ऐसे ऐसे बाजीगर राजाओं के पास आकर अपना कौतुक दिखलाया ही करते हैं, इसलिए प्रत्यक्ष चमत्कार देखकर भी गहन मोह का आवरण होने के कारण दुर्योधन श्रीकृष्ण के रूप में श्रद्धावान् न हो सका। वेणीसंहार नाटक में सहदेव ने भमसेन के द्वारा जब भगवान् के दुर्योधन के सामने विविध रूप दिखाने की बात और फिर भी दुर्योधन के सचेत न होने की बात सुनकर आश्चर्य प्रकट किया तो भीमसेन ने यही कहा कि–

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोद्रेकाद्विघटिततमोग्रन्थयः सत्वनिष्ठाः ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा परस्तात्
तं मोहान्धः कथमयममुं वेत्तु देवं पुराणम् ।।

आत्मा में रमण करने वाले परब्रह्म में प्रेम रखने वाले, ज्ञान शक्ति को बढ़ाकर अपनी तमोगुण की ग्रन्थियों को विघटित कर देने वाले महात्मागण निर्विकल्पक समाधि में सारे मोहान्धाकार और सारे प्रकाशों के आगे स्थित जिस रूप का दर्शन किया करते हैं, उस रूप को मोह से अन्धा बना हुआ यह दुर्योधन कैसे पहिचान सकता है। परन्तु अर्जुन और संजय तो भगवान् के स्वरूप को यथार्थरूप में समझते हैं, इसलिए विश्वरूपदर्शन में उनके पूर्ण सामर्थ्य की अभिव्यंजना के लिए यहाँ महायोगेश्वरशब्द का प्रयोग भगवान् के लिए किया गया है। व्याख्याकारों ने इस शब्द पर दो प्रकार की व्याख्याएँ लिखी हैं। योग का अर्थ होता है जीव और ब्रह्म की एकता, जो महापुरुष होने के साथ साथ इस योग को भी पूर्णरूप से जानते थे उन शुकदेव, वामदेव, याज्ञवल्क्य, जनक आदि के भी ईश्वर होने के कारण भगवान् महायोगेश्वर कहलाये। श्रीरामानुज ने महा का अर्थ आश्चर्य किया है, अर्थात् आश्चर्यमय योगों के जो अधीश्वर हैं उन भगवान् ने पार्थ को परमऐश्वर्यरूप दिखलाया। वेदान्त प्रक्रिया में माया विशिष्ट ब्रह्म की ईश्वर संज्ञा है, क्योंकि माया परिग्रह के अनन्तर ही ईशनक्रिया संभव होती है। जीव भी ईश्वर का ही अंश है–"ईश्वर अंश जीव अविनाशी", परन्तु माया के अनेक सघन आवरणों से आबद्ध हो जाने के कारण उसका ईश्वरभाव तिरोहित-सा हो जाता है, इसीलिए जहाँ ऐश्वर्यरूपं कहा गया है वहाँ "परमम्" भी कहा गया, यह वह स्थिति है जहाँ पर ब्रह्ममाया का परिग्रह तो कर लेता है, परन्तु माया का उस पर कोई आवरण नहीं, माया की ग्रन्थियाँ उस पर नहीं है, वह पूर्णरूप से माया का ईशन कर रहा है, उसका यथेच्छ उपयोग कर रहा है। गीता के भूमिकारूप प्रवचनों में हम कह चुके हैं कि यहाँ अर्जुन सारे जीवों का प्रतिनिधि बनकर उपस्थित है और उपदेष्टा भगवान् साक्षात् परब्रह्म के स्वरूप हैं। उनका वही ईश्वरभाव यहाँ प्रत्यक्ष हो रहा है। ऐश्वर्य ने यहाँ जो रूप दिखलाया वह किसी अन्य का रूप नहीं था, अपितु अपना ही असाधारण रूप था। जिस रूप में सर्वदा वे अर्जुन के साथ रहा करते थे वह तो सर्वसाधारण रूप था। मनुष्यमात्र को वैसा रूप सुलभ था, उनके अंगों में विलक्षण चमत्कार होना दूसरी बात है, परन्तु अंगों के सन्निवेश में अन्य मनुष्यों से उनमें कोई विलक्षणता नहीं थी। हाँ विशेष अवसरों पर चतुर्भुज आदि आकार उनके देखे गए या अनेक अवसरों पर अतिमानुष सिद्धियाँ भी उनमें देखी गईं, परन्तु सर्वदा के व्यवहार में वे मानवाकार में ही प्रत्यक्ष होते रहे। यह विश्वरूप उनका असाधारणरूप है, यह और किसी के पास नहीं है। (९)

इसके आगे विश्वरूप का वर्णन किया जाता है। यह वर्णन बहुत ही सरस है, महाभारत ही नहीं भारतीय वाङ्मय के श्रेष्ठ भागों में इस वर्णन की गणना की जाती

है। भगवान् के विश्वरूप का वर्णन अनेक स्थानों पर वेद आदि में प्राप्त होता है परन्तु वर्णन की दृष्टि से जितना सौन्दर्य और स्वाभाविकता इस वर्णन में है वैसी अन्यत्र मिलना कठिन है। इसके पढ़ते-पढ़ते आँखों के आगे भगवान् का वह रूप आविर्भूत होने लगता है और रोमांच होने लगता है। "विश्वरूप-धारी भगवान् के अनेक मुख और नेत्र थे, अनेक अद्‌भुत दृश्यों से वह युक्त, अनेक दिव्यआभरणों से वह सुशोभित था और उस रूप में अनेक दिव्यशस्त्र उठे हुए दिखाई दे रहे थे। अनेक मुख दिखाई देने का अर्थ अनन्त मुखों से है। यहाँ अनेक शब्द का 'एक से अधिक' यह तात्पर्य न होकर अनन्त से ही तात्पर्य समझना चाहिए, क्योंकि एक से अधिक मुखादि तो अनेक देवताओं के स्वरूप में आ जाते हैं, फिर उन देवताओं से इस विश्वरूप में क्या वैशिष्ट्य रहेगा और यह विश्वरूप अभूतपूर्व कैसे माना जा सकेगा। अतः व्याख्याकारों ने अनेक शब्द को अनन्त के लिए ही माना है। वे अनेक मुखादि भी समान रूप के नहीं अपितु अनेक रूपों के थे। यदि एक ही प्रकार के अनेक रूप होते तो 'अनेक रूप और अनेक नेत्रों वाला'–यह कहना निरर्थक होता, जहाँ मुख अनेक रहेंगे वहाँ नेत्र तो स्वभावतः अनेक होंगे ही, फिर उनको पृथक् कहने की क्या आवश्यकता थी, इससे यही तात्पर्य निकाला जाता है कि वे अनेक मुख भी एक ही आकार प्रकार के नहीं थे अपितु अनेक आकारों के अनेक मुख थे उनमें नेत्र भी अनेक थे। इस प्रकार अनेक आकारों वाले अनेक मुखों का वर्णन विश्वरूप के ध्यान में सर्वत्र मिलता है और उस रूप के सर्वदेवमय होने के कारण वैसा वर्णन उचित भी है, क्योंकि देवताओं के विभिन्न प्रकार के आकार हमारे यहाँ समुपलब्ध भी होते हैं। गणपति का मुख गजाकार है, वराह भगवान् का मुख सूकराकार है, भगवान् हयग्रीव का मुख घोड़े के आकार वाला है, हनुमान् जी का मुख वानराकार है, नृसिंह का मुख सिंह के समान है, कार्तिकेय के छः मुख हैं, शंकर भगवान् के पांच मुख हैं, ब्रह्माजी के चार मुख हैं। इन सभी रूपों और आकारों का वैज्ञानिक गूढ़ तात्पर्य है जिसको समझे बिना कुछ लोग इन उपास्य रूपों पर अनेक प्रकार की शंकाएँ उपस्थित किया करते हैं। इस विषय का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक हो जायगा, परन्तु इतना कह देना आवश्यक है कि देवताओं के वर्णनों में रूपों की इस विविधता का कारण यह है कि जिस देवता में जिस तत्त्व की प्रधानता है वह तत्त्वसृष्टि में जिस आकार में प्रस्फुटित हो जाता है वही उस देवता का रूप मान लिया जाता है। ऐसा इसलिए भी किया गया है कि उन उन देवताओं का तात्त्विक रूप हमारे सर्वदा सामने रहे और हम उस रूप का ध्यान करते हुए उसके तात्त्विक रूप का भी ध्यान कर सकें। वस्तुतः वे रूप हमारे चरम उपास्य नहीं, अपितु उनका तात्त्विक रूप ही हमारा चरम उपास्य बनता है। परन्तु उस तात्त्विक रूप तक पहुँचने का माध्यम

वे प्रत्यक्षरूप ही हुआ करते हैं। अतः उन रूपों को ध्यान में लेना भी परम आवश्यक है। जैसे वर्णमाला में और लिपि में आपाततः कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, वर्णमाला उच्चारण और श्रवण का विषय है और लिपि लिखने और देखने का विषय है, परन्तु लिपि के माध्यम से ही हम वर्णमाला-शब्दों, वाक्यों और महावाक्यों तक पहुँच पाते हैं, उसी प्रकार विशिष्ट आकृतियाँ जिनमें प्रतीकरूप से सम्पूर्ण जगत् का विस्तार अन्तर्भूत हो जाता है हमें अनेक प्रकार के रहस्यों को बतलाती हुई सर्वत्र अपनी महिमा से परिव्याप्त परब्रह्म तक पहुँचा देती हैं। इस विषय का अधिक विवरण हम आगे के प्रवचनों में प्रसङ्गानुसार प्रस्तुत करेंगे, यहाँ भगवान् के विश्वरूप में भी सारा चर-अचर देव-दानव आदि प्रपंच दिखाते हुए उनको सूत्ररूप से स्पष्ट करने के अभिप्राय से 'अनेक वक्त्र नयनं' यह विश्वरूप का विवरण सर्वप्रथम दिया गया और आगे अर्जुन ने जब उसका वर्णन प्रारम्भ किया तब भी "पश्यामि देवांस्तव देव देहे" यहीं से किया। अतः विश्वरूप में देवताओं का साक्षात्कार हुआ—यह सबसे बड़ी चमत्कार की बात है। आगे अर्जुन के द्वारा प्रयुक्त देवशब्द के विवरण में भी देवतत्व का थोड़ा परिचय प्रस्तुत किया जायेगा। इसके बाद विश्वरूप को "अनेकाद्भुतदर्शनम्' कहा गया है। जो पदार्थ पहिले कभी न देखा हो अथवा जिस दृश्य का साक्षात्कार पहिले कभी न हुआ हो और साथ ही जिसमें विस्मय जनकता भी हो उसे अद्भुत शब्द से कह दिया जाता है। किसी अदृष्ट पूर्व तथा विस्मयोत्पादक वस्तु को देखकर हम यह कहते हैं कि हमने एक अद्भुत वस्तु देखी, यहाँ मुख और नयन तो ऐसी वस्तुएँ हैं जो सर्वत्र देखी जाती हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त विश्वरूप में ऐसी भी अनेक वस्तुओं के दर्शन हुए जो अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व हैं। ठीक ही है, करोड़ों वर्षों में भी किसी के द्वारा विश्व की समस्त वस्तुओं को देख लेना असाध्य कार्य है, अन्य वस्तुओं को छोड़ दें उपनिषद् का ही दृष्टान्त लें कि एक मिट्टी के बने पदार्थों का भी सारे संसार में परिचय प्राप्त करने चलें तो उसका परिचय प्राप्त कर लेना भी एक मनुष्य के द्वारा अपनी पूरी आयु में भी, या अनेक आयु में भी संभव नहीं, तब संसार के सभी पदार्थों की इयत्ता प्राप्त कर लेनी सर्वथा अशक्य है। परन्तु परब्रह्म के स्वरूप में तो सभी कुछ अवस्थित है, इसलिए उनके विश्वरूप से बाहर कोई वस्तु नहीं जा सकती। जब दर्शक को अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वस्तुएँ दिखाई देंगी तो वह जिनको पहिचानता होगा उनका नाम लेगा और जिनका उसे परिचय न होगा उन्हें या तो कल्पित नाम देकर अभिव्यक्त करने की चेष्टा करेगा या उसके चित्त पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करेगा। यहाँ संजय ने उन अभूतपूर्व दृश्यों को देखकर "अनेकाद्भुतदर्शनम्" इतना ही कहा क्योंकि उन दृश्यों का पहिले परिचय न होने के कारण उनको कोई संज्ञा देने

में वह असमर्थ है। भगवान् ने पहिले अदृष्टपूर्व आश्चर्य दिखाने की प्रतिज्ञा की थी, उसके साथ भी विश्वरूप में अद्भुत दृश्यों को देखने की वर्णन की एकवाक्यता बन जाती है। श्रीशंकरानन्द ने "अनेकाद्भुतदर्शन' पद को भी नेत्रों के वैशिष्ट्य दिखाने में ही लगाया है, उनका अर्थ है अपरिमित और आश्चर्य उत्पन्न करने वाले ऊपर नीचे तिरछे देखने वाले, विकार, सौम्य साधारण, भयंकर और विचित्र दृष्टियाँ या नेत्र जिसमें है। नयन पहिले कह दिया गया है अतः इस व्याख्या में दृष्टि शब्द से निर्वचन करने का तात्पर्य यही मालूम होता है कि नेत्रों की दर्शन क्रिया से अभिप्राय है। वह रूप अनेक दिव्य आभरणों से युक्त था। ऐश्वर्यरूप में आभरणों का रहना स्वतः सिद्ध है। भगवान् के शरीर पर दिव्यआभरण सर्वदा विराजमान रहते हैं। कौस्तुभमणि उनकी ग्रीवा में सर्वदा सुशोभित रहती है, श्रीवत्स चिह्न भी आभूषण के रूप में उनके वक्षःस्थल पर विराजमान रहता है। मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, अङ्गद आदि का विलक्षण वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण के वर्णन प्रसङ्ग में श्रीमद्भागवत आदि में स्थान स्थान पर प्राप्त होता है। आभूषणों को सभी देवताओं के ध्यान में अनिवार्य स्थान दिया गया है। उपासना में सबसे पहली आवश्यक बात है चित्तवृत्ति की एकाग्रता। चित्त की एकाग्रता में आभूषणों का ध्यान मानसिक उत्सुकता को जागृत करके चञ्चलता को निवृत्त करने में सहायक होता है। भक्त ध्यान मुद्रा में अपने इष्टदेव के दर्शन का प्रयास करते समय सबसे पहले आभूषणों पर ही अपने मन को केन्द्रित करता है। सुन्दर सुन्दर आभूषणों के मानसिक स्मरण से चित्तवृत्ति जब एकाग्र हो जाती है तब उपास्य देव का स्वरूप दर्शनक्रम से सुकर हो जाता है। इसीलिए पूजा पद्धतियों में सर्वत्र आभूषणों के ध्यान का महत्व है। अनेकानेक देवियों और देवताओं के अनेकानेक आभूषण हैं। भगवान् शङ्कर के आभूषण मुण्डों की मालाएँ ही हैं, परन्तु चन्द्रमा और गंगा भी उनके आभूषणों में सम्मिलित हैं। पुराणों में इन आभूषणों और आयुधों की भी प्रतीकात्मकता का विस्तार से वर्णन मिलता है। विष्णुपुराण में चित्तवृत्तियों को ही भगवान् के आभूषण और आयुधों के रूप में चित्रित किया है। आगमशास्त्र में जितने अक्षर हैं, उन अक्षरों के समुदाय को ही भगवती या भगवान् शङ्कर की मुण्डमाला बतलाया है। इस प्रकार प्रत्येक आभूषण और आयुध का विस्तार से निरूपण पुराणों और आगमों में प्राप्त होता है। आभूषणों को धारण करना प्रसन्नता और मांगल्य का सूचक माना जाता है। प्राचीनकाल के राजागण भी विभिन्न शुभ अवसरों पर विभिन्न आभूषण धारण किया करते थे। विश्वरूप में भी दिव्यआभरणों का दर्शन प्रसन्नता का सूचक है। वहाँ दिव्य अनेक समुद्यत आयुध भी हैं, संग्राम के अवसर आयुधदर्शन का विशेष महत्व है। प्राचीनकाल में युद्धों में अनेक प्रकार के गदा, खड्ग, धनुष, बाण, पट्टिश, तोमर आदि आयुधों का

प्रयोग होता था। भगवान् भी कौमोदकी नाम की गदा, नन्दक नाम का खड्ग और सुदर्शनचक्र आदि को आयुध के रूप में धारण करते हैं, दुष्ट दलनपूर्वक भक्तों का परित्राण आयुध धारण का मुख्य उद्देश्य है। यहाँ विश्वरूप में विभिन्न दिव्यआयुधों का धारण भगवान् किये हुए हैं और अन्याय पक्ष के दमन की सूचना दे रहे हैं। एक टीका में यहाँ पञ्चमहाभूत ही भगवान् के आयुधरूप में वर्णित हुए हैं–ऐसा विवरण किया गया है जो भगवान् के परिकर की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत है। (१०)

वह रूप दिव्यमाला तथा वस्त्रों से अलंकृत है, उसमें दिव्यगन्ध का अनुलेपन है, वह देव सभी प्रकार के आश्चर्यों से युक्त हैं, वे अनन्त और चारों ओर मुख वाले हैं। विश्वरूप के वर्णन में यहाँ सभी पदार्थों को दिव्य बतलाया गया है जो प्रत्येक वस्तु की अलौकिकता का द्योतक है। (११)

यदि आकाश में एक साथ सहस्त्रों सूर्यों की आभा प्रकट हो जाय, तो वह जो तेजः पुञ्ज होगा वह उस महान् विश्वरूपात्मक पुरुष की एक झलक दे सकेगा। विश्वरूप के प्रकट होते ही उसका अपरिमित प्रकाश सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त हो गया। यह वही तेज है जिसका एक एक अंश प्राप्त करके सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि प्रकाशित हो रहे हैं। वह प्रकाश अपरिमेय है। परब्रह्म दिव्य तेज से सर्वदा आवृत रहता है। आत्मा का तेज दिव्य तेज होता है। साधनमार्ग या भक्तिमार्ग में प्रवेश करने वाले पहिले आन्तरिक तेज के ध्यान से बाह्यतेज का अतिक्रमण करते हैं। आन्तरिक विशुद्ध आत्मतेज में परब्रह्म आवृत रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जनक याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं कि भगवन् ! संसार में ज्योति या प्रकाश क्या है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा कि सूर्य ही प्रकाश है। इस पर जनक ने पुनः प्रश्न किया कि सूर्य का प्रकाश तो दिन में ही सुलभ होता है, जब रात्रि में सूर्य भी नहीं रहता तो कौन सा प्रकाश रहता है? इस पर याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उस समय चन्द्र का प्रकाश संसार के कार्य का निर्वाहक है। जनक ने कहा कि चन्द्रमा भी शुक्लपक्ष में ही प्रकाश फैलाता है, जब कृष्णपक्ष में वह नहीं रहता तब किसका प्रकाश व्यवहार का परिचालन करता है ? इस प्रश्न पर याज्ञवल्क्य ने जनक के जिज्ञासाभाव की सराहना करते हुए उत्तर दिया कि उस समय अग्नि का प्रकाश जगत् के व्यवहार का निर्वाहक होता है। जनक अभी रूकने वाले नहीं थे, उन्होंने कहा कि जहाँ अग्नि भी सुलभ नहीं, न अन्य प्रकाशों की कोई संभावना है वहाँ कौन सा प्रकाश व्यवहार का निर्वाहक है ? तब याज्ञवल्क्य ने बड़ी प्रसन्नता से उत्तर दिया कि जहाँ अरण्य आदि में घोर अन्धकार व्याप्त हो वहाँ व्यवहार का परिचालन वाणी या शब्द के आधार पर होता है। निर्जन अरण्य में अनेक प्रकार के शब्दों को सुनकर या परस्पर वाणी के आदान प्रदान के द्वारा थोड़ा बहुत

व्यवहार संचालन हो जाया करता है, वाणी ही उस समय प्रकाश का काम देती है। अब अन्तिम प्रश्न फिर जनक ने किया भगवन् ! जिस समय गहरी निद्रा में प्राणी विलीन रहता है, उस समय उसके लिए सूर्य चन्द्र अग्नि या वाणी कोई भी प्रकाश काम के नहीं होते तो क्या वह विशुद्धतम की अवस्था है या वहाँ भी कोई प्रकाश है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि वहाँ आत्मा का प्रकाश ही काम दे रहा है, वह प्रकाश ही सबका प्रकाशक है, जब कोई प्रकाश काम नहीं देता तब वही प्रकाश वाणी का साक्षी बनता हुआ उसके अन्धकार को दूर करता है और जागृत होने पर उसे पुनः चैतन्य या स्फूर्ति प्रदान करता है। वही प्रकाश उसे यह भी बोध कराता है कि मैं आज बड़े आनन्द की निद्रा में रहा, यदि वहाँ कोई प्रकाश या चैतन्य सत्ता है ही नहीं तो फिर प्राणी को "मैं बड़े आनन्द से सोया, मुझे कुछ भी बोध नहीं रहा" यह अनुभव किस आधार पर होगा ! फलतः उस समय साक्षिरूप आत्मा का प्रकाश ही जीव को अनुभूत होता है। इसी बात को स्वाराज्यसिद्धि नामक वेदान्तग्रन्थ में कहा गया है कि –

संशान्ते रविशशिवह्निवाक्प्रकाशे,
निर्वाणे करणगणे निरस्ततन्त्रः ।
स्वज्योतिः प्रकटितवासनामयार्थ-
श्चिद्धातुः श्रुतिभिरुदिरितोऽन्तरात्मा ।

अर्थात् सूर्य, चन्द्र, अग्नि और वाणी के प्रकाश के सम्यक् शान्त हो जाने पर और समस्त इन्द्रियगण के भी क्रियाशून्य हो जाने पर अपने तन्त्रों को छोड़कर जो ज्योति वासनामय अर्थों को प्रकाशित करने वाला चैतन्य है उसी को श्रुतियों ने अन्तरात्मा कहा है, वह अन्तरात्मा का ही प्रकाश है। इस सारे सन्दर्भ का प्रकृत में तात्पर्य यही है कि जितनी ज्योतियाँ संसार में परिदृश्यमान हैं उन सबमें आत्मज्योति ही सबसे प्रधान है। जिसकी आत्मज्योति चली जाती है उसको संसार में किसी ज्योति का आश्रय नहीं मिल सकता। इतना ही नहीं संसार के ज्योतिपिण्ड भी उसी सर्वात्मज्योति का थोड़ा थोड़ा प्रकाश ग्रहण करके प्रकाशित होते हैं। विश्वरूप का प्रकाश भी इतना अपरिमित है कि हमारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करने वाले सूर्य के समान जब हजारों सूर्य आकाश में एक साथ उदित हो जाँय तब उस सर्वात्मज्योति की कुछ आभा दे सकते हैं। यहाँ विश्वरूप के तेज के वर्णन में आलंकारिक शैली का प्रयोग किया गया है। जहाँ वस्तुतः कोई उपमान न मिलता हो और नए उपमान की कल्पना करके प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु की सहायता दिखाई जाय वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद या अभूतोपमा नाम

का अलंकार माना जाता है। अतिशयोक्ति अलंकार के भेद में 'यदि' आदिशब्दों का प्रयोग आवश्यक होता है, इसे उपमा का एक भेद अभूतोपमा भी कुछ आलंकारिक विद्वान् मानते हैं। प्राचीन अलंकारशास्त्र के आचार्य उपमा अलंकार में उपमान की वास्तविक स्थिति आवश्यक मानते थे। मुख आदि के चन्द्र आदि जो उपमान हैं वे कल्पित नहीं, अपितु वास्तविक हैं। अतः वास्तविक पदार्थों में ही उपमान की योग्यता होना प्राचीन आचार्यों को सम्मत था, अतः कल्पित उपमान के साथ सादृश्यवर्णन के प्रसंग पर वे अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद मानते थे। परन्तु परवर्ती आलंकारिक आचार्यों ने उपमा अलंकार में उपमान वास्तविक ही होना चाहिए–यह नियम आवश्यक नहीं माना और कल्पित उपमान के साथ प्रकृत वस्तु का सादृश्य स्थापित कर देने को भी उपमा अलंकार के ही भेदों में गिना। दोनों ही पक्षों में यह बात स्पष्ट है कि जो प्रकृत पदार्थ है और जिसे हम कल्पित करके कोई उपमा देना चाहते हैं वह वस्तुतः अनुपम है, उसके लिए वास्तविक जगत् में कोई उपमान मिल सकता ही नहीं, इसीलिए उपमान की कल्पना करनी पड़ती है। काव्यों में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन करते हुए शिशुपालवध महाकाव्य में महाकवि माघ ने इसी शैली का प्रयोग किया है कि –

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगंगापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ।

(सर्ग ३ श्लो० ८)

अर्थात् यदि आकाश में आकाशगंगा के जल की दो धारायें पृथक् प्रवाह के रूप में प्रवाहित हों तो उनसे भगवान् कृष्ण के तमालवृक्ष के समान नीले और दोनों ओर मुक्तालताओं से आबद्ध वक्षःस्थल की उपमा दी जा सकती है। आकाशगंगा के दोनों ओर से गिरने वाले प्रवाह दोनों ओर आबद्ध मुक्तालता के समान होंगे और बीच का आकाश उनके वक्षःस्थल के समान होगा क्योंकि ऐसा अभी तक हुआ नहीं इसलिए ऐसा होना संभव नहीं, फलतः वक्ष की निरुपमता सिद्ध हो जाती है। महिम्नस्तोत्र में भगवान् शंकर की स्तुति करते हुए पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं –

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे,
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ।।

अर्थात् काले पर्वत के समान यदि स्याही या काजल हो, वह स्याही समुद्र के पात्र में घोल दी जाय, कल्पवृक्ष की शाखा ही लेखनी के रूप में प्रयुक्त हो, सारी पृथ्वी लिखने के लिए कागज बने और स्वयं भगवती सरस्वती अनन्त काल तक यदि लिखती रहें तो भी हे प्रभो ! आपके गुणों का पार पा जाना असंभव है। ऐसी घटना के संभव न होने के कारण इस उक्ति का तात्पर्य यही निकलता है कि भगवान् के गुणों की सीमा है ही नहीं। यहाँ भी ठीक उसी शैली का प्रयोग किया गया है कि यदि आकाश में सहस्र सूर्य एक साथ निकल आवें तो उनका सम्मिलित प्रकाश उस महात्मा की थोड़ी आभा दे सकता है। इसका तात्पर्य भी यही है कि चूंकि ऐसी घटना संभव ही नहीं है अतः विश्वरूप का वह तेज वस्तुतः निरूपम है। भगवान् के तेज की कोई समानता लोक और वेदशास्त्रों में दिखाई सुनाई नहीं देती। परन्तु इस वर्णन से भी भगवान् के तेज की समानता का निश्चित पता मिल जाना संभव है क्योंकि सहस्त्र सूर्यों की सम्मिलित कान्ति यदि उस रूप का थोड़ा आभास दे सकती है तो लाख दो लाख या इससे अधिक सूर्यों की कान्ति के समान कान्ति से विश्वरूप की सिद्धि हो जाती है, इससे विश्वरूप की कान्ति की अपरिमेयता स्पष्ट हो जाती है। भगवान् के तेज को अपरिमित कहने का तात्पर्य यदि यह होता कि वह हम लोगों की दृष्टि से अपरिमित है तब तो एक सहस्र सूर्य की कान्ति के उदाहरण से काम चल जाता, परन्तु शास्त्रों ने आपेक्षिक दृष्टि से नहीं अपितु वास्तविक दृष्टि से भगवान् के तेज को अपरिमित बतलाया है। अतः यहाँ व्याख्याकारों ने सहस्र शब्दों को अनन्त का ही वाचक माना है दशशत संख्या का नहीं। सहस्र शब्द की अनन्तता का संकेत हम पूर्व प्रवचन में कर चुके हैं कि प्राचीन वाङ्मय में सहस्र शब्द का अपरिमित संख्या के अर्थ में अनेकत्र प्रयोग देखा गया है। उसी शैली से यहाँ भी व्याख्या समझनी चाहिए।

इस विलक्षण तेज के वर्णन पर किसी टीकाकार ने यह लिखा है कि यहाँ अर्जुन को भगवान् से अपने मायातीत विशुद्ध रूप का दर्शन कराया अर्थात् यहाँ अर्जुन को निर्विशेष ब्रह्म का दर्शन हुआ क्योंकि वही शुद्ध ब्रह्म विशुद्ध तेजरूप माना गया है, वह केवल तेज रूप से ही शास्त्रों में वर्णित है। परन्तु वामन नामक विद्वान् टीकाकार ने इस मत का विस्तार से खण्डन किया है। उनका कहना है कि यहाँ के तेजोवर्ण से यहाँ शुद्ध परब्रह्म का दर्शन मानना संगत नहीं, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म तो कथमपि चक्षु का विषय बन ही नहीं सकता। यह रूप तो माया विशिष्ट ब्रह्म का ही रूप हो सकता है, इसमें जिस तेजःपुञ्ज का वर्णन प्रकान्त हुआ है वह प्रकृति के गुणत्रय में सत्त्वगुण का ही रूप है। सत्व का रूप प्रकाशमय, रजोगुण का क्रियामय और तम का घना आवरण माना गया है, उसी के आधार पर यहाँ रज और तम से असंस्पृष्ट शुद्ध सत्व

के प्रकाश का वर्णन है। यदि यह विशुद्ध ब्रह्म का वर्णन होता तो वह तो सर्वथा निर्गुण निराकार रूप से शास्त्रों में उपवर्णित हुआ है, यहाँ तो उसके अनेक मुख और नयनों का वर्णन पहिले किया जा चुका है तब यह विशुद्ध परब्रह्म का वर्णन कैसे हो सकता है। परब्रह्म का दर्शन तो चक्षु के द्वारा नहीं हो सकता ? इस पर यदि यह कहा जाय कि प्राकृत नेत्रों से परब्रह्म का दर्शन न मानने पर भी दिव्यनेत्रों से तो उसका दर्शन हो ही सकता है, इसीलिए यहाँ भगवान् ने अर्जुन को दिव्यनेत्र प्रदान किये हैं, तब भी यदि परब्रह्म का दर्शन नहीं हुआ तो दिव्यनेत्रों का प्रदान भी निष्फल ही हुआ ? इसका उत्तर देते हुए उस व्याख्याकार ने लिखा है कि दिव्यनेत्रों का ही यह फल है कि अर्जुन भगवान् के सूक्ष्मशरीर में एकत्र अवस्थित सभी चराचर को देख सका। वह त्रिगुणात्मक सूक्ष्मजगत् ही है, विशुद्ध ब्रह्म तो किसी भी प्रकार के नेत्रों से दर्शन की योग्यता से सर्वथा बहिर्भूत है।

श्रीरामानुज आदि अनेक व्याख्याकार पूर्व श्लोक–सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्" में आये देवशब्द का अर्थ प्रकाशमान करते हैं और उसके प्रकाशमानता के विवरण के रूप में प्रस्तुत पद्य को लेते हैं। आधुनिक धर्म प्रवक्ता इस पद्य के आधार पर गीता की स्तुति भी किया करते हैं कि ज्ञान के अनन्त आकाश में गीता का भी वही तेज है जो कि अनन्त आकाश में भगवान् के विश्वरूप का। गीता में प्रतिपादित विज्ञान का अन्त भी सहस्रों व्याख्या होने के अनन्तर भी आज तक नहीं मिल पाया। अस्तु, यह एक प्रसंगागत कथन है। (१२)

आगे के पद्य में कहा गया है कि – "देवाधिदेव भगवान् के उस विश्वरूप में एक न एक स्थान पर अर्जुन ने सम्पूर्ण संसार को अनेक रूपों में प्रविभक्त देखा"। पद्य में कहा गया 'तत्र' पद पूर्व वर्णित विश्वरूप का परामर्शक है, उसी विश्वरूप में सारा विश्व दिखाई दिया जो अनन्त आयाम तक विस्तृत था, जिसमें अनन्त बाहुएँ, अनन्त उदर, अनन्त नेत्र थे, जिसका तेज अपरिमित था, जो अपरिमित दिव्यआभरण और आयुधों से युक्त था, उसी दिव्यरूप में ब्रह्मा आदि अनेक देव, तिर्यक्, मनुष्य, स्थावर आदि, पृथिवी अन्तरिक्ष पाताल आदि स्थान, भोग्य भोगों के विभिन्न उपकरणों से युक्त प्रकृति पुरुषात्मक जगत् दिखाई दिया। जैसे मृत्तिका भक्षण काल में अपने मुख के एकदेश में विस्तृत चतुर्दशलोक यशोदा को दिखाई दिये थे, वैसे ही इस रूप के भी एकदेश में समस्त जगत् दिखाई दिया। महात्म्यदर्शन के बिना भक्ति दृढ़ नहीं हो पाती, इसलिए पार्थ को भगवान् ने कृपापूर्वक इस दिव्यरूप का दर्शन कराया। यशोदा को दर्शन कराते समय तो शीघ्र ही उन्होंने अपने महात्म्य का प्रेमाधिक्य के कारण संवरण कर लिया। वल्लभाचार्य के अनुसार यशोदा को दर्शन कराना शुद्ध पुष्टि महात्म्य था और यहाँ अर्जुन को दर्शन देते समय मर्यादापुष्टि थी।

श्रीनीलकण्ठ ने इस पद्य की हृदय में भगवान् के ध्यान की प्रक्रिया को प्रदर्शित करते हुए व्याख्या की है। चतुर्भुज भगवान् के ध्यान में पहिले चित्त को भगवान् के रूप सौंदर्य में लगाया जाता है, तदनन्तर उनके मुखारबिन्द या उनके स्मित में चित्त केन्द्रित होता है, फिर उसे भी छोड़ कर चित्त विश्वरूप पर आरूढ़ हो जाता है। उन्होंने मन को ही दिव्यचक्षु माना है और अपनी इस उक्ति के समर्थन में छान्दोग्य उपनिषद् का "मनोऽस्य दैवं चक्षुः" यह उद्धरण भी दिया है। (१३)

उस परम विलक्षण रूप को देखकर भी अर्जुन के मन में कोई भय का आवेग उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी आँखों में कोई चकाचौंध भी उत्पन्न नहीं हुई, विमूढ़ होता हुआ वह कर्तव्य ज्ञान शून्य भी नहीं हुआ, उस स्थान को छोड़कर कहीं गया भी नहीं, अपितु एक कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान रखने वाले धीर पुरुष की भाँति उसने व्यवहार किया। उसका रोम-रोम उस रूप को देखकर हर्ष से खिल उठा ! अपने नेत्रों के सामने उस महान् रूप को देखकर अर्जुन ने भक्तिभाव से सिर झुका कर प्रणाम किया और दोनों हाथों को अञ्जलिबद्ध करके स्तुति करने लगा। (१४)

●

चालीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंधान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरागांश्च दिव्यान् ।।१५।।
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ।।१६।।
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ।।१७।।
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ।।१८।।
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ।।१९।।
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ।।२०।।
अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ।।२१।।
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनो मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ।।२२।।

विश्वरूप को देखने के बाद अर्जुन ने सभक्ति प्रणाम करके जो कुछ देखा उसे कहना प्रारम्भ कर दिया। आगे के सोलह पद्यों में वह कहता है "हे देव ! मैं आपके शरीर में देवताओं, समस्त विशेष भूतों के समूहों, कमलासनस्थ ब्रह्मा, शंकर, ऋषियों और समस्त दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।" यहाँ सबसे पहिले देवताओं को कहने का तात्पर्य यही है कि देवता साधारणतया प्रत्यक्ष नहीं होते। अनेक प्रकार के कठिन जप तप अनुष्ठान आदि से कभी-कभी किसी-किसी को देवताओं का प्रत्यक्ष और उनसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होने की कथाएँ पुराण आदि में प्राप्त होती हैं, परन्तु वह एक बहुत

कठिन मार्ग है, देवपद मनुष्यों के लिए सर्वदा से स्पृहणीय भी रहा है, यज्ञ यागादि स्वर्ग जाकर देवपद प्राप्ति के उद्देश्य से ही विहित हैं। अतः उन सभी देवताओं को विश्वरूप में प्रत्यक्ष देखकर अर्जुन ने सर्वप्रथम उन्हीं का नाम लिया। इसके अतिरिक्त स्थावर, जङ्गम और उद्भिज, अण्डज, स्वेदज, जरायुज आदि प्राणियों को उनके स्थानों सहित अर्जुन ने देखा। कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को भी देखा, यद्यपि देवताओं में ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, परन्तु वही सृष्टि के उत्पादक हैं अतः उनका दर्शन अन्य देवों से भी अधिक महत्व रखता है, इसलिए उनका पृथक् निर्देश हुआ है। देवता तीन प्रकार के माने जाते हैं, यह हम गीता के तृतीय अध्याय के दशम श्लोक की व्याख्या में कह आए हैं। भगवान् के शरीर में तो स्थूल सूक्ष्म सभी प्रपंच रहता है इसलिए अर्जुन ने तीनों ही प्रकार के देवताओं को देख लिया। प्राणरूप में ब्रह्मा पृथिवीमण्डल के चारों तरफ फैलने वाला "चितेनिधेय" नाम का प्राण कहा जाता है। वही पृथिवी के सब जीवधारी शरीरों का उत्पादक है एवं चारों ओर फैलता है इस कारण उसे चतुर्मुख कहा जाता है। अथवा चारों वेद उसी के मुख से निकलते हैं इसलिए भी चतुर्मुख कहा जा सकता है एवं लोकाधिष्ठातारूप में सत्यलोक का अधिष्ठाता अधिपति ब्रह्मा कहा जाता है, वही सत्यलोक नीचे के सब लोकों का उत्पादक है इसलिए वह भी सबकी सृष्टि करने वाला कहा जाता है। पूर्व व्याख्या के अनुसार पृथिवी ही कमल है जैसा कि पद्मपुराण में कहा गया है कि –

एतदेव महापद्ममुद्भूतं यन्मयं जगत् ।
तत् वृत्तान्ताश्रयं यस्मात् पाद्ममित्युच्यते बुधैः ।

अर्थात् यह दीखने वाली पृथिवी ही महान् पद्म है, इसका वृत्तान्त इस पुराण में है इसलिए इसे पद्मपुराण कहा जाता है। दूसरी व्याख्या के अनुसार यह दृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही कमल है, इसके ऊपर विराजमान रहने से ब्रह्मा कमलस्थित कहलाता है, वह भी चारों दिशाओं का अवलोकन करता है इसलिए चतुर्मुख कहा जाता है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार ये दोनों ब्रह्मा एक ही हैं। ब्रह्माण्ड के मध्य में विराजमान सूर्य हिरण्य नाम से कहा जाता है इसलिए ब्रह्मा को हिरण्यगर्भ नाम से भी श्रुतियों में कहा गया है–जैसा कि मन्त्र है –

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं द्यामुते मां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।"

(यजुर्वेद-१३-५)

अर्थात् सबसे पहिले हिरण्यगर्भ ही प्रकट हुआ। वही सब भूतों का अधिपति है और स्वर्गलोक पृथिवी आदि सब लोकों का वही धारण करता है, उसके लिए हम लोग यज्ञ में हवि प्रदान करते हैं। मनुस्मृति में भी यही कहा गया है –

ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो व्यंजयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ।।

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में जब सब अन्धकार ही था तब उस अन्धकार को हटाने के लिए सबसे पहिले स्वयंभू प्रकट हुआ, वही स्वयं अप्रकट रहता हुआ भी सबको प्रकाशित करता है और सब महाभूतों के आदि में वही प्रकट हुआ है। इस प्रकार के ब्रह्मा का भी अर्जुन ने भगवान् के शरीर में दर्शन किया। सृष्टि के संहारक भगवान् शंकर और ऋषिगणों का दर्शन भी बड़े महत्व की बात है। शंकर भगवान् के लिये ईश और ईशान शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य में सुप्रसिद्ध है, कुछ व्याख्याकार ब्रह्मा को विष्णु के नाभिकमल में स्थित देखा–ऐसा अर्थ करके ईशशब्द से विष्णु भगवान् का ही ग्रहण मानते हैं तथा अन्य व्याख्याकार ईशशब्द से यहाँ शंकर का ही ग्रहण करते हैं। किन्तु भगवान् कृष्ण विष्णु के ही पूर्णावतार हैं अतः वे स्वयं ही विष्णुरूप हैं, ब्रह्मा का भी पृथक् ग्रहण हो ही चुका है तब शंकर भगवान् का ईशशब्द से संग्रह यहाँ उचित है, क्योंकि देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और शंकर ही मुख्य हैं। ऋषिगण सृष्टि के प्रमुख तत्त्व हैं और उन तत्त्वों का समाधि में साक्षात्कार करने वाले मनुष्यरूपधारी भी ऋषि हैं, जिनका विस्तृत विवरण गुरुवर विद्यावाचस्पति मधुसूदन जी ओझा के 'महर्षिकुलवैभव' नामक ग्रंथ में किया गया है और उस ग्रंथ की संस्कृत और हिन्दी व्याख्या में भी मैंने सविस्तार ऋषित्व का विवरण प्रस्तुत कर दिया है। वेदमन्त्रों के द्रष्टा और संसार में ज्ञान विज्ञान की ज्योति के आदिप्रकाशक ऋषि ही हैं। भारतीय सभ्यता में ऋषियों का विशेष आदर सर्वदा से ही रहा है, उन ऋषियों को भी यहाँ विश्वरूप में अर्जुन ने प्रत्यक्ष देखा। अनन्त और वासुकि दिव्य सर्प हैं, अनन्त तो अपने सहस्र फणों पर समस्त पृथिवी को धारण किये हुए हैं और वासुकि स्वर्गस्थित दिव्य सर्प हैं। पुराणों की आख्यायिकाओं में इनका सर्वत्र वर्णन मिलता है, हमने अपने अन्य पुराण सम्बन्धी ग्रंथ में इनका तात्त्विक विवेचन किया है। गीता के पूर्व विभूति अध्याय में भी हम इन सर्पों का भेद बतला चुके हैं। (१५)

आगे अर्जुन कहता है कि "हे विश्वरूप विश्वेश्वर मैं आपका वह रूप देख रहा हूँ जिसमें अनेक भुजाएँ, अनेक उदर, अनेक मुख और अनेक नेत्र हैं, आपके रूप सभी ओर से अनन्त दिखाई दे रहे हैं, आपका न तो आदि ही मुझे दिखाई दे रहा है,

न कोई मध्य आपका मैं देख रहा हूँ और न अन्त ही आपका मुझे लक्षित हो रहा है।" यहाँ "सर्वत:" पद को 'पश्यामि' के साथ लगाकर 'सर्वतः पश्यामि' ऐसी व्याख्या भी कुछ व्याख्याकारों की है। जो अनन्त है वह तो सर्वतः अनन्त होगा ही, अतः उसके लिये 'सर्वतः अनन्त रूपम्' यह यथाश्रुत अन्वय उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। 'सर्वतः पश्यामि' ऐसा अन्वय करने पर "मैं आपको सब ओर से देख रहा हूँ–यह बात फलित होती है, इससे यह भी निष्कर्ष निकल आता है कि अर्जुन को भगवान् ने जो दिव्यदृष्टि प्रदान की, उसका फल उसे यह प्रत्यक्ष मिला कि भगवान् के अनन्त रूप को भी उसने सभी ओर से अपने दिव्यनेत्रों से देख लिया। आगे आदि मध्य और अन्त को मैं नहीं देख रहा हूँ–इस कथन से यह न समझ लिया जाय कि बहुत सी बातें वास्तविक सत्ता रखती हुई भी सूक्ष्मता आदि के कारण दिखलाई नहीं देती, अतः यहाँ भी वास्तविक आदि मध्यान्त तो हैं, परन्तु अर्जुन को दिखाई नहीं दिये–यह बात नहीं है। जिस अर्जुन को दिव्यदृष्टि प्राप्त हो चुकी उसे सभी कुछ दिखाई देगा, जो होगा ही नहीं वहीं नहीं दिखेगा, इसीलिए आगे विश्वेश्वर, विश्वरूप, यह सम्बोधन भी साभिप्राय है और पूर्वार्ध में इसीलिए "अनन्तरूपम्" भी कहा गया है कि विश्वरूप में अनन्तता स्वाभाविक है औपाधिक नहीं। आदि और अन्त का पता लग जाने पर ही मध्यभाग का ज्ञान होता है, जब आदि और अन्त का ही ज्ञान नहीं तब मध्य का ज्ञान कैसे हो, इसीलिए यह स्पष्टार्थ कथन है। (१६)

विश्वरूप में जितने मस्तक हैं सब पर किरीट अर्थात् मुकुट सुशोभित हैं, जितने हाथ हैं उनमें गदाचक्र आदि आयुध हैं, वह विश्वरूप तेज की राशि ही है, सभी ओर से वह प्रकाशमान हो रहा है, चारों ओर से तेज की तीव्रता के कारण उसे देखने से भी अर्जुन असमर्थ हो रहा है, वह प्रज्वलित प्रचण्ड अग्नि अथवा प्रकाशमान सूर्य के समान है। उस रूप का निश्शेष ज्ञान किसी को होना संभव नहीं है अतः वह अप्रमेय है।

किरीटी शब्द से उस रूप के मस्तक का ज्ञान होने के कारण और मस्तक के सर्वोच्चस्थित रहने के कारण वह रसात्मक भाग है, गदाचक्र आयुधों से युक्त भाग समस्त प्राणों के आधिदैविक धर्मों के निर्धारण करने वाला है, जब उस रूप को प्रदीप्त अग्नि और सूर्य के समान बतला दिया तो वह अप्रमेय अर्थात् ज्ञान का अविषय कैसे रहा और पहिले के पद्य में सहस्त्रों सूर्यों का प्रकाश भी उस रूप का आभास ही दे सकता है, इस कथन के अनन्तर फिर एक सूर्य या अग्नि की उस रूप की तुलना कहाँ तक संगत कही जा सकती है, यह पूर्वापर विरोध प्राप्त होता है ? उसके अनेक उत्तर टीकाओं में मिलते हैं। "दीप्तानलार्कद्युति" इस पद में कोई संख्या विवक्षित न होने से कोई विरोध नहीं रह जाता, यह एक समाधान है, इसलिए यहाँ भी अनन्तसूर्य

और अनन्त अग्नि को समझा जा सकता है। यद्यपि स्वरूपतः उसका तेज अनन्त है परन्तु निदर्शन के लिए प्रदीप्त अग्नि और सूर्य को बतलाया गया है, सादृश्य एक देश में ही हुआ करता है, सादृश्य ज्ञान से कभी वस्तु का पूर्ण परिचय नहीं मिला करता, वह तो संकेतमात्र करता है, वैसे ही प्रदीप्त पावक और प्रकाशमान सूर्य विश्वरूप के संकेतमात्र हैं, स्वरूपतः तो वह अनन्ततेजोयुक्त है–यह दूसरा समाधान है। "समन्तात्" पद को "दुर्निरीक्ष्यम्" के साथ न जोड़ कर "दीप्तानलार्कद्युतिम्" के साथ जोड़ देने पर "समन्ताद् दीप्तानलार्कद्युतिम्" अर्थात् चारों ओर से यह विश्वरूप प्रदीप्त अग्नि और प्रकाशमान सूर्य के समान कान्ति वाला है, ऐसा अन्वय मान लेने पर भी उक्त शंका नहीं रह जाती। (१७)

अर्जुन कहता है–"आप अक्षर हैं, आप परम ज्ञातव्य हैं, इस संसार के आधार आप ही हैं, आप अव्यय हैं, अनादि धर्मों के रक्षक आप सनातन पुरुष हैं–ऐसा मेरा विश्वास है।

उपनिषदों में परा और अपरा दो विद्याएँ ज्ञातव्य रूप से बतलाई गई हैं, उन विद्याओं में परम अक्षरस्वरूप से ईश्वर का ही प्रतिपादन है, अतः उपनिषत्प्रतिपादित विद्याओं के द्वारा ज्ञातव्य भी ईश्वर ही है। उपर्युक्त पद्य में परमवेदितव्य अक्षर कहकर भगवान् को सारे विश्व का उत्पादक बतलाया, समस्त विश्व का परमनिधान कहकर विश्व की मोक्षावस्था में ईश्वर में ही लय बतलाते हुए उसे ही संसार का लय रूप भी बतलाया और "शाश्वतधर्मगोप्ता" कहकर विश्व की स्थिति का कारण भी परमेश्वर को ही बतलाया। इस प्रकार अर्जुन ने उस रूप के आकार का वर्णन करने के अनन्तर उस रूप का क्या तत्त्व समझा–यह भी बतला दिया। भक्ति के आचार्य सनातन पुरुष से यदुवंशी भगवान् कृष्ण का अर्जुन का सहचारी रूप लेते हैं।

पहिले परमब्रह्म को अक्षररूप बतलाया, यहाँ भी स्थूलादि गुणों से रहित अक्षरब्रह्म आप ही हैं–यह पूर्व से एक वाक्यता बन जाती है, निर्गुण अक्षर ब्रह्म भी सगुण रूप के आधार पर ही शाखाचन्द्र न्याय से गृहीत होता है, यह विश्वरूप भी उसी न्याय से गुण रहित परब्रह्म का ज्ञान कराता है, परब्रह्म वेदान्त आदि से ज्ञातव्य ही है, उपास्य वह नहीं है, गुण धर्मों के बिना उपासना नहीं बन सकती। अक्षर शब्द से परब्रह्म का कथन करके विश्व के निधान के रूप में सगुण ब्रह्म का ही कथन किया, अर्थात् आप ही परब्रह्म हैं और आप ही सगुण रूप से उपास्य बन रहे हैं। "शाश्वतधर्मगोप्ता" पद से हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म बतलाया, सनातन पुरुष का अर्थ चिरन्तन जीवात्मा है वह भी आप ही हैं–यह श्रीनीलकण्ठ की व्याख्या है। (१८)

"आदि, मध्य और अन्तरहित, अनन्त पराक्रम से युक्त चन्द्रमा और सूर्य जिसके नेत्ररूप हैं, प्रदीप्त अग्नि जिसके मुख में स्थित है और अपने तेज से जो सम्पूर्ण संसार को प्रतप्त कर रहा है ऐसे आपके रूप को मैं देख रहा हूँ।"

यह पद्य पूर्व पद्य के अर्थ से समानता रखता है। एक व्याख्याकार पूर्व पद्य से पुरुषोत्तमरूप और इस पद्य से विश्वरूप का वर्णन मानते हैं। सूर्य और चन्द्र को इसमें नेत्र कहा गया है, यह यहाँ पूर्व से नया कथन है। श्रीरामानुजाचार्य ने उपर्युक्त दोनों पद्यों के सारांश के रूप में लिखा है कि–भगवान् सबके स्रष्टा, सबके आधार, सबके प्रशासक, सबके संहर्ता, ज्ञान आदि अपरिमित गुणों के सागर, आदि मध्यान्त रहित हैं, उनका अर्जुन ने साक्षात्कार किया। अनन्तबाहु का अनन्तक्रिया शक्ति सम्पन्न अर्थ ही अभीष्ट है। प्रदीप्त अग्नि के मुख में होने के वर्णन से विश्वरूप के मुखस्थित दाँत बहुत प्रकाशमान थे–ऐसा तात्पर्य भी निकलता है। (१९)

"स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य का यह अन्तरिक्ष और सारी दिशाएँ अकेले आपके द्वारा ही व्याप्त हो रही हैं। आपका यह अद्भुत उग्र रूप देखकर हे महात्मन् तीनों लोक व्यथा को प्राप्त हो रहे हैं।" सारी दिशाओं के अन्तराल का विश्वरूप के द्वारा व्याप्त होना उसकी अपरिमित विशालता और असीम तेजोमयता का द्योतक है। ऐसे विशाल और तेजोमय रूप का साक्षात्कार होने पर त्रिलोकी का व्यथित हो जाना स्वाभाविक ही है! यहां यह प्रश्न उठता है कि संजय और अर्जुन के अतिरिक्त अन्य किसी के पास विश्वरूप दर्शन के योग्य दृष्टि ही जब नहीं थी तब त्रिलोकी को उस रूप का दर्शन ही कैसे हुआ और उस रूप के दर्शन से व्यथा कैसे हुई ! इसका समाधान यह है कि विश्वरूप के अन्तर्गत जिस त्रैलोक्य का अर्जुन को प्रत्यक्ष हो रहा था वही त्रिलोकी उस रूपदर्शन से व्यथित हो रही थी। यदि कहा जाय कि विश्वरूप के अन्तर्गत जो त्रिलोकी है वह तो सदा ही भगवान् का दर्शन करती रहती है, फिर उसे व्यथा क्यों हुई ! तो इसका उत्तर होगा कि उस समय भगवान् ने कालरूप धारण कर अर्जुन को दिखाया था, इस कारण से यह नई बात देखकर उनके स्वरूप में प्रविष्ट त्रिलोकी का भी व्यथित होना स्वाभाविक है। दूसरी बात यह है कि स्वयं अर्जुन भी उस रूप को देखकर घबड़ा गया था। उसने अपनी ही चित्तवृत्ति को सब जगह प्रतिबिम्बित देखा, उसी से उसे सारा त्रैलोक्य व्यथा से युक्त प्रतीत हुआ। (२०)

ये देवसमूह आप में प्रवेश कर रहे हैं, कुछ डर के मारे अञ्जलियाँ बांधकर आपकी शरण में जा रहे हैं, महर्षियों और सिद्धों के समूह स्वस्ति वाचन पूर्वक बड़ी बड़ी स्तुतियों से आपको प्रसन्न कर रहे हैं।

श्रीशंकराचार्य ने इस पद्य के वर्णन के द्वारा प्रथमाध्याय में अर्जुन की इस शंका

का कि—युद्ध में विजय हमारा होगा या हम ही विपक्षियों के द्वारा जीत लिए जायेंगे, उत्तर कहा है। उनका अर्थ है—भूमि के भार को उतारने के लिए देवगण ही मनुष्यरूप धारण करके राजा आदि के रूप में पृथ्वी पर आये थे, वे ही संग्राम में मृत्यु को प्राप्त करके पुनः देवभाव को प्राप्त होने पर आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कुछ भागने में भी असमर्थ होने के कारण अञ्जलि बांधे हुए हैं। अनेक प्रकार के उत्पातों की सूचना प्राप्त करने वाले महर्षि और सिद्धगण उत्पात शमन के लिए आपकी स्तुति कर रहे हैं। इससे प्रस्तुत संग्राम में केवल पाण्डवों की ही विजय होगी—यह निश्चित रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। पहिले हम कह आये हैं कि स्थूल जगत् में प्रतिबिम्बमात्र प्रत्यक्ष हो जाया करता है, उसी के अनुसार आगे होने वाले पाण्डव पक्ष के विजय और प्रतिपक्षी योद्धागण के विनाश को यहाँ पहिले ही देख लिया गया। (२)

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यदेव, विश्वदेव और अश्विनी कुमार, मरुद्गण और पितृगण तथा गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धों के संघ सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं।

देवों के तैंतीस भेदों में आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य ये इकतीस कहे जाते हैं। अन्य दो में भिन्न भिन्न मत हैं, कहीं कहीं अश्विनी कुमार लिखे हैं, कहीं इन्द्र और प्रजापति कहे गये हैं। उनमें आठ वसुओं के विवरण वृहदारण्यक उपनिषद् के जनक यज्ञ प्रसङ्ग में शाकल्य के प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने बताए हैं—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा और नक्षत्र ये आठ वसु हैं। वसुशब्द का निर्वचन वहाँ यह किया गया है कि जिनमें सब निवास करते हैं। वसुशब्द का धन अर्थ प्रसिद्ध है, वह भी इनमें ही रहता है। ग्यारह रुद्र वहाँ आध्यात्मिक बतलाये गये हैं जो कि पुरुष के शरीर में दस इन्द्रियाँ और एक व्यावहारिक आत्मा इस रूप में रहा करते हैं। इनकी निरुक्ति यह है कि ये निकलते हुए सबको रुदन कराते हैं, इसलिए रुद्र कहे जाते हैं। बारह आदित्य बारह महीनों के अधिष्ठाता सूर्यमण्डलों को कहा गया है। इन्द्र सब देवताओं का राजा और प्रजापति सबके केन्द्र में रहने वाला प्राण विशेष है। पुराणों में इकतीस के नाम और ही प्रकार से मिलते हैं—रुद्र, उपेन्द्र, सविता, धाता, त्वष्टा, अर्यमा, इन्द्र, ईशान, भग, मित्र, पूषा ये आदित्यों के नाम हैं।

हर, अत्र्यम्बक, रुद्र, मृगव्याध, अपराजित, कपाली, भैरव, शम्भू, कपर्दी, वृषाकपि और बहुरूप ये एकादश रुद्रों के नाम हैं।

वर, ध्रुव, अधर, सोपमा, प्रभञ्जन, अनल, प्रत्यूष, प्रभास ये आठ वसुवों के नाम हैं। मरुत् उनचास प्रसिद्ध हैं, जिनका विवरण विभूतिप्रकरण में किया जा चुका है।

यह विश्वरूप केवल अर्जुन को ही विस्मित कर रहा हो ऐसी बात नहीं है, देवता और असुर जो मनुष्यों के लिए नाना प्रकार के आश्चर्यों के निधान हैं, वे भी इस रूप को देखकर आश्चर्यान्वित हो रहे हैं। मनुष्य के ऊपर की सृष्टि में जितने प्राणी हैं उनकी गणना इसमें आ गई है। मनुष्य मध्य की सृष्टि है। जो मनुष्य मृत होकर चन्द्रमण्डल के समीप स्थित रहते हैं वे पितर कहे जाते हैं। गन्धर्वदेव जातिविशेष हैं जो गायनकला में प्राचीन कथाओं में विख्यात है। यक्ष भी देवजाति विशेष है जिसका कि कुबेर अधिपति है। साध्य और सिद्ध भी देवाताओं के पृथक् पृथक् विभेद हैं। (२२)

●

इकतालीसवाँ-पुष्प

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ।।२३।।
नभः स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ।।२४।।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसंनिभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।२५।।
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ।।२७।।
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ।।२८।।
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृंद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ।।२९।।
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ।।३०।।
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ।।३१।।

हे महाबाहो ! अनेक मुखों और नेत्रों तथा अनेक भुजाओं, ऊरु प्रदेशों और पैरों तथा अनेक उदरों और अनेक द्रंष्ट्राओं से विकराल आपके इस महान् रूप को देखकर समस्त लोक और मैं घबड़ा गया हूँ।

किसी विकराल वस्तु को देखकर घबराहट होना स्वाभाविक है। अनेक मुखों के होने से यह ध्वनित किया कि आपका यह रूप सबको निगल जाने में समर्थ है, अनेक नेत्रों का होना इस बात को प्रकट कर रहा है कि आप सब कुछ देख रहे हैं।

बहुधा दुष्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य एकान्त अन्वेषण करते हैं और ऐसा मानते हैं कि उनके उस कार्य को कोई नहीं देख रहा होगा, परन्तु परमेश्वर के नेत्र चारों ओर फैले हुए हैं, वह प्रत्येक प्राणी के कहीं भी किये हुए समस्त शुभाशुभ कर्मों को प्रतिक्षण देख रहा है। यही भारतीय संस्कृति की वेदों से चली आ रही शिक्षा है कि हम दुष्कर्मों को एकान्त में सम्पन्न करते हुए सभी आँख वाले प्राणियों की आँखों से बच सकते हैं, परन्तु परमेश्वर के तो अनन्त नेत्र हैं, जिनकी यह विशेषता है कि उन नेत्रों से वह हमें देख रहा है, परन्तु हम उसे नहीं देख सकते। इसी शिक्षा के आधार पर चलता हुआ पुरुष बड़े से बड़े दुष्कर्म और आपत्तियों से बच जाता है। यदि परमेश्वर केवल देखने मात्र में समर्थ होता और इसके अतिरिक्त और कोई सामर्थ्य उसमें न होता तो उसका देखना अकिञ्चित्कर हो जाता। ऐसे भी बहुत से प्राणी हैं जो अपने सामने होने वाली घटनाओं को देखते रहते हैं, परन्तु उसके लिए कुछ भी प्रतीकार करने का सामर्थ्य उनमें नहीं होता। ऐसा प्राणियों का देखना किसी दुष्कर्म में प्रवृत्त मनुष्य को रोकने में समर्थ नहीं हो सकता, परन्तु परमेश्वर के विश्वरूप में जहाँ प्राणियों के क्रियाकलापों को देखने के लिए अनन्त नेत्रों का वर्णन है, वहीं उनकी उत्पथगामिता को समाप्त करने के लिए अनन्त भुजाएँ भी हैं। वे अपनी अनन्त क्रियाशक्तिसम्पन्न अनन्त भुजाओं से सबको पकड़ भी लेते हैं। उनके अनन्त ऊरु और चरण भी हैं जिससे दौड़ने का भी पूर्ण सामर्थ्य उनमें है। यदि कोई चाहे कि दौड़कर कहीं अन्यत्र पहुँच कर वह उनकी पहुँच के बाहर हो जायगा, सो बात भी नहीं है, वे दिग् दिगन्त में भी क्षण भर में पहुँच सकते हैं, वे जिसको चाहें निगल सकते हैं और उसको पचाने के लिए उनके स्वरूप में अनन्त उदर हैं जिनमें वे सब कुछ पचा सकते हैं। यह सब भय की पूर्ण सामग्री है, इसे देखकर यदि समस्त लोक और अर्जुन प्रव्यथित हो उठें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। (२३)

आगे अर्जुन कहता है कि पृथिवी स्थित होते हुए भी आकाश का स्पर्श करने वाले, प्रकाश से जगमगाते, अनेकों रूपों वाले, मुँह को फैलाए, जलती हुई सी चौड़ी चौड़ी आँखों वाले आपको देखकर हे विष्णो ! मेरा अन्तरात्मा अत्यन्त व्यथित हो गया है, मेरा धैर्य जवाब दे रहा है और मैं अशान्त होता जा रहा हूँ।

यहाँ अर्जुन ने अन्तरात्मा का व्यथित होना बतलाया है। यद्यपि सबके अन्तरात्मा रूप से सर्वत्र अवस्थित भगवान् स्वयं ही हैं, वे क्या व्यथित होंगे ? अर्जुन के अन्तरात्मा रूप से स्थित भगवान् और विश्वरूप को प्रकाशित करने वाले भगवान् एक ही हैं, तब अपना ही रूप देखकर व्यथा कैसी ? ऐसी शंका न हो इसलिए श्रीशंकराचार्य ने यहाँ अन्तरात्मा का अर्थ मन ही किया है। अन्तर्जगत् का संचालन होने से मन का

भी अन्तरात्मा शब्द से व्यवहार देखा जाता है और यहाँ भी विश्वरूप को देखकर अर्जुन की जो व्यथा है वह भी उसके मन को ही है, चैतन्यरूप से अनुप्रविष्ट आत्मा तो सर्वत्र एक ही है, उसे नहीं।

पद्य में विश्वरूप के लिए नभ का स्पर्श करने वाला कहा गया है, आकाश या नभ तो सर्वत्र व्यापक है, उसका स्पर्श तो सभी करते हैं, तब नभ का स्पर्श करना विश्वरूप की कौन सी विशेषता है ? इस शंका को समाहित करने के लिए श्रीरामानुजाचार्य यहाँ नभशब्द के अर्थ के रूप में उस व्योम को लेते हैं जो इस त्रिगुणात्मक आकाश के आगे का परमाकाश है, वह सर्वोच्च स्थित सूर्यलोक से भी बहुत आगे है। यही इस विश्वरूप की परमविशालता है कि पृथ्वी से परमाकाश तक वह विस्तृत है। अथवा नभशब्द से अर्जुन ने यहाँ वही बतलाया जो कि काला तवा-सा हमें ऊपर दिखाई दिया करता है और इसीलिए उस रूप को देखकर लोकत्रय व्यथित भी हो रहा है।

वल्लभसम्प्रदाय के अनुसार लिखी गई अमृततरंगिणी टीका में यहाँ अन्तरात्मा पद से चैतन्य ही लिया गया है और उसके भी व्यथित हो जाने से विश्वरूप की अत्यन्त भयजनकता मानी है। केवल आत्माधिष्ठित देह ही प्रव्यथित हो रहा हो–ऐसी बात नहीं, अपितु विश्वरूप भगवान् का अंशरूप जीवात्मा भी इस रूप को देखकर संत्रस्त हो उठा है। व्योमस्पर्शी होने से उस रूप के ज्ञान की असमर्थता प्रकट होती है। वह दीप्त है, इससे उसका केवल ध्यान में साक्षात्कार संभव है। अनेक वर्णों की स्थिति होने के कारण उसका निश्चित स्वरूप गृहीत हो रहा है। उसका मुख फैला हुआ है–इस कथन से वह प्रार्थना करने योग्य है–यह सूचित होता है। दीप्त और विशाल नेत्रों के कथन से उस रूप की भयावहता, अतएव भय के कारण उसके दर्शन की असमर्थता अभिव्यक्त हो रही है। विष्णो ! यह सम्बोधन भी रक्षा की प्रार्थना के रूप में प्रयुक्त हुआ है। (२४)

दंष्ट्राओं से विकराल कालाग्नि के सदृश आपके मुखों को देखकर मुझे दिशाओं का ज्ञान नहीं रह गया है, मैं अशान्त हो रहा हूँ, हे देवताओं के ईश ! जगत् के आश्रय भगवान् ! आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइये। (२५)

और अपने मित्रराजाओं सहित धृतराष्ट्र के ये सारे पुत्र, भीष्म, द्रोण, कर्ण हमारे पक्ष के धृष्टद्युम्न आदि प्रमुख योद्धाओं के साथ बड़ी बड़ी दाढ़ों से विकराल आपके मुखों में बड़ी शीघ्रता से प्रवेश कर रहे हैं, कुछ लोग तो दाँतों के बीच में ही मस्तकों के चूर्णित हो जाने के कारण लटकते दिखाई दे रहे हैं।

भूमि भार को हटाने के लिए भगवान् ने अवतार ग्रहण किया था। पृथ्वी पर

जितने दुष्ट राजागण थे वे असुरों के अंश थे, अतः उनका संहार इस महाभारत युद्ध में होना था। अर्जुन को भी इस युद्ध में आंशिक रूप से यह शंका अवश्य थी कि युद्ध में विजय किस पक्ष की होगी। पहिले के पद्य में संकेतरूप से यह विपक्षियों का संहार वर्णित हो चुका है, यहाँ धृतराष्ट्र के पुत्रों का नाम निर्देशपूर्वक वर्णन किया गया है, ये सब आगे घटित होने वाली घटनाएँ श्रीकृष्ण भगवान् के प्रसाद से अर्जुन ने दिव्यदृष्टि प्राप्त कर पहिले ही देख लीं। श्रीनीलकण्ठजी ने इन पद्यों में धृतराष्ट्र के पुत्रों का प्रवेश तो विश्वरूप के नीचे के प्रदेशों में जो कि नरक आदि लोक हैं उनमें माना है और भीष्म आदि जो भगवद्भक्त हैं उनका प्रवेश भगवान् के मुख में कहा है जिनसे अग्नि ब्राह्मण और वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। (२६-२७)

जैसे नदियों के जलों की बहुत सी वेगवती धाराएँ समुद्र की ओर ही बहती हैं वैसे ये सारे मनुष्य लोक के वीरगण आपके जलते हुए मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। (२८)

आगे के पद्यों में दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि–"जैसे अपने नाश के लिए पतङ्ग बड़े वेग से प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये योद्धागण अपने विनाश के लिए बड़े वेग से आपके मुखों में प्रवेश कर रहे हैं। प्रथम दृष्टान्त में नदियों के जल समुद्र में मिलते तो अवश्य हैं, परन्तु उनके स्वरूप का नाश नहीं होता, समुद्र के जल के रूप में उनकी स्थिति रहती है, जल के वे वेग अल्पता को छोड़कर भूमा भाव को प्राप्त हो जाते हैं, अतः इस उदाहरण से धर्मनिष्ठ और भगवद्भक्त होते हुए भी जो भीष्म द्रोणादि महारथीगण कर्तव्यबुद्धि से कौरव पक्ष का अनुसरण कर रहे हैं वे विश्वरूप में बिना किसी शोचनीयता को प्राप्त हुए विलीन हो रहे हैं–यह ध्वनित होता है तथा दूसरे पद्य से अधर्मनिष्ठ जो दुष्ट राजागण हैं वे अग्नि में शलभ के समान अपने स्वरूप को नष्ट करते हुए विलीन हो रहे हैं–यह इन दोनों दृष्टान्तों का संगमन युक्तियुक्त जाना पड़ता है। (२९)

"हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखों से चारों ओर से समस्त लोकों को ग्रास बनाते हुए उन्हें समाप्त कर रहे हैं। आपके शरीर से निकलने वाली उग्र कान्तियाँ अपने प्रकाश से समस्त जगत् को प्रपूरित करती हुई उसे प्रतप्त कर रही हैं।"

यहाँ विष्णो ! यह भगवान् का सम्बोधन है। यह बात प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा जगत् के उत्पादक हैं, विष्णु पालक और शंकर संहारक हैं। यहाँ विष्णु को जगत् का संहारक बतलाया गया है, इसका आशय यही है कि सत्वगुणप्रधान लोगों की निरापद स्थिति से ही जगत् का परिपालन होता है और सत्वगुणप्रधान व्यक्तियों की निरापद स्थिति तमोगुणप्रधान आसुरभाव से युक्त लोगों के विनाश के अनन्तर ही संभव है। अतः यहाँ

भी विश्व के सम्यक् परिपालन के लिए ही दुष्टों का विनाश विश्वरूप में दिखाई दे रहा है, भगवान् ने अपने कर्तव्यों में भी यही बात बतलाई है कि –

''परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे''

इनमें साधुओं का परित्राण जहाँ भगवान् ने अपना कर्तव्य बतलाया वहाँ दुष्टों के विनाश को भी उन्होंने अपने कर्तव्य में सम्मिलित कर लिया है, वस्तुतः दुष्टों के विनाश के बिना जगत् का परिपालन संभव ही नहीं है, इसीलिए भगवान् विष्णु के चरित्रों में सर्वत्र पुराणादि में असुरों का विनाश वर्णित होता रहा है। (३०)

यह भलीभांति जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण स्वयं परमेश्वर भगवान् हैं और उन्हीं का यह विश्वरूप है, इस परम विलक्षण रूप को देखकर मानो अर्जुन सब कुछ भूल गया, अथवा उसकी यह जानने की अभिलाषा जाग्रत हो गई कि भगवान् के अनन्तरूपों में यह कौन सा रूप है, इसीलिए आगे वह कहता है कि –

हे देववर, मेरा आपको प्रणाम है, आप प्रसन्न हों और कृपा कर मुझे बतलाएँ कि इतने उग्ररूप वाले आप कौन हैं ! अथवा हे कृष्ण ! यह इतना उग्र आपका कौन सा रूप है ! आप जो आदिपुरुष हैं उन्हें मैं जानना चाहता हूँ। आपकी चेष्टाओं के अभिप्राय को समझने में भी मैं असमर्थ हो रहा हूँ।

इस पद्य की व्याख्या में श्रीनीलकण्ठ तो यही मानते हैं कि इस भयानक और विशालतमरूप को देखकर अर्जुन यह सर्वथा भूल गया कि ये भगवान् कृष्ण हैं, अतः उसने ये पूछा कि आप कौन हैं ! परन्तु श्रीरामानुजादि ऐसा नहीं मानते। उनके विचार में अर्जुन अभी इतना व्यामूढ़ नहीं है कि वह भगवान् कृष्ण ही यह रूप मुझे दिखा रहे हैं–यह बात भूल गया हो, क्योंकि अभी पूर्व पद्य में ही उसने भगवान् को विष्णो, कह कर सम्बोधित किया है और इससे पहिले भी ''त्वमक्षरं परमंवेदितव्यम्'' इत्यादि पद्यों से इस रूप को भगवान् का ही रूप समझ कर उनके यथाज्ञात गुण धर्मों का परिचय दे चुका है, अतः यहाँ उसकी यह जिज्ञासा है कि आपके जिन धर्मों को मैं जानता हूँ उनके अतिरिक्त आपके इस रूप का क्या धर्म है, अर्थात् इस रूप से आप क्या कार्य लेते हैं। यदि अर्जुन के प्रश्न का यह आशय है तो उसे यही पूछना था, परन्तु अर्जुन के शब्द तो बतला रहे हैं कि वह इस रूप के धर्म को जानने का अभिलाषी बाद में हैं, उससे पहिले रूप ज्ञान की उसकी अभिलाषा है, तभी वह कह रहा है कि ''आप कौन हैं यह बतलाइये''। यदि स्वरूप को जानता हुआ धर्म को जानने की अभिलाषा वह प्रकट करता तो उसकी शब्दावली कुछ दूसरी ही होती ?

इसका उत्तर व्याख्याकार यह देते हैं कि अनेक बार हम व्यक्ति को जानते हुए भी, वह क्या काम करता है–इस बात को जानने के लिए "आप कौन हैं" या "आप क्या हैं" इन शब्दों का प्रयोग कर देते हैं। वहाँ हमारा प्रयोजन उस व्यक्ति के स्वरूप को जानने से नहीं, अपितु उसके कार्य को जानने से ही रहता है। उसी तरह यहाँ भी यद्यपि अर्जुन ने यह कहा कि "आप कौन हैं यह बतलाइये" परन्तु उसका अभिप्राय यही है कि आप इस रूप से क्या कार्य लेते हैं।

अर्जुन ने भगवान् के ऐश्वर्यमय रूप को देखने की अभिलाष की थी, उसकी कल्पना किसी मोहक छवि को देखने की रही होगी, इस परम विकराल रूप को देखने की तो संभवतः उसने कभी कल्पना न की होगी, परन्तु सन्दर्भ के अनुसार ही स्वरूप का दर्शन उपयुक्त जान कर युद्ध के प्राङ्गण में जहां सारे संसार के भारभूत प्रजापीड़क दुष्ट राजाओं का संहार प्रकान्त हो रहा है वहाँ उन्होंने अर्जुन को अपना अत्यन्त उग्र काल रुप ही दिखाया। इस समय इसी रूप के प्रदर्शन की आवश्यकता थी, क्योंकि एक तो अर्जुन युद्ध का परिणाम जानना चाहता था, वह परिणाम इसी रूप के द्वारा युद्ध-स्थल पर दिखाकर दिखाया जा सकता था और दूसरे हम पहिले लिख चुके हैं कि अर्जुन को दिव्य-दृष्टि देकर भगवान् ने उसे सूक्ष्म-प्रपंच देखने की योग्यता दे दी थी। सूक्ष्म-प्रपंच में इस समय लड़ाई, मारकाट ही हो रही थी, इसलिए वे ही रूप अर्जुन के सामने आए। इसीलिए आगे कालरूप से भगवान् ने अपना परिचय भी दिया है जो कि आगे लिखा जायेगा। (३१)

●

बयालीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।।३२।।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ।।३३।।
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।।३४।।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ।।३५।।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ।।३६।।
कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ।।३७।।
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ।।३८।।
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।।३९।।

मैं समस्त संसार का अन्त कर देने वाला बढ़ा हुआ या सर्वादि भूत अथवा परिपूर्ण काल हूँ। इस समय लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। सेनाओं में जो योद्धागण खड़े हैं, वे सब यदि तुम युद्ध के लिए उद्यत न भी होओगे तो भी जीवित नहीं रहेंगे।

यहाँ भगवान् ने अपने इस रूप को कालरूप बतलाया है। कालशब्द कल धातु से बना है। कल धातु के यद्यपि गणना करना, बांधना, छेदन करना, जानना आदि कई अर्थ हैं, तथापि संहाररूप काल के लिए गणनारूप अर्थ को मुख्यता दी जाती है। "कलयति गणयति लोकानामायुरिति कालः" अर्थात् जो आयु की गणना करे वह काल होता है। "प्रवृद्धः" का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने वृद्धि किया है, अर्थात् "मैं बढ़ा हुआ हूँ।" परन्तु आनन्दतीर्थ इस अर्थ को नहीं मानते। काल परमेश्वर का रूप है और उसकी उत्पत्ति विनाश और वृद्धि नहीं होती। अतः उन्होंने "प्रवृद्धः" का अर्थ प्रकर्षेण वृद्ध अर्थात् अनादि अथवा परिपूर्ण किया है। इस युद्ध में दुष्टों के संहार के लिए मेरी प्रवृत्ति हुई है—यह भी भगवान् ने बतलाया। इससे अर्जुन ने जो इस स्वरूप का परिचय और उसकी प्रवृत्ति के विषय में पूछा था उन दोनों बातों का उत्तर हो गया। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि कहीं तुम यह न समझना कि यदि मैं युद्ध में शस्त्र न चलाऊँगा तो परिणाम कुछ का कुछ होगा, ऐसा नहीं है, तुम चाहे युद्ध करो या न करो, परिणाम तो पूर्व निश्चित हो चुका है। जिन लोगों की आयु पूरी हो चुकी वे जिस सेना में भी खड़े हुए होंगे तुम्हारे शस्त्र चलाए बिना भी वे अपने आप मेरे मुख में आ चुके हैं।

"काल" शब्द पर विशेष वक्तव्य

विष्णुपुराण में भगवान् के चार रूप बतलाए गए हैं—पुरुष, प्रकृति, काल और व्यक्त। यहाँ भी भगवान् ने अपने को कालरूप ही बतलाया। इससे भी विष्णु की ही कालरूपता सिद्ध होती है।

दर्शन-शास्त्रों में भी कालशब्द पर बहुत कुछ विवेचन किया गया है। न्यायदर्शन में नौ द्रव्यों में से काल नाम का एक पृथक् द्रव्य ही माना गया है। इसके पृथक् द्रव्य मानने की वे यह युक्ति देते हैं कि "इदानीं घटः" (इस समय यह पदार्थ है या इस समय यह क्रिया हो रही है) इत्यादि प्रतीति सबको होती है। इस प्रतीति में "दानीं" प्रत्यय आश्रय अर्थ में ही हुआ है, इससे काल का द्रव्य, क्रिया आदि सबका आधार होना सिद्ध हो जाता है। इस पर कई वादियों का कथन है कि यहाँ "इदम्" शब्द का अर्थ—अतिरिक्त काल मानने की आवश्यकता नहीं। सूर्य की गति को "इदम्" शब्द का अर्थ मानने पर सूर्य की इस प्रकार की गति में अर्थात् सूर्य के इस स्थान पर रहने पर यह द्रव्य या क्रिया हुई—इस प्रकार सूर्य की गति को आधार मान लेने पर काम चल जावेगा। इसका न्यायशास्त्र में उत्तर दिया जाता है कि आधाराधेय भावसम्बन्ध होने पर ही हो सकता है। यहाँ सूर्य की गति के साथ इन संसार के द्रव्यों या क्रियाओं

का कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता। सूर्य की क्रिया सूर्य में रहती है और भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रिया भिन्न-भिन्न पदार्थों में। क्रिया भी अपने आश्रय में ही रहा करती है इसलिए इनका परस्पर सम्बन्ध जोड़ने के लिए कालरूप एक पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता है। जब काल नाम का एक पृथक् द्रव्य मानना ही पड़ा तब उसे ही जगत् के सब पदार्थों का आश्रय मान लेना ही युक्तियुक्त होगा।

सांख्य-दर्शन वाले न्यायदर्शन की इस युक्ति को नहीं मानते। वे कहते हैं कि जगत् के पदार्थ या क्रियाओं का सूर्य की गति के साथ चाहे वास्तविक सम्बन्ध न हो तो भी व्यवहार के लिए कल्पित सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है। सूर्य की गति तो अनुमान से सिद्ध होती है और वह क्षण आदि काल के छोटे मान का परिचय भी हमें नहीं दे सकती। इसलिए घड़ी आदि पदार्थों को भी कल्पना कर उनके साथ भी सब पदाथों का और पदार्थों की क्रियाओं का सम्बन्ध मनुष्य अपनी बुद्धि से ही जोड़ लिया करता है। प्राचीनकाल में भी जब घड़ी आदि मशीन से नहीं बनती थी तब भी समय के ज्ञान के लिए ऐसे पदार्थों की कल्पना कर ली जाती थी कि जिनसे समय का ज्ञान हो सके, जैसे कि एक किसी काँच के पदार्थ में परिमित रेत भर लिया करते थे और उसके भीतर ऐसे छिद्र बनाया जाता था कि एक ओर की रेत धीरे-धीरे गिरती हुई निश्चित समय में दूसरी ओर चली जाती थी। उससे ही घड़ी, घण्टे आदि का व्यवहार चला लिया करते थे। किसी बालक के जन्म के समय उसका इष्ट-काल जानने की बड़ी आवश्यकता होती है। उसी के आधार पर ज्यौतिष-शास्त्र के अभिज्ञ उसके जन्मभर का शुभाशुभ बतलाया करते हैं। इससे मानना होगा कि समय-ज्ञान की कोई न कोई प्रक्रिया बहुत पुराने समय से प्रचलित रही। अस्तु, इसी कल्पित सम्बन्ध से निर्वाह हो जावेगा फिर अतिरिक्त काल नाम का द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि वास्तविक सम्बन्ध ही आवश्यक माना जावे तो भी एक आकाश नाम का द्रव्य सबने ही मान रखा है जो कि सबका ही आधार है। उसमें जगत् के सब पदार्थ भी रहते हैं और समय की माप करने के लिए कल्पित सब वस्तुएँ भी उस आकाश में रहा करती हैं। इससे सबका एक जगह रहना रूप सम्बन्ध भी बन जावेगा तब काल नाम का एक पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं। यही बात –

''दिक्कालाकाशादिभ्यः''

इस सांख्य-सूत्र में कही गई है।

इस प्रकार न्याय-शास्त्र की मानी हुई युक्ति का सांख्य ने खण्डन किया। किन्तु आगे चलकर उसे भी काल नाम का एक पदार्थ मानने की आवश्यकता हुई। सांख्य

में माना जाता है कि प्रलय-दशा में प्रकृति में कोई क्षोभ नहीं होता। प्रकृति के सब गुण अपने ही रूप में परिणत होते रहते हैं। जब सृष्टि का समय आता है तो उनमें क्षोभ होकर एक गुण दूसरे गुण को दबाने लगता है। इसी से विषमता उत्पन्न होकर आगे संसार चल पड़ता है। यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि निस्तब्ध अथवा अपने ही रूप में परिणत होने वाले गुणों में यह नई शक्ति किसने पैदा की कि उनमें एक दूसरे को दबाने का विषम परिणाम होने लगा। यदि कहा जावे कि ईश्वर की इच्छा से ही ऐसा परिवर्तन हुआ तो एक तो सांख्य-दर्शन में ईश्वर माना ही नहीं जाता और यदि ईश्वर को मान भी लें तो भी ईश्वर के गुणज्ञान, इच्छा आदि सब नित्य हैं। उनमें भी परिवर्तन कैसे हुआ ? इसलिए काल ही एक ऐसा द्रव्य मानना पड़ेगा जो प्रकृति में क्षोभ कराकर विषमता उत्पन्न करता है। इस काल को सांख्य-दर्शन वाले प्रकृति का ही एक रूप मानते हैं और ईश्वर-सांख्य या योगदर्शन या पुराणों के अनुसार यह ईश्वर का ही एक रूप है जैसा कि पूर्व कहा गया है।

आगम-शास्त्रों में काल और महाकाल नाम से इसके दो भेद माने जाते हैं। महाकाल की ही शक्ति महाकाली मानी जाती है। कहीं आगम-शास्त्रों में ऐसा भी विवेचन मिलता है कि महाशक्ति के जो तीन परिणाम हैं-इच्छा, ज्ञान और क्रिया उनमें इच्छाशक्ति से ही महाकाल का प्रादुर्भाव होता है। सामान्य-काल तो वहाँ माया के पाँच कंचुकों में माना गया है। भगवान् परमशिव जब अपनी इच्छा से अणु-भाव प्राप्त कर जीव बनते हैं तब उनकी पाँच शक्तियाँ भी संकुचित रूप से जीव में प्राप्त होती है। वे ही माया के पाँच कंचुक कहे जाते हैं। परमशिव में जो सब कुछ करने का सामर्थ्य है वह जीव में कलारूप से प्राप्त होता है, अर्थात् जितनी कला की शिक्षा जीव ने पाई हो उतने कार्य यह जीव भी कर सकता है। परमशिव में जो सर्वज्ञता है वह विद्यारूप से जीव में प्राप्त है, अर्थात् मनुष्य जितनी विद्या पढ़े उतना ज्ञान इसे भी होता है। परमशिव में जो परमानन्द है वह मनुष्य आदि जीवों में रागरूप से प्राप्त होता है, अर्थात् जिसके साथ राग प्राप्त हो उसके सम्बन्ध से यह भी आनन्द प्राप्त कर लेता है एवं परमशिव में जो त्रिकालाबाध्य सत्ता है, अर्थात् सब समय रहने का सामर्थ्य है वह जीव को कालरूप में प्राप्त होता है, अर्थात् जितना काल जिसके लिए नियत है उतने काल तक वह भी जीवित रह सकता है एवं परमशिव में जो सर्वभवन सामर्थ्य अर्थात् सब रूपों में प्रकट हो जाने की शक्ति है वह जीवों में नियतिरूप से आती है, अर्थात् जितना आकार जिसका नियत है उतना यह जीव भी घट-बढ़ सकते हैं। जैसा कि वट पिप्पलादि वृक्ष बहुत बढ़ते हैं, पिपीलिका आदि छोटे प्राणी बहुत अल्प-मात्रा में ही बढ़ते हैं। इन कंचुकों में जो काल आता है वह महाकाल का ही एक अंश है।

सबका विचार करने से तत्त्व यही निकला कि सब पदार्थों में परिवर्तन कर देने वाली शक्ति ही महाकाल है। वही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करता है। उसे परमात्मा का रूप कह लीजिए या पराशक्ति का परिणाम समझ लीजिए, बात एक ही है। भगवान् कृष्ण ने यहाँ अन्य पुराणों के समान काल को अपना ही रूप बतलाया कि मैं कालरूप हूँ और यह मेरा रूप इस समय संहार के कार्य में लगा हुआ है। जैसा कि श्रीभागवत् आदि पुराणों में स्पष्ट है कि भूमि की पीड़ित दशा देखकर उसका भार उतारने के लिए ही भगवान् कृष्ण का यह प्रादुर्भाव था। "कालः कलयतामहम्" इन शब्दों से दशम अध्याय के विभूति प्रकरण में भी भगवान् कृष्ण काल को अपनी विभूति या अपना रूप बतला चुके हैं। यहाँ भी अपने को कालरूप उन्होंने इन्हीं कारणों से कहा। (२२)

आगे भगवान् कहते हैं कि–इसलिए तुम उठो, यश के भागी बनो, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके समृद्ध राज्य का भोग करो। तुम्हारे इन विपक्षियों को तो मैंने पहिले ही समाप्त कर दिया है। हे सव्यसाचिन् ! तुम इस कार्य में निमित्त मात्र बन जावो। सव्यसाचीशब्द का अर्थ है कि अर्जुन दाहिने की तरह वामहस्त से भी धनुष की प्रत्यंचा खैंच सकता था। यहाँ यह सम्बोधन देने का यह अभिप्राय है कि तुम बड़े योद्धा होने के कारण इस योग्य हो इसलिए मैं तुम्हें ही निमित्त बनाना चाहता हूँ। (२३)

भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि विश्वविख्यात महारथियों को भी इस वीर ने युद्ध में मार दिया, यह संसार में बड़ा भारी यश अर्जुन के हाथ लगेगा। इस युद्ध में समस्त शत्रुओं का संहार हो जाने के अनन्तर निष्कण्टक राज्य का उपयोग भी अर्जुन आदि पाण्डवों को ही करना है। जब इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष अपने विपक्षियों का संहार उसने विश्वरूप में देख लिया और भगवान् ने स्वयं अपने मुख से भी कह दिया तब तो जैसे शस्त्र किसी के मारने में निमित्त मात्र बनते हैं, वैसे ही अर्जुन आदि मारने वालों की भी स्थिति है। "द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्य भी जो वीर योद्धागण विपक्ष सेना में दिखाई दे रहे हैं, वे सब मेरे द्वारा, पहिले ही विनिहत हो चुके हैं, तुम उनको बिना कष्ट प्राप्त किये जीत लो, युद्ध में तुम ही शत्रुओं पर विजय प्राप्त करोगे।

अर्जुन युद्ध विद्या में बड़ा निपुण था। परन्तु इस महाभारत संग्राम में तो विश्व के सबसे बड़े महारथी लड़ने आये थे, उनमें जिनसे अर्जुन को भय था वे यही हैं जिनका भगवान् ने यहाँ नाम लिया है। किरातार्जुनीय महाकाव्य में वन में रहते हुए

पाण्डवों के पास भगवन् वेदव्यास के आने का वर्णन है। उन्होंने भी भीष्म द्रोण और कर्ण के ही पराक्रम का चित्रण किया है –

त्रिः सप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः
वीर्यावधूतस्य तथा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ।
यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्य इवान्तकोऽपि
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणः स भीष्मः ।
सृजन्तमाजाविषु संहती वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ।
समीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ।

अर्थात् इक्कीस बार राजाओं को मारने वाले और स्वयं भीष्म के गुरु परशुराम भी जिन भीष्म के पराक्रम से तिरस्कृत होकर गुणों का आधार के कारण ही अधिक होना समझ गए थे। जिन भीष्म पर अपना कोई अधिकार न होने के कारण यमराज उनसे लज्जित जैसा हो गया है, वह भीष्म जब खड़े होकर अपना धनुष संग्राम में प्रकंपित करें तब किसका मन एकमात्र से विह्वल न हो जायगा। संग्राम में बाणवर्षा करने वाले गुरु द्रोणाचार्य को तुम लोगों में से कौन सहन कर सकता है, जैसे कि जिस अग्नि की ज्वाला प्रकट हो रही हो और जो मानो प्रलयाग्नि के रूप में सम्पूर्ण जगत् को ग्रास बना लेना चाहता है ऐसे अग्नि को कोई सहन नहीं कर सकता, इसी प्रकार गुरु द्रोणाचार्य के पराक्रम को भी कोई सहन न कर सकेगा एवं जब क्रोध के कारण धैर्य को छोड़कर, परशुराम की आराधना करने वाला अर्थात् उनका शिष्य राधा का पुत्र कर्ण संग्राम में खड़ा होगा तब पूर्व अपरिचित भय में मृत्यु का भी पक्षपात हो सकता है अर्थात् मृत्यु भी उससे डर सकता है।

जयद्रथ से अर्जुन को कोई भय नहीं था, परन्तु उसके पिता की तपस्या से उसमें कुछ दैवी शक्ति का आधान हो गया था इसलिए यहाँ उसका भी नाम लिया गया है। महाभारत युद्ध में जब जयद्रथ के मरने का समय आया उस समय भगवान् कृष्ण ने ही अर्जुन को यह चेतावनी दी है कि जब जयद्रथ का जन्म हुआ उस समय आकाशवाणी हुई थी कि इसे संग्राम में महारथी मारेगा। उस समय इसके पिता ने अपनी योगशक्ति लगाकर उसे यह वरदान दे दिया कि जो इसका कटा हुआ शिर भूमि में पड़ता देखेगा उसका भी शिर उसी समय सौ टुकड़े हो जायेगा। इसीलिए भगवान्

की चेतावनी से अर्जुन ने उसका शिर जमीन में नहीं पड़ने दिया अपितु बाणों की परम्परा से दूर तक उड़ाया। इसके पिता कुरुक्षेत्र में ही सन्ध्योपासन कर रहे थे, उनकी अंजलि में ही वह शिर पड़ा और उन्होंने भूमि में पटक दिया इसलिए उनका ही शिर सौ टुकड़े हुआ। यह कथा महाभारत में लिखी गई है। ये सभी स्वतः काल के मुख में पहुँच चुके हैं। अतः ये शङ्का भी नहीं रहनी चाहिए कि पूजा के योग्य अपने इन गुरुजनों के साथ बाणों से युद्ध कैसे करूँ ? तुम्हें इन्हें नहीं मारना है, इन्हें तो मैंने पहिले ही मार दिया है। (३४)

संजय कहता है कि –

केशव के ये वचन सुनकर, किरीटधारी अर्जुन कांप उठा। वह बहुत भयभीत हो गया था, उसने दोनों हाथों से अञ्जलिबद्ध प्रणाम किया और गद्गद स्वर में फिर भगवान् कृष्ण से कहने लगा।

किसी भारी भय के कारण अथवा किसी महान् दुःख का आक्रमण होने पर अथवा अत्यन्त स्नेह के आवेग से उत्पन्न अतुल हर्ष के उत्पन्न हो जाने से नेत्र आँसुओं से भर जाया करते हैं और कफ के प्राबल्य से गला रूंध जाता है, मुख से टूटे टूटे शब्द निकलते हैं, उस स्थिति को ही 'गद्गद' शब्द से कहा जाता है। पद्य के वर्णन में अर्जुन की भयाक्रान्त अवस्था का ही चित्रण है। स्थिति की भयजनकता स्पष्ट है। श्रीशङ्कराचार्य ने यहाँ संजय के कथन से यह तात्पर्य निकाला है कि भीष्म, द्रोण और कर्णादि से वियुक्त हो जाना जब प्रस्तुत वर्णन में धृतराष्ट्र ने सुन लिया तब उस दुर्योधनादि अपने पुत्रों के मरने का भी निश्चय हो ही जायेगा और वह सन्धि करने को समुद्यत हो जायेगा, परन्तु भवितव्यता के वश में आकर धृतराष्ट्र वैसा न कर सका। (३५)

अर्जुन स्तुति करने लगा –

हे हृषीकेश ! यह सर्वथा उचित है कि आपके कीर्तन से संसार प्रसन्न और आपमें अनुरक्त होता है, राक्षसगण आपके भय से दिशाओं की ओर पलायित हो जाते हैं और समस्त सिद्धगण आपको प्रणाम करते हैं। (३६)

और हे महात्मन् ! वे आपके प्रति प्रणत क्यों न हों, आप ही तो सबके गुरु, ब्रह्मा को भी उत्पन्न करने वाले हैं। हे सम्पूर्ण जगत् के आधार ! देवताओं के स्वामी ! अविनाशी भगवन् ! आप स्वयं अक्षर हैं, सत् असत् और उनसे भी परे आप ही हैं। (३७)

आप आदिदेव हैं, पुराणपुरुष हैं, इस विश्व के चरम आधार हैं, ज्ञाता और ज्ञेय हैं, परम तेज हैं, हे अनन्तरूप भगवन् ! यह विश्व आपके द्वारा ही फैलाया हुआ है। (३८)

आप ही वायु, यम, अग्नि, वरुण और चन्द्रमा हैं, आप ही प्रजापति और प्रपितामह हैं, मैं सहस्रों बार आपको प्रणाम करता हूँ, आपके सामने प्रणत होते हुए मुझे तृप्ति ही नहीं होती, मैं पुनः अनेक बार आपको प्रणाम करता हूँ।

स्थाने हृषीकेश श्लोक, राक्षसों को विनष्ट करने वाले रक्षोघ्न मंत्रों में मन्त्र शास्त्र में प्रसिद्ध है। यह नारायण मन्त्र और सुदर्शनास्त्र मन्त्रों से सम्पुटित करके जपा जाता है और विघ्नों के उत्पादक और अनिष्टों के प्रवर्तक राक्षसों का इसके जप से विनाश हो जाता है, ऐसी विद्वानों में प्रसिद्धि है। महाभारत युद्ध की चर्चा सुनकर अन्तर्जगत् के नियामक देवता ऋषि, सिद्ध, असुर आदि युद्ध दर्शन के लिए आकाश में एकत्रित हो गए थे। युद्ध में दर्शकरूप से उपस्थित देवताओं का वर्णन प्राचीन साहित्य में सर्वत्र मिलता है, वे पुष्पवृष्टि और हर्षध्वनि भी करते हैं। इस विश्वरूप को देखकर उन सभी को अपार हर्ष और प्रीति उत्पन्न हो गई, जो असुरगण उपस्थित हुए थे वे भीति से पलायित हो गए।

यह रूप देख लेने के बाद अर्जुन को अपरोक्ष रूप से विदित हुआ कि भगवान् के इतने श्रवण, मनन, कीर्तन आदि का क्या कारण है। आज उसने उनका प्रभाव प्रत्यक्ष देख लिया। उनके विषय में लोक और शास्त्रों में प्रसिद्ध सभी बातें अब अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्षर सत्य हो गईं। भगवान् समस्त देवासुर सिद्धादि के द्वारा प्रणम्य हैं, संसार में जितने भी गुरु हैं वे उन सबसे अधिक ज्ञानयुक्त हैं, सर्व ज्ञानमय हैं, समस्त सृष्टि के समुत्पादक ब्रह्मा के भी वे उत्पादक पिता हैं, ब्रह्मा समस्त संसार में पितामहरूप से प्रसिद्ध हैं, उनके भी उत्पादक होने के कारण भगवान् सारे जगत् के प्रपितामह हैं। संसार में जितनी भी अस्ति नास्ति बुद्धि है, भाव या अभाव हैं, वह सब उन्हीं के आधार पर है, परन्तु वे उस अस्ति नास्ति और भाव अभावों से भी परे हैं, अथवा सत् असत् शब्द से यहाँ कार्य कारण को भी समझा जा सकता है, सारा कार्य कारण उन्हीं के आधार पर चलता है, परन्तु फिर भी वे कार्य कारणों से अतीत हैं। कार्य कारण तो संसार की चीजें हैं, वे तो विश्वातीत हैं। अथवा सत् और असत् शब्द से प्रकृति की कार्यावस्था और कारणावस्था को लिया जा सकता है, नाम रूपादि के विभागों से समन्वित प्रकृति कार्यरूपा है और साम्यावस्थापन्न प्रकृति कारणरूपा है। उसकी ये दोनों ही स्थितियाँ चैतन्यरूप परमेश्वर के ही आधार पर हैं। वह परमेश्वर स्वयं प्रकृति की इन दोनों अवस्थाओं से परे है। इसीलिए वह अक्षर है।

देवशब्द द्युतिमान् के लिए आता है, संसार में जितने सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्र आदि प्रकाशमान पदार्थ हैं, उनसे पहिले कान्तिमान् भगवान् ही थे। उन्होंने इन पदार्थों को अपने प्रकाश का अंश प्रदान किया है, अतः वे आदिदेव हैं। जितने प्राणधारी पुरुष

संसार में हैं, जो कि अपने अपने शरीररूपी पुरों में शयन करते हैं, उन सबमें सबसे प्राचीन या आदिपुरुष भी भगवान् ही हैं। विश्व की प्रलयावस्था में उन्हीं में संपूर्ण विश्व विलीन हो जाता है, अतः वे ही इस विश्व के परम निधान हैं। यहाँ जड़कारणवाद की जड़ स्पष्ट शब्दों में उखाड़ दी गई है। प्रकृति को ही विश्व का कारण मानने वाले सांख्य आदि दर्शन प्रकृति को ही सारे विश्व का अन्तिम लय स्थान मानते हैं, परन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि जड़प्रकृति में विश्व विलीन कभी नहीं होता न उससे उत्पन्न ही होता है, परन्तु चैतन्य रूप परमेश्वर से ही विश्व की उत्पत्ति और उसी में उसका लय होता है। पूर्व अध्यायों में जो प्रकृति को सबका उत्पादक बतलाया है उस प्रकृति के भी उत्पादक परब्रह्म रूप भगवान् ही हैं–यह पुराणों में स्पष्ट है।

सभी का प्रेरणाप्रद वायु, सबकी आयु का नियमन करने वाला यजमान, सबका आधार अग्नि, सारे रसों को परिपूर्ण मात्रा में सर्वत्र पहुँचाने वाला जल का अधिदेवता वरुण, सम्पूर्ण विश्व रूपी प्रजा में नैतिक नियमों की सुरक्षा रखने वाला प्रजापति, ये सभी जगत् में प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थ भगवान् के ही विविध रूप हैं। अतः सभी प्रकार से भगवान् परमपूज्य हैं, सबके प्रणम्य और परम उपास्य हैं। (३९)

●

तैंतालीसवाँ-पुष्प

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।४०।।
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ।।४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ।।४२।।
पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ।।४३।।
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधायकायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।।४४।।
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ।।४५।।
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।।४६।।

आपको सम्मुख से प्रणाम करता हूँ, पृष्ठभाग से भी आपको प्रणाम है, आप तो आगे पीछे सभी ओर से परिपूर्ण हैं, आपको सब ओर से प्रणाम है, आपकी शक्ति अनन्त है, आप अमित पराक्रमशाली हैं, आप सभी में व्याप्त हैं, इसीलिए सर्वशब्द के वाच्य अर्थात् सब कुछ आप ही हैं। (४०)

नमस्कार करने के अनन्तर अर्जुन को अपनी हेयता और भगवान् की महत्ता का बोध हुआ और उसे भगवान् के साथ अब तक के अपने उन सभी व्यवहारों का स्मरण हो आया जो वह उनके साथ उन्हें एक सामान्य मानव समझ कर करता आया है। आगे के पद्यों में वह अपने उन व्यवहारों के प्रति क्षमा याचना करता है कि –

प्रत्येक स्थान पर अनेकों बार एक सामान्य मित्र समझ कर मैं आपको कृष्ण, यादव, सखा आदि शब्दों से सम्बोधित करता आया हूँ, वह सब आपकी इस महिमा

को बिना जाने प्रमाद या प्रेम से हुआ है। समय समय पर हास परिहास के प्रसंगों में विहार, शयन, साथ साथ बैठने और भोजन के समय मैंने आपके प्रति अपराध भी किये हैं, हे अप्रमेय (प्रमाणों से जानने के अयोग्य) अच्युत आप वही हैं, जिनके साथ मेरे वे सब व्यवहार थे। मैं आपके समक्ष उनके लिए क्षमा प्रार्थना करता हूँ।

भगवान् परमार्थतः कृष्ण, यादव, सखा, मित्र आदि सब कुछ हैं, तब उनके साथ सभी प्रकार के व्यवहार हो सकते हैं, फिर यह क्षमा प्रार्थना कैसी ? इसका उत्तर है कि हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा आदि सम्बोधन भगवान् को भगवान् मानकर प्रयुक्त होने पर क्लेश कारक नहीं, परन्तु अर्जुन ने तो उन्हें सामान्य यादव या सामान्य मित्र समझ कर ये सम्बोधन किये थे, अतः उनका अनुताप उसके चित्त में है। (४१-४२)

आप इस चराचर जगत् के पिता हैं, इस संपूर्ण संसार के पूज्य और सर्वातिशायी गुरु हैं, आपकी समानता भी कहीं नहीं है, आपसे बड़ा तो कोई होगा ही कहाँ से, तीनों लोकों में इसीलिए आप अप्रतिम अर्थात् जिनके सदृश किसी का प्रभाव नहीं है ऐसे प्रभावशाली हैं।

ईश्वर एक ही हो सकता है, दो ईश्वर हो जायं तो संसार के नियमों में ही व्याघात उत्पन्न हो जाय। अतः भगवान् के बराबर अन्य कोई नहीं। (४३)

मैं दण्डवत् साष्टांग प्रणाम करता हुआ पूज्य और प्रभु आपको प्रसन्न कर रहा हूँ। हे देव, जैसे पिता अपने पुत्र की प्रिय और अप्रिय सब बातों को सह लेता है और जैसे कृपाशील मित्र अपने मित्र की सभी बातें सह लेता है और पति अपनी प्रिया की सब बातों को सह लेता है एवं प्रियजनों के लिए आप अत्यन्त प्रिय हैं, मेरे अपराधों पर ध्यान न दीजिए। (४४)

इसके बाद अर्जुन कहता है कि–"आपके इस पहिले कभी न देखे हुए रूप को देख कर अपार हर्ष भी हुआ है, परन्तु इस इतने विशाल रूप को देख कर मन में बड़ा भारी भय भी उत्पन्न हो गया है। हे देवताओं के ईश ! जगत् के आश्रय भगवन्! मुझे पुनः वही रूप दिखाइये। (४५)

पहिले अर्जुन भगवान् का पुरुषोत्तम रूप देखता आया है, जब उसने विश्वरूप देखा तो उसके मन में यह सन्देह हो गया कि ये मुझे पुनः पुरुषोत्तमरूप दिखाएंगे या नहीं ? इसीलिए उसने व्यग्र होकर यह प्रार्थना की। वह कैसा रूप है जिसको मैं देखना चाहता हूँ, उसी का आगे अर्जुन वर्णन कर रहा है–

मुकुट धारण किये हुए, गदा और चक्र धारण किये हुए मैं आपको देखना चाहता हूँ। हे सहस्रों भुजाओं वाले विश्वमूर्ति भगवान् ! आप उसी चतुर्भुज रूप में मुझे दर्शन दीजिए। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या भगवान् कृष्ण सदा ही चतुर्भुज

रूप में रहते थे ? श्री भागवत में देवकी के गर्भ से आविर्भूत होने के समय तो चतुर्भुजरूप का वर्णन मिलता है, परन्तु जब वसुदेव और देवकी ने यह प्रार्थना की कि इस रूप को माँस की चक्षु वाले साधारण मनुष्यों को मत दिखाइये, तब से आप द्विभुजरूप में ही हो गए। व्रज-लीला आदि में आपके द्विभुज-रूप का ही वर्णन है। इस पर वक्तव्य यह है कि भगवान् कृष्ण कभी द्विभुजरूप में और कभी चतुर्भुजरूप में भी रहते थे। इसीलिए उनके वर्णन में शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष इन चारों आयुधों का वर्णन मिलता है और इनकी अनुकृति करने वाले करुष के राजा पौण्ड्रक ने भी ये ही चारों आयुध अपने कृत्रिम हाथों में धारण किये थे। यहाँ महाभारत युद्ध में भी सारथी का कार्य करते हुए घोड़ों की लगाम रोकने और उनकी पीठ भी थपथपाने के लिए आपने चतुर्भुज ही रूप रखा था। इसी कारण आरम्भ में आपने घोड़ों की लगाम रोकते हुए शङ्ख भी बजाया, जैसा कि भगवद्गीता के ही आरम्भ में लिखा गया है और स्थानों में कृष्ण का शंख बजाना महाभारत में वर्णित है। उसी चतुर्भुज रूप को अर्जुन देखना चाहता है। इस समय जो हजारों हाथों वाला विश्वरूप सामने देख रहा है उससे वह भयभीत है।

दूसरा प्रश्न यह भी यहाँ उपस्थित होता है कि जब भगवान् कृष्ण शस्त्र हाथ में न लेने की प्रतिज्ञा करके ही महाभारत युद्ध में आए थे तब फिर गदा, चक्र आदि आयुधों का धारण भी यहाँ क्यों था ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि यद्यपि महाभारत युद्ध में शस्त्र न चलाने की आपकी प्रतिज्ञा थी, किन्तु अपने वीर वेश की शोभा रक्षित करने के लिए हाथ में गदा और चक्र रखे हुए थे अथवा अर्जुन पहिले अन्य समयों में जो आपके रूप देखा करता था वैसे ही रूप इस समय दिखाने की प्रार्थना कर रहा है। उन अवसरों में तो गदा, चक्र आदि हाथ में रखना भगवान् का स्वाभाविक ही था। यह दूसरी बात ही यहाँ उचित जान पड़ती है, क्योंकि आगे जब भीष्म ने इनको शस्त्र ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा की तब आप घोड़ों का चाबुक या रथ का पहिया लेकर ही दौड़े थे। यदि युद्ध-स्थल में शोभा के लिए भी शस्त्र आपके हाथ में होते तो रथ का पहिया या घोड़ों का चाबुक लेकर क्यों भीष्म के सम्मुख दौड़ते? यदि कदाचित् कहा जाय कि आयुध न लेने की प्रतिज्ञा के कारण ही रथचक्र या चाबुक लिया ? तो फिर भीष्म की आयुध ग्रहण कराने की प्रतिज्ञा पूरी न हुई—यह कहना पड़ेगा, किन्तु सर्वत्र कहा यही जाता है कि भगवान् कृष्ण ने अपनी प्रतिज्ञा छोड़ कर अपने भक्त भीष्म की प्रतिज्ञा ही रक्खी। यदि यही माना जाय कि अंशतः अपनी प्रतिज्ञा भी रख ली और अंशतः भीष्म की प्रतिज्ञा भी पालित कर दी ? तो फिर उक्त दोनों ही समाधान ठीक हो सकते हैं, अर्थात् वीर शोभा के लिए कृष्ण गदा शङ्ख हाथ में रखते थे—यह समाधान बन सकता है। (४६)

●

चौवालीसवाँ-पुष्प

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।
मा ते व्यथा मा च विमूढ़भावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

विलक्षण रूप देखकर डरे हुए अर्जुन के प्रार्थना करने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा कि "हे अर्जुन, तुम पर प्रसन्न होकर मैंने आत्मयोग से अनन्त और सबका आदिभूत तेजोमय यह विश्व का आत्मभूत परमरूप तुम्हें दिखाया है, जो कि तुमसे अतिरिक्त इससे पूर्व किसी ने नहीं देखा।

अर्जुन ने सर्वदा भगवान् का अनुगमन किया था, उनकी प्रत्येक बात उसके लिए अतर्क्य आज्ञा के समान होती थी। कितनी ही बार उसने अपनी योग्यता का परिचय दिया था। वह जानता था कि युद्धस्थल पर सेना की ही बहुत बड़ी आवश्यकता होती है, परन्तु उसने भगवान् की भारी यादव सेना को न मांगकर भगवान् को ही मांगा था। शारीरिक बल और पराक्रम तो उस समय अनेकों योद्धाओं के पास था परन्तु विनीत स्वभाव और धैर्य धारण की क्षमता तथा आज्ञा पालन किसी के पास नहीं था। भगवान् वेदव्यास ने भी वनवासकाल में पाण्डवों के पास जाकर दिव्य अस्त्रों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए अर्जुन को ही प्रेरित किया था, यद्यपि शारीरिक शक्ति से उससे भी बढ़ा चढ़ा भीम भी वहाँ उपस्थित था। इस प्रकार सर्वत्र अर्जुन ने अपनी लोकोत्तर योग्यता का परिचय दिया था। भगवान् किसी धन दौलत से प्रसन्न होने वाले तो हैं नहीं, उसकी उनके पास क्या कमी थी, वे तो सन्मार्ग पर योग्यता और धैर्य से बढ़ने वाले व्यक्ति को ही अपना प्रेमपात्र बतलाते हैं–यह उनके जीवन की सभी घटनाओं से स्पष्ट है। यही कारण है कि वे अर्जुन पर सदा से प्रसन्न रहे। यहाँ भी सारे संसार में केवल एक अर्जुन को ही उन्होंने यह रूप दिखाया। केवल उसे ही यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। "आत्मयोगात्" इस पद का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य अपने सामर्थ्य से ऐसा

करते हैं। श्रीरामानुजाचार्य "अपने सत्य संकल्प से" और श्रीवल्लभाचार्य "अचिन्त्य ऐश्वर्ययोग" इस पद का अर्थ लिखते हैं।

श्रीशङ्करानन्दजी "मायायोग सामर्थ्य" इस शब्द का अर्थ करते हैं। अथवा इस शब्द का यह भी अर्थ किया जा सकता है कि अपने आत्मभूतस्वरूप–परब्रह्म या व्यापक अव्यय पुरुष के साथ इस मानुषावतार का योग कर उससे यह रूप तुम्हें दिखाया है।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा के साथयोग तो सदा ही रहता है, फिर योग करके दिखाने का क्या अर्थ होगा ? इसका उत्तर है कि आगे जो "तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य" कहा गया है और यहाँ भी जो "परं" और "यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्" कहा है, इन भगवान् के वचनों से ही भगवान् कृष्ण के दो रूप सिद्ध होते हैं–एक मानुषावतार अर्जुन के रथ पर बैठता हुआ रूप और दूसरा जो कुछ काल के लिए अर्जुन को दिखाया, वह रूप। तब नया रूप जो दिखाया वह परब्रह्म परमेश्वर या परमाव्यय पुरुषोत्तम के साथ मानुष शरीर का योग करने से ही प्रादुर्भूत था। वह योग यद्यपि सदा ही रहता है, किन्तु उस योग से काम अभी लिया गया–यही इस शब्द का तात्पर्य उचित प्रतीत होता है। श्रीभागवत में भी दशम स्कन्ध की ब्रह्मस्तुति में जो ब्रह्मा का वचन है कि–

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य,
स्वेच्छामयस्य नतु भूतमयस्य कोऽपि ।
नेशेमहि त्ववसितुं मनसाऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः ।

अर्थात् मुझ पर कृपा कर जो आपने यह इच्छामय शरीर धारण किया है उसके भी महत्त्व को जानने को संसार के मनुष्य समर्थ नहीं हैं, फिर नित्य आनन्द ज्ञानमय आपके रूप को तो जान ही कौन सकता है ? इस कथन से भी भगवान् कृष्ण के दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। उस परब्रह्म रूप में योग करके ही यह विश्वरूप दिखलाया गया। यद्यपि वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार सभी जीवधारियों का ब्रह्म के साथ अंशांशी भावरूप योग सिद्ध है, तथापि देहजनित अज्ञान रूप आवरण से आच्छादित रहने के कारण वे उस योग को भूले हुए हैं। इसी से ऐसे रूप देखने का उनको सामर्थ्य प्राप्त नहीं, किन्तु भगवान् कृष्ण तो नित्य ज्ञानमय हैं उन पर अज्ञान का आवरण हो ही नहीं सकता। उनका देह भी इच्छामय है, पञ्चभूतों का बना हुआ नहीं, जैसा कि ब्रह्मा की उक्ति में कहा गया है। इस कारण वे इस योग से ऐसा रूप दिखा सकते हैं। अथवा

अपने में सदा ही वर्तमान समाधि रूप योग से यह रूप तुम्हें दिखाया यह अर्थ भी उचित हो सकता है। इसीलिये अर्जुन ने रूप दिखाने की प्रार्थना में भगवान् को "योगेश्वर" नाम से संबोधित किया है और संजय ने भी "महायोगेश्वर" ही वहाँ भगवान् का नाम दिया है।

यद्यपि भगवान् कृष्ण को विश्वरूप दिखने का कई जगह अवसर आया है। जैसा कि बाल्यावस्था में जब यशोदा "तैने मिट्टी खाई है" ऐसा कह कर धमकाने लगीं तब अपना मुख खोलकर उसमें सब लोकों का दर्शन यशोदा को करा दिया था और अक्रूर को भी जल और स्थल में एक ही काल में अनेक रूप दिखाये थे या जब अक्रूर विचार में पड़े तब उन्हें भी व्यापक विश्वरूप दिखाया था एवं कुछ दिन पूर्व दुर्योधन की सभा में भी अपने नानारूप दिखा चुके थे, क़िन्तु इस समय का यह सबको ग्रास करने वाला कालरूप अद्भुत् ही था। इस प्रकार का विश्वरूप केवल इसी समय अर्जुन को ही दिखाया था। इसलिए भगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण में यह विश्वरूप दर्शन का सामर्थ्य सदा ही विद्यमान था, किन्तु जब अवसर पड़ता तभी उससे काम लिया जाता था। (४७)

भगवान् आगे बतला रहे हैं कि–"वेदों के अध्ययन, यज्ञ, दान, अनेक पुण्य क्रिया और उग्र तपस्याओं से भी हे कुरुवीर, इस नरलोक में मेरे इस रूप का दर्शन तुम्हारे अतिरिक्त कोई नहीं कर सका।

मानव को संसार में अनेक बातों पर विश्वास हुआ करता है और अपने पुरुषार्थों के आधार मनुष्य बड़ी से बड़ी बात को भी अपने वश में समझ लेता है। प्राचीनकाल में पुरुषार्थ के जो अंग समाज में परिपूर्ण मात्रा में प्रचलित थे उनमें वेदों का अध्ययन मुख्य था, वेद ही संपूर्ण आचार विचार और व्यवहारों के आधार माने जाते थे। समाज के सबसे प्रधान अंग ब्राह्मणों के लिए तो यह अनिवार्य ही था कि बिना किसी अभिलाषा के उन्हें सम्पूर्ण वेद, उनकी अंगभूत विद्याओं का अध्ययन और मनन करना होता था–

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षड्ङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"

अध्ययन अथवा ज्ञान प्राप्ति में भारत सर्वदा संसार का मार्गदर्शक रहा है, जितने ज्ञातव्य विषयों के चिन्तन का विकास यहाँ हजारों वर्ष पहिले हो चुका था उसकी एक झलकमात्र भी संसारभर को चमत्कृत करने के लिए पर्याप्त थी। उस ज्ञानराशि का साक्षात्कार ऋषियों और विद्वानों ने अपने सम्पूर्ण जीवन की पूर्णाहुति देकर किया था और इसीलिए उस ज्ञान की रक्षा और अभिवृद्धि यहाँ अनिवार्य मानी गई। परन्तु केवल अध्ययन से शाब्दिक ज्ञान ही हुआ करता है, परमतत्त्व का साक्षात्कार

अध्ययन से नहीं हो सकता। वेदों के अध्ययन का मुख्य प्रयोजन प्राचीनकाल में यज्ञ की विधियाँ सम्पन्न करना माना जाता था। वेदों और यज्ञों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था कि बहुधा वेद और यज्ञों को एक ही समझ लिया जाता था। वेदों पर आक्षेप करने वाले बौद्ध जैन सिद्धान्तों में ज्ञान के अंश में उतना भेद नहीं दिखाई देता परन्तु उनको यज्ञों से चिढ़ थी और यज्ञों का विरोध करने के लिए ही वे सम्पूर्ण वेदों को ही अपना प्रतिपक्षी मानने लगे थे। वस्तुतः यज्ञ वेद विहित कर्मकाण्ड पर आधारित है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं, यज्ञ के वैज्ञानिक रहस्य पर हमने अन्यत्र प्रवचन में प्रकाश डाला है। जो यज्ञ विशेष कामनाओं से किये जाते थे वे उन कामनाओं की पूर्ति के ही हेतु बनते थे। लेकिन ब्रह्म का साक्षात्कार यज्ञों के द्वारा नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् ने वेदों के अध्ययन और यज्ञ दोनों को ही अपने इस रूप को देखने के साधन के रूप में स्वीकार नहीं किया। यहाँ वेद और यज्ञ के बाद अध्ययन शब्द आया है। जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है वह वेद में ही संभव है। अक्षरों के ज्ञानपूर्वक ग्रहण कर लेने का नाम ही अध्ययन प्राचीन शास्त्रों में प्रसिद्ध है। यज्ञ का सम्बन्ध वेदविहित क्रियाकलापों से है, अतः यज्ञ का अध्ययन कैसे होगा यह प्रश्न उपस्थित होता है। श्रीशङ्कराचार्य ने इसीलिए यहाँ यज्ञ के अध्ययन का अर्थ यज्ञविज्ञान का अध्ययन किया है। यज्ञों में वेदमन्त्रों का उच्चारणरूप उपयोग मात्र है, परन्तु उनका विधान और इतिकर्तव्यता ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलती है। श्रौतसूत्र गृह्यसूत्र तथा कल्पसूत्रों में भी ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर यज्ञों की विधियों का विवरण दिया गया है। यह सब यज्ञ विज्ञान कहा जा सकता है और अध्ययन से ही इसका सम्बन्ध है। अतः वेदों से उसका पृथक् परिगणन यहाँ भगवान् ने किया है। दान या उत्सर्ग का भी भारतीय संस्कृति में प्रारंभ से ही बड़ा आदर रहा है। कई ग्रन्थों में महादानों का भी बड़ा विस्तृत विवरण दिया गया है, सभी राजागण और धनाढ्य पुरुष विभिन्न शुभ अवसरों पर या धर्मबुद्धि से समय समय पर बड़े बड़े दान दिया करते थे। सभी वस्तुओं के दानों का शास्त्रों में विधान मिलता है और किस फल की प्राप्ति के लिए कौन सा दान किया जाता है– यह भी प्राप्त होता है। सारी धार्मिक विधियों के अंग के रूप में भी सर्वत्र दान का विधान है। पुत्री के विवाह को भी कन्यादान की पवित्र संज्ञा दी गई है। इस प्रकार दान उपकारार्थ धर्म और काम्य कर्म के रूप में भारत में सर्वदा से प्रचलित रहा है। दान का अर्थ है "स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन" अर्थात् देय पदार्थ से अपने अधिकार को हटा कर उस पर ग्रहीता का स्वत्व पैदा कर देना। परन्तु बड़े से बड़ा दान देकर भी भगवान् का विश्वरूप नहीं देखा जा सकता। शास्त्रों में जो अन्य अनेक धार्मिक क्रियाकलाप हैं उनके द्वारा भी यह रूप नहीं देखा जा सकता। अनेक प्रकार से की जाने वाली तपस्याएँ भी उस रूप को नहीं दिखा सकतीं। तपस्याओं से प्राचीनकाल

में बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाया करती थीं, जिनका वर्णन पुराणों में सभी जगह मिलता है। तपस्याओं में शरीर को अनेक प्रकार का कष्ट दिया जाता है। केवल अनन्यभक्ति से ही यह दर्शन होना संभव है–इस बात को आगे के पद्यों में भगवान् ने बतलाया है। यदि भगवान् में ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्ति न हो तो इस रूप को देखने के लिए अध्ययन, यज्ञादि निरर्थक हो जाते हैं। यहाँ भी पुनः "त्वदन्येन" कहा, अर्थात् तुमसे अतिरिक्त कोई पुरुष इन साधनों से मेरा यह रूप नहीं देख सकता। तुम देख सकते हो इसका आशय यही है कि तुम मेरे असाधारण भक्त हो। (४८)

आगे भगवान् कहते हैं कि "मेरे इस घोर रूप को देखकर तुम्हें जो कष्ट और स्तब्धता हो रही है वह और आगे न बढ़े, इसलिए मैं वही अपना रूप धारण कर रहा हूँ। तुम भयरहित और प्रसन्न होकर फिर मेरा वही रूप देखो। यहाँ व्यथा और विमूढ़भाव ये दोनों अर्जुन में भगवान् ने बतलाये। व्यथा नाम दुःख का है जो कि रजोगुण का कार्य है और विमूढ़भाव का अर्थ क्रियाशून्य हो जाना है, जो कि तमोगुण का कार्य है। रज और तम दोनों ही के कार्य अर्जुन में उपस्थित थे। इन दोनों ने सत्वगुण को दबा दिया था जिससे हर्ष नहीं था। भगवान् इन दोनों को हटाकर सत्व का कार्य हर्ष प्रकट करने को कह रहे हैं।

भगवान् के इस कथन का मनोवैज्ञानिक महत्व है। अनेक बार ऐसी मायापूर्ण घटनाएँ हो जाती हैं कि हम किसी अपने परिचित मनुष्य को किसी अप्रतर्क्य स्थिति में देखते हैं तो हमें आश्चर्य और क्षोभ होता है, उसी को थोड़ी ही देर हम उससे बिलकुल भिन्न स्थिति में जब देखते हैं तो हमको अपना पूर्व का दर्शन मिथ्या मालूम होने लगता है, हम समझते हैं कि वह हमारा भ्रम था। स्वप्नों में तो ऐसी घटनाओं का अनुभव हुआ करता है। परन्तु उन सबको हम मिथ्या समझते हैं क्योंकि वे बातें वास्तविक नहीं होती। कहीं अर्जुन इस विश्वरूप दर्शन को भी मिथ्या या स्वप्न न समझ ले, इसलिए यहाँ उन्होंने कह दिया कि अब मैं तुम्हें उसी रूप में दर्शन दूँगा, जिसे तुम देखना चाहते हो और फिर इसके बाद भगवान् ने अपना वही रूप प्रकट किया। किसी भ्रम या स्वप्न में दोनों स्थितियों की कड़ी इस तरह नहीं बैठती। स्वप्न वाला व्यक्ति यह नहीं कहता कि मैं जाग्रत अवस्था में अमुकरूप में तुम्हारे समक्ष उपस्थित होऊँगा। यद्यपि स्वप्न आदि भी भविष्य की सूचना दिया करते हैं, परन्तु इतनी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनमें नहीं देखी जाती। (४९)

●

पैंतालीसवाँ-पुष्प

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।।५०।।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दनः ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।।५१।।

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।।५२।।
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।५३।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।।५४।।
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ।।५५।।

आगे संजय ने कहा कि–भगवान् वासुदेव ने अर्जुन से ऐसा कह कर पुनः उसे अपना मानवाकार रूप दिखाया और उग्ररूप से फिर सौम्य महात्मा का रूप धारण करके डरे हुए अर्जुन को आश्वस्त किया।

यहाँ भगवान् वासुदेव ने अपना रूप दिखलाया–इस कथन में वासुदेवशब्द से यह ध्वनित किया कि जो वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुआ था। "स्वकं रूपम्" अपना रूप दिखाया–ऐसा कहना यहाँ असङ्गत प्रतीत होता है, क्या विश्वरूप उनका अपना नहीं, किसी दूसरे का उधार लिया हुआ था ? ऐसा तो है नहीं, दोनों उन्हीं के अपने ही रूप हैं, फिर मानवशरीर में उन्होंने अपना रूप दिखाया यह कथन कैसे संगत होगा? इसका उत्तर है कि एक ही परब्रह्म को हम भ्रान्ति से अनेक समझ लेते हैं,

यह कथन भ्रान्ति गर्भित कथन ही है, अर्थात् सांसारिक प्रातीति जो कि भ्रान्त प्रतीति होती है यही है कि यह कृष्ण का रूप है, यह अमुक का रूप है, वस्तुतः सभी रूप परब्रह्म के ही हैं। संजय जो कि वक्ता हैं वे तो संसार के ही अन्तर्गत हैं वे कोई मुक्त ज्ञानी पुरुष तो हैं नहीं। अतः उनके कथन में यह बात वक्ता की मर्यादा के अनुकूल ही है।

यहाँ यह बात भी उठती है कि भगवान् भी कैसी विचित्र सामान्यजनों की सी लीलाएँ दिखा रहे हैं, कहाँ उन्होंने अभी विश्वरूप दिखाया था कहाँ पुनः वही चतुर्भुज रूप दिखा दिया। इतनी जल्दी जल्दी रूप बदलना कैसे संभव है ? इसी बात को समाहित करने के लिए श्लोक में "महात्मा" शब्द दिया गया है। इसका आशय है कि वे सत्यसंकल्प वाले हैं, जब जैसे चाहें वैसे बन सकते हैं। क्षुद्रात्माओं पर जो नैसर्गिक प्रतिबन्ध हुआ करते हैं वे उन पर नहीं चलते। यह भी इससे अर्थ निकाला गया है कि महात्मा अर्थात् सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उन्होंने सौम्यवपु अर्थात् पुनः मानवाकार धारण कर लिया। (५०)

अपने जाने पहिचाने अनन्त सौन्दर्यमय भगवान् श्रीकृष्ण के सुमधुर रूप को पुनः अपने नेत्रों के आगे देखकर अर्जुन की जान में जान आई और उसने कहा कि–

हे जनार्दन, आपका परम सुन्दर यह मनुष्य रूप देखकर अब मैं मन से स्वस्थ और प्रकृतिस्थ हो गया हूँ।

अर्जुन की भगवान् के प्रति यह विज्ञापना उसके परिवर्तित अनुभव को प्रकाशित कर रही है। जब वे ही नित्य सहचर श्यामसुन्दर उसके सामने खड़े हैं जो संग्राम में उसका रथ हांकने वाले हैं तब डर किस बात का ? यहाँ "मानुषं रूपं" इस पद से अवतार का रहस्य भी प्रकट किया गया है। मनुष्य का अपने सजातीय मनुष्य में ही प्रेम होता है, उसी को देखकर वह प्रसन्न हुआ करता है, इसी कारण करुण समुद्र भगवान् मनुष्यावतार धारण किया करते हैं। (५१)

अर्जुन के प्रकृतिस्थ हो जाने पर पुनः भगवान् ने विश्वरूप के महत्व पर प्रकाश डाला। वे कहते हैं कि–

अत्यन्त दुर्दर्शनीय जिस रूप को अभी तुमने देखा, देवता लोग भी इस रूप को देखने की नित्य अभिलाषा रखते हैं।

देवता भी इस रूप के दर्शन की अभिलाषा रखते हैं, इससे यह स्पष्ट हो गया कि उनकी भी अभिलाषा ही रहती है, इस रूप को देखने का अधिकार उनको भी प्राप्त नहीं है। इस रूप में ऐसी क्या बात है कि जिसको देखने की अभिलाषा देवता भी

रक्खें। यह रूप तो परम भयानक है, उग्र है, सुदुर्दर्शनीय है। जैसा कि इसका वर्णन किया गया है, जिस रूप को देखने से लोकत्रय प्रव्यथित हो उठे उसको देखने की अभिलाषा भला देवताओं के मन में क्यों उठने लगी ? देवता भी तो उसके दर्शन से भयभीत होंगे ? यहाँ 'अपि' शब्द ने और भी सन्देह में डाल दिया है। देवता भी सर्वदा उसके देखने की अभिलाषा रखते हैं अर्थात् देवताओं के अतिरिक्त जो अन्य प्राणी हैं उनकी अभिलाषा तो इस रूप को देखने के लिए है ही, यह कैसी विचित्र बात कही गई। अर्जुन जैसा जितेन्द्रिय और मनस्वी योद्धा जिस रूप को देखकर काँप उठा उसे देखने की अभिलाषा प्राणिमात्र के मन में कहाँ से उठ सकती है, क्या सभी लोग भय से व्याकुल हो जाने की ही अभिलाषा रखते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् का कालरूप है जैसा कि उन्होंने इसका परिचय दिया। काल तीन हैं–भूत, भविष्य और वर्तमान। तीनों इस रूप में प्रत्यक्ष हो गये। वर्तमान तो सबके सामने ही रहता है। जो घटनाएँ अपने साथ घट चुकी हैं। और भूतकाल का विषय बन गईं उनका भी ज्ञान सभी को रहता है, परन्तु भविष्य को देखने की अभिलाषा सभी की रहती है। मेरे साथ आगे क्या होगा, मैं कितनी समृद्धि का उपभोग करूँगा, कब तक जीवित रहूँगा इत्यादि प्रश्न सभी के मन में उठते हैं। देवता भी नियत समय के लिए ही देवपद प्राप्त करते हैं, यज्ञ यागादि का संपादन ही देवपद प्राप्ति का हेतु बतलाया गया है, परन्तु वह नियतकाल तक ही रह सकता है, जब उनके किये हुए पुण्य क्षीण हो जाते हैं तब उन्हें पुनः भूलोक पर आकर मनुष्यों की तरह ही रहना होता है, जैसे चुनाव में चुन लिये जाने पर और मन्त्रिपद ग्रहण करके पूर्ण अधिकार का उपभोग कर लेने के अनन्तर अवधि बीत जाने पर मन्त्रियों को भी सामान्य जनता के समान ही अपना जीवन निर्वाह करना होता है। अधिकार हाथ से चला जाता है, अतः देवत्व की यह अवधि कब तक है और इसके आगे वे किस स्थिति में रहेंगे–यह जानने की अभिलाषा देवताओं को भी अवश्य रहती है। भगवान् के इस रूप में सभी को अपनी भविष्य स्थिति प्रत्यक्ष दिखलाई दे जाती है। जैसा कि अर्जुन ने महाभारत युद्ध का परिणाम पहिले ही प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख लिया। यही कारण है कि इस रूप के देखने की अभिलाषा देवताओं को भी सदा ही रहती है। पुनः प्रश्न होता है कि भविष्य का ज्ञान तो अर्जुन को भगवान् ने सूक्ष्म प्रपञ्च में उसकी दृष्टि फेर कर ही कराया जैसा कि कहा गया है, तब देवता आदि तो सूक्ष्म प्रपञ्च के ही अन्तर्गत हैं, वे सूक्ष्म प्रपञ्च के दर्शन की अभिलाषा क्यों रखेंगे ? इसका उत्तर है कि हम गीता के तृतीय अध्याय की व्याख्या में तीन प्रकार के देवता बतला आये हैं; उनमें प्राणरूप देवता ही सूक्ष्म प्रपञ्च के अन्तर्गत हैं, अन्य दो प्रकार के प्राणीरूप देवता तो अपना भविष्य जानने की इच्छा रखते ही हैं, उनको ही यहाँ दर्शनाभिलाषी बतलाया गया। (५२)

इसके आगे भगवान् कहते हैं कि "वेद, तपस्या, दान और यज्ञ या पूजा के द्वारा हे पार्थ ! मेरे जिस रूप को तुमने अभी देखा उसे नहीं देखा जा सकता।

पूर्व पद्य में भी यही बात इसी रूप में आ चुकी है, भेद इतना ही है कि पहिले यह बात विश्वरूपधारी भगवान् के मुख से कही गई थी और अब मनुष्य रूपधारी भगवान् कृष्ण के मुख से कही जा रही है, इसलिए यहाँ पुनरुक्ति नहीं समझनी चाहिए। दूसरा भेद छन्द का भी है, वहाँ बड़ा छन्द है और यहाँ छोटा अनुष्टुप् छन्द है। साहित्यशास्त्र की दृष्टि से भी इस प्रकरण में विशेष सौन्दर्य यह है कि सामान्य कथनों में छोटा अनुष्टुप् छन्द काम में लिया गया है और विशाल विश्वरूप के वर्णन, उसकी स्तुति और उसके कथन में बड़ा छन्द है–यह वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य के रूप में साहित्यशास्त्र में वर्णितकाव्य का चमत्कार इस प्रकरण की शोभा बढ़ा रहा है। (५३)

परन्तु पूर्व कथन की यह पुनरुक्ति कुछ और भी अभिप्राय रखती है। प्रश्न यह है कि मनुष्य के पास आत्मोन्नति के जो उपाय अध्ययन यज्ञ दानादि हैं उनको तो भगवान् ने इस रूप के दर्शन के लिए अनुपयुक्त ठहरा दिया, इसके अतिरिक्त भी क्या कोई उपाय है जिससे इस रूप का दर्शन प्राप्त हो सके, अथवा यह सर्वथा ही दर्शन के बहिर्भूत रूप है, किसी भी उपाय से कोई इसे देख ही नहीं सकता ? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिये उत्थानिका के रूप में भगवान् ने अपने पूर्व कथन की पुनरुक्ति करके अग्रिम पद्य से अपने इस रूप को देखने का उपाय बतलाया है। साभिप्राय पुनरुक्ति दोषावह नहीं होती। विश्वरूपदर्शन का आगे जो उपाय बतलाते हैं वह वही है जिस उपाय से अर्जुन को यह सौभाग्य मिला है। पहिले भगवान् ने कहा है कि "हे अर्जुन मैंने तुम पर प्रसन्न होकर तुमको यह रूप दिखाया है" तो बस, वही यह रूप देख सकता है जिस पर भगवान् प्रसन्न हों। आगे प्रश्न होगा कि भगवान् प्रसन्न कैसे होंगे उसी के उत्तर के रूप में आगे भगवान् कहते हैं कि–

हे शत्रुओं को ताप देने वाले अर्जुन ! केवल अनन्य भक्ति से ही मेरा यह रूप जाना जा सकता है, देखा जा सकता है, यही नहीं इसमें प्रवेश भी किया जा सकता है।

भक्तिभाव से जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन करता है वह इस रूप को जान सकता है–यह श्रीशङ्कराचार्य की व्याख्या है। इस पर प्रश्न यह है कि जब भगवान् अध्ययन से इस रूप के दर्शन का स्पष्ट निषेध पहिले कर चुके हैं तब यहाँ शास्त्रों से इस रूप के ज्ञान की बात कैसे संगत होगी, शास्त्रों से ज्ञान होने का अर्थ भी तो शास्त्रों के अध्ययन से ही है और अध्ययन की अकिञ्चित्करता पहिले ही शब्दतः कह दी गई है, तब शास्त्र से जानने की व्याख्या का क्या अभिप्राय होगा ? उत्तर यह है कि पहिले केवल अक्षरग्राही अनन्यभक्तिरहित अध्ययन मात्र से इस रुप की प्राप्ति का

निषेध किया गया था, यहां अनन्य भक्ति पुरस्सर अधीत हुए शास्त्रों से विश्वरूप के ज्ञान की बात कही गई है, अतः कोई विरोध नहीं रह जाता। भक्ति के द्वारा ही इसके दर्शन और इसमें प्रवेश अर्थात् लीन हो जाने की भी बात कही गई है। जीव का परब्रह्म में लीन हो जाना ही परम पुरुषार्थ है। उसकी प्राप्ति भी अनन्यभक्ति से ही यहाँ प्रतिपादित हुई है, किन्तु मध्य में ज्ञान और दर्शन प्राप्त करने के अनन्तर। अनन्यभक्ति शब्द के व्याख्याकारों ने कई प्रकार के अर्थ किये हैं। अपने आपको भगवान् से भिन्न न समझ कर जो भगवान् में अपने अंशीरूप से प्रेम किया जाय, वह इस शब्द का पहिला अर्थ है। अन्य किसी देवता की ओर ध्यान न लगाकर केवल कृष्ण में ही प्रेम करना दूसरा अर्थ होगा। अन्य सांसारिक वस्तु-धन, दारा, पुत्र आदि से मन हटा कर भगवान् में प्रेम पूर्वक मन को जोड़ देना इस शब्द का तीसरा अर्थ है। सब पदार्थों को ब्रह्मरूप समझकर ब्रह्मरूप भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्तयोग–यह चौथा अर्थ है। इस प्रकार की अनन्य भक्ति से ही मेरा तात्त्विक ज्ञान और दर्शन हो सकता है–यही भगवान् ने यहाँ कहा। दर्शनशब्द का अर्थ व्याख्याकार प्रायः प्रत्यक्ष देखना ही करते हैं, किन्तु अर्जुन के समान विश्वरूप दर्शन तो प्राप्त होना दुर्लभ ही है। "एवंविधः" शब्द से तो इस प्रकार का विश्वरूप देखना ही कहा जा सकता है। तब दूसरी व्याख्या यह भी की जा सकती है कि सामान्यरूप से मुझे जानना भी भक्ति से ही हो सकता है और तात्त्विकदर्शन अर्थात् ब्रह्म ही ब्रह्माण्डरूप है–इस प्रकार का ज्ञान भी भक्ति से ही प्राप्त होता है। ऐसा ज्ञान हो जाने के अनन्तर इसी रूप में प्रवेश भी हो सकता है। विश्वरूप में प्रवेश ही सर्वात्मभाव कहा जाता है और इसी सर्वात्मभाव को शास्त्रों ने मुक्ति बतलाया है। इस पद्य में "अर्जुन" और "परन्तप" दो सम्बोधन दिये गये हैं। "परन्तप" शब्द का अर्थ सामान्यतः शत्रुओं को ताप देने वाला होता है। यहाँ मुख्य शत्रु अज्ञान ही 'पर' शब्द से समझना चाहिये। इससे यही अभिप्राय निकलेगा कि हे अर्जुन ! तुम अज्ञान को नाश करने में समर्थ हो, इसीलिए तुम्हें यह उपदेश दिया जाता है। "शक्य अहमेवंविधः" ऐसा प्रयोग पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध नहीं होता, इसलिए इसे आर्ष प्रयोग ही मानना चाहिये।

यहाँ भक्त्या यह तृतीया विभक्ति भक्ति का अङ्ग भाव बतलाती है और आगे जो 'ज्ञातुं', 'द्रष्टुं' और 'प्रवेष्टुम्' पद आये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि भक्ति से ज्ञान और दर्शन प्राप्त होता है और उसके अनन्तर भगवान् में प्रवेश अर्थात् मुक्ति प्राप्त होती है। हम गीता व्याख्या के तृतीय खण्ड की समाप्ति में इसका विस्तृत विवेचन करेंगे कि भगवद्गीता में ज्ञान को भक्ति का अङ्ग माना गया या भक्ति को ज्ञान का अङ्ग माना गया है ? इसलिए यहाँ इसका विस्तार नहीं किया जाता। (५४)

इसके आगे अध्याय का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं कि "हे पाण्डव!

जो व्यक्ति मेरे कार्यों को करता है, अथवा मेरे लिए ही प्रत्येक कार्य करता है, जो मुझे ही परम अर्थात् अपना सब कुछ मानता है, जो मेरा भक्त है और जो काम क्रोधादि से या अपने कुटुम्बियों के सङ्ग से अलग रहता है और समस्त प्राणी मात्र से जिसका कोई वैर नहीं है, वही व्यक्ति मुझे प्राप्त करता है।

जो मेरा काम करता रहे का तात्पर्य यह है कि भगवान् ने अपने अवतार ग्रहण के जो प्रयोजन बतलाए हैं वे ही भगवान् के कार्य हैं, उन्हें जो करता रहे। जो साधुओं का परित्राण, दुष्टों का दमन और धर्म का संस्थापन करता रहे वह भगवान् के ही काम करता है, अतः भगवान् का प्रिय हो जाता है। व्याख्याकारों ने यही अर्थ किया है कि जो सारे कार्य मेरे लिये ही करता हो। इसका विस्तृत विवेचन हम बारहवें अध्याय के १०वें श्लोक की व्याख्या में करेंगे। परम का अर्थ गति किया गया है अर्थात् मैं ही जिसकी चरमगति हूँ। "संगवर्जित" से अभिप्राय पुत्र पौत्र कलत्रादि के वर्जन से है। इस प्रकार इस अध्याय में भगवान् के विश्वरूप का वर्णन और उसकी प्राप्ति के उपाय के रूप में भक्ति का निरूपण भगवान् के द्वारा किया गया। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि भगवद्गीता में भक्तिशब्द केवल नाम जप आदि के लिए ही नहीं कहा गया है, अपितु सांसारिक कुटुम्ब आदि का परित्याग और किसी भी प्राणी से वैर न करना अर्थात् उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न देना भक्तिशब्द से कहा गया है। (५५)

ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

●

द्वादशोऽध्यायः

छियालीसवाँ-पुष्प

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।।१२।।१।।

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।२।।
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ।।३।।
संनिम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ।।४।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

मध्यम षट्क का यही अन्तिम अध्याय है। जो व्याख्याकार कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रतिपादन तीनों षट्कों में क्रमशः मानते हैं, उनके मतानुसार उपासनाकाण्ड का यह अन्तिम अध्याय है, और जो "तत्त्वमसि" इस वेदान्त महावाक्य के तीनों पदों का प्रतिपादन भगवद्गीता के तीनों षट्कों में मानते हैं, उनके मतानुसार "तत्" पद से कहे जाने वाले परमात्मा का निरूपण इस अध्याय के साथ समाप्त हो जायेगा। इसमें प्रथम पद्य द्वारा जो अर्जुन का प्रश्न है, उसकी भी व्याख्याकार भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या करते हैं।

श्रीशङ्कराचार्य का कथन है कि पूर्व के अध्यायों में भगवान् ने अपने व्यापकरूप की उपासना प्रायः कही है और दशम अध्याय में भिन्न-भिन्न विभूतियों के रूप में परिच्छिन्न अर्थात् व्यक्तरूप में एकदेश स्थित चराचर में अपना चिन्तन बतलाया। एकादश अध्याय में विश्वरूप दिखाकर अन्त में "मत्कर्मकृत्" इत्यादि पद्य के द्वारा अपने पूर्व

प्रदर्शित विश्वरूप का "अस्मत्" शब्द से ग्रहण कर उसी की उपासना का आदेश किया। आर्य शास्त्रों में भगवान् की उपासना के तीनों प्रकार वर्णित हैं। विश्वरूप से विश्वचररूप से और विश्वातीतरूप से भगवान् की उपासना बतलाई जाती है। दशमाध्याय में विश्वचररूप से बतलाई, अर्थात् विश्व के अन्तर्गत विशेष प्रभावशाली व्यक्तियों में भगवद्भाव करना वहाँ बतलाया गया एवं गत एकादश अध्याय में विश्वरूप से ही उपासना कही गई और इनसे पूर्व के सप्तमाध्याय में "न त्वहं तेषु ते मयि" इत्यादि वाक्यों से विश्वातीत रूप की उपासना कही गई है। यहाँ अर्जुन के मन में संशय होना स्वाभाविक ही था कि इन तीनों प्रकारों में से सबसे सरल और उत्तम प्रकार कौन सा है ? जो सरल और उत्तम प्रकार हो उसको ही मुझे ग्रहण करना चाहिए, इस आशय से अर्जुन पूछता है कि एवं–इस प्रकार से अर्थात् विश्व या विश्वचर में मन लगाकर निरन्तर एकाग्रता से जो आपकी उपासना करते हैं और जो अक्षररूप से व्यापक तथा इन्द्रियों से न जानने योग्य अर्थात् विश्वातीतरूप में उपासना करते हैं उनमें श्रेष्ठ योगवेत्ता आप किनको मानते हैं ? विश्व, विश्वचर की उपासना ही व्यक्त उपासना कही जायेगी और विश्वातीत की उपासना अव्यक्त उपासना समझी जानी चाहिये, क्योंकि विश्वातीत रूप प्रकट नहीं होता, वह अव्यक्त ही रहता है। वेदान्तदर्शन के अनुसार मायाशबलित या प्रकृति विशिष्ट परब्रह्म ही ईश्वर कहा जाता है। इसलिए व्यक्तोपासना को ईश्वरोपासना भी कह सकते हैं। तात्पर्य यही हुआ कि व्यक्त और अव्यक्तोपासना इन दोनों मार्गों में कौन सा मार्ग उत्तम है। "योगवित्तम" शब्द का अर्थ यहाँ यह है कि योग अर्थात् चित्त की एकाग्रता रूप समाधि को जानने वाले योगवेत्ता कहे जायेंगे, उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है ?

श्रीरामानुजाचार्य यहाँ सगुण और निर्गुण का प्रश्न उठाते हैं। उनका कथन है कि छठे अध्याय में योगनिरूपण प्रसङ्ग में निर्गुणरूप की उपासना कही गई है और यहाँ सर्वगुण विशिष्ट अपना रूप दिखाकर भगवान् ने उनकी उपासना का आदेश किया। इस पर अर्जुन का प्रश्न है कि इन सगुण और निर्गुण की उपासनाओं में श्रेष्ठ मार्ग कौन सा है और शीघ्रता से सिद्धि किस मार्ग से मिलती है ?

मध्वाचार्य श्रीआनन्दतीर्थ यहाँ अव्यक्तशब्द से प्रकृति को लेते हैं और प्रकृति की अधिष्ठात्री लक्ष्मी से उसका तात्पर्य बतलाते हैं। उनके मतानुसार प्रश्न का अर्थ है कि जो भक्त आपकी अर्थात् परब्रह्म की उपासना करते हैं और जो अव्यक्त की अर्थात् लक्ष्मी देवी की उपासना करे हैं उनमें श्रेष्ठ कौन है ? भगवद्गीता में ही पहिले "अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः" इत्यादिरूप में अव्यक्त को ही अक्षरशब्द का अर्थ बतलाया है। वहाँ भी इनके मतानुसार अव्यक्तशब्द का अर्थ लक्ष्मी माता ही है और "अक्षरात्परतः परः"

इत्यादि वाक्यों के द्वारा परब्रह्म को उस लक्ष्मी देवी से भी पर कहा गया है। सामवेद आदि में कई जगह लक्ष्मी माता की उपासना का विधान प्राप्त होता है, इसलिए अर्जुन के प्रश्न की संगति लग जाती है।

श्रीमधुसूदनसरस्वती तथा महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी यहाँ साकार निराकार का प्रसङ्ग लेते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से विश्वरूप प्रदर्शन के द्वारा या विभूति अध्यायों में जो आपने अपना साकार रूप बतलाया, उसकी उपासना जो भक्त करते हैं और जो "अस्थूल" "अनणु" उपनिषदों में कहे गये या "मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चित्" इत्यादि उपदेशों के द्वारा पूर्व कथित इन्द्रियों से अग्राह्य अक्षर अर्थात् निराकार व्यापक तत्त्व की उपासना करते हैं, उन दोनों प्रकार के भक्तों में अधिक योगवेत्ता अर्थात् शीघ्र अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेने वाले कौन हैं—यह निर्णय कर बतलाइये। जिससे कि मोक्ष की इच्छा से मैं भी उस मार्ग का अनुसरण करूँ।

श्रीशङ्करानन्दजी और श्रीधरस्वामी अर्जुन के प्रश्न का यह आशय लगाते हैं कि ज्ञान और भक्ति में कौन मार्ग श्रेष्ठ है। कदाचित् किसी को यह शङ्का हो कि यहाँ तो "उपासते" पद स्पष्ट है, फिर ज्ञान का प्रसङ्ग यहाँ कैसे लिया जायेगा ? तो इसका उत्तर है कि ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर भी ज्ञान की स्थिरता के लिए उपासना करने की आवश्यकता होती है। जैसा कि पञ्चदशी आदि ग्रन्थों में बतलाया गया है कि दूसरी ओर से चित्त को रोक कर निरन्तर निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन ही उस समय की उपासना है। इसलिए यहाँ प्रश्न का आशय यही लगाना चाहिये कि पहिले भगवान् ने "मद्भक्ता यान्ति मामपि" इत्यादि उपदेशों के द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता कही है और "सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि" इत्यादि वाक्यों के द्वारा कहीं ज्ञान की भी श्रेष्ठता बतलाई है। एकादश अध्याय के अन्त में भी "मत्कर्मकृन्मत्परमः" इत्यादि शब्दों के द्वारा भक्ति का आदेश दिया और भक्ति से ही मेरा सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान हो सकता है—इस वाक्य के द्वारा भक्ति को ज्ञान का अङ्ग बना दिया। इससे यही सिद्ध होता है कि भक्ति करने पर ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान के अनन्तर भगवद्रूप में प्रवेश हो जाता है, इससे अन्त में ज्ञान की श्रेष्ठता सिद्ध हुई। इस कारण अर्जुन का प्रश्न स्वाभाविक है कि भक्ति और ज्ञान इन दोनों मार्गों में शीघ्र और निश्चित फल देने वाला कौन है? पद्य का अक्षरार्थ इनके मत में यह है कि जिस प्रकार का विश्वरूप आपने मुझे दिखाया उस साकार रूप में जो आपकी उपासना करते हैं, अथवा जो ज्ञान प्राप्त कर उसकी स्थिरता के लिए इन्द्रियों से न जानने योग्य व्यापक अक्षर की पूर्वोक्त रूप से उपासना करते रहते हैं, उन दोनों में शीघ्रता और निश्चित फल प्राप्त करने वाले कौन हैं ?

श्रीविद्यावाचस्पतिजी यहाँ साकारोपासना से ईश्वरोपासना का आशय लगाते हैं

और अक्षरोपासना से आत्मानुचिन्तन लेते हैं, क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में अक्षर को कूटस्थ अविचाली जीवरूप बतलाया है और सप्तमाध्याय के आरम्भ में भी प्रकृतिरूप से जीव का ही निर्देश किया है। इसलिए अक्षरपद से जीव का ग्रहण युक्तियुक्त है। इनके मतानुसार पद्य का अर्थ है कि जो पूर्व प्रदर्शित साकार ईश्वर रूप से आपकी उपासना करते हैं और इन्द्रियों से अग्राह्य अक्षर अर्थात् आत्मा की चिन्तनरूप उपासना करते रहते हैं, उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ?

हमारे विचारानुसार आगे के उत्तर के पद्यों पर ध्यान देने से और प्रकृत पद्य में भी अव्यक्त को दूसरी ओर रखकर प्रश्न करने से साकार, निराकार या विश्वरूप, विश्वातीत की उपासना से सम्बन्ध में प्रश्न का आशय लगाना उपयुक्त प्रतीत होता है। इसी कारण उत्तर में भगवान् मूर्ति-पूजा का भी साधनरूप से उपदेश करेंगे। भगवान् के उत्तर के पद्यों में ही यह सब स्पष्ट हो जायेगा। (१)

इसके समाधान में भगवान् कहते हैं कि सदा योग से युक्त होकर और भगवान् मेरी अवश्य रक्षा करें–इस प्रकार परम श्रद्धा रखते हुए जो मेरी उपासना करते हैं, वे ही मेरी दृष्टि में युक्ततम अर्थात् सर्वश्रेष्ठ हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि "मयि" इस अस्मद् शब्द से भगवान् का क्या अभिप्राय है ? श्रीविद्यावाचस्पतिजी गीता में अस्मद् शब्द का अर्थ प्रायः अव्यय पुरुष ही मानते हैं, किन्तु अपने गीता के आचार्यकाण्ड में जहाँ गीता के अस्मद्शब्दों का भिन्न-भिन्न रूप से निरूपण किया है वहाँ इस अस्मद्शब्द को ईश्वर का वाचक ही माना है। ईश्वर के साकार और निराकाररूप से निराकाररूप को आगे पृथक् कहने के कारण यहाँ साकार ईश्वर ही विवक्षित है–यह तो स्पष्ट ही है।

यहाँ श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि इससे अक्षरोपासकों को निकृष्ट नहीं बतलाया, उनके विषय में तो आगे कहा जायेगा। यहाँ साकारोपासकों को श्रेष्ठ बतलाने का यही अभिप्राय है कि साकारोपासना के मार्ग में क्लेश अल्प होता है और अक्षरोपासकों को अधिक क्लेश होता है, जैसा कि आगे के पद्यों में स्पष्ट किया जायेगा।

वल्लभसम्प्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी यहाँ "अस्मद्" शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम अर्थात् अव्ययपुरुष ही मानते हैं, किन्तु अव्यक्त का पृथक् कथन होने के कारण यहाँ अपने अवताररूप में प्रकट स्वयं गीता का उपदेश करते हुए पुरुषोत्तम ही यहाँ विवक्षित हैं–यह उनका मत है। इस सम्प्रदाय में अव्यक्त पुरुषोत्तम भगवान् ही वासुदेव कृष्ण रूप में प्रकट हैं–यही माना जाता है। उस सम्प्रदाय के अनुसार ही उनकी व्याख्या है।

जो कुछ भी हो, इस पद्य के द्वारा साकारोपासना को श्रेष्ठ माना गया–यह तो सभी व्याख्याकारों को सम्मत है। कई व्याख्याकार, अर्जुन पूर्ण योगारूढ़ नहीं हैं इसलिए उसे साकारोपासना का ही उपदेश देना भगवान् ने उचित समझा–ऐसा मानते हैं और कई वास्तव में ही साकारोपासना सर्वसुलभ होने के कारण श्रेष्ठ हैं–ऐसा कह लेते हैं। (२)

जो अक्षर की उपासना करते हैं उनका क्या होता है–यह तो अग्रिम पद्य में बतलाया जायेगा। यहाँ अक्षर के ही सात विशेषण दिये जाते हैं। इन दोनों पद्यों को मिलाकर एक ही वाक्य समझना चाहिये। उस अक्षर का विशेषणों द्वारा स्वरूपनिर्देश किया जाता है कि वह "अनिर्देश्य" है, अर्थात् किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता और "अव्यक्त" है, अर्थात् किसी भी अनुमान आदि प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। अथवा इन्द्रियों से अगम्य है। "सर्वत्रग" अर्थात् सब स्थानों में व्याप्त, अचिन्त्य अर्थात् मन में भी आने योग्य नहीं है और कूटस्थ है। "कूट" शब्द, छल से किये जाने वाले असत्य व्यवहार में निरूढ है, इससे यहाँ कूटशब्द से माया को लेना चाहिये, उस माया में स्थित है अर्थात् माया के अन्तर्गत न होकर अधिष्ठातारूप से उसके ऊपर विराजमान रहता है, इसी कारण वह अचल भी है, अर्थात् चलनक्रिया माया का धर्म है, वह माया के अधिष्ठाता में नहीं रह सकता। वह ध्रुव भी है अर्थात् जिसमें परिणाम अर्थात् अवस्था परिवर्तन न हो वह ध्रुव कहा जाता है–यह श्रीशङ्कराचार्य के भाष्य के अनुसार पद्य का आशय कहा गया। श्रीरामानुजाचार्य यहाँ अक्षरशब्द का अर्थ प्रत्यगात्मा अर्थात् शरीर के अधिष्ठाता जीव को मानते हैं। उसका निरन्तर चिन्तन ही उसकी उपासना है। इस प्रकार भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञानमार्ग में लगकर और निरन्तर आत्मा का ही अनुचिन्तन करने वाले इस पद्य के द्वारा कहे जाते हैं–यह उनका आशय हुआ। अपनी व्याख्या में वे विशेषणों का आशय भी इस प्रकार लगाते हैं कि "अनिर्देश्य" अर्थात् देव, मनुष्य, पशु आदि जो शरीरों के वाचकशब्द हैं उनके द्वारा आत्मा नहीं कहा जाता, क्योंकि वह देहादि से भिन्न है और शरीरों की तरह चक्षु आदि इन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता, इस कारण अव्यक्त है तथा सर्वत्रग है। यहाँ सर्वशब्द से भिन्न-भिन्न देह ही लेना चाहिये। उन अपने देव आदि देहों में चेतना देने के कारण अपनी किरणों के द्वारा सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु ऐसा होने पर भी देह आदि तो बुद्धि में आ सकते हैं, पर यह आत्मा उनसे भिन्न होने के कारण विचार में भी नहीं आ सकता और "कूटस्थ" है अर्थात् चाक या अरहट्ट के घूमने पर भी जो मध्य का डण्डा नहीं घूमता उसे कूटस्थ कहते हैं। इसी प्रकार शरीरों के क्रियाशील होने पर भी आत्मा क्रियाशून्य रहता है, इसीलिए यह "कूटस्थ" कहलाया। उसका स्पष्टीकरण "अचलम्" इस विशेषण से किया गया है और ध्रुव अर्थात् नित्य है।

वल्लभ आदि सम्प्रदायों के अनुयायी अन्य वैष्णव भी भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान में लगकर आत्मचिन्तन करने वालों का ही इस पद्य में प्रतिपादन मानते हैं। जैसा कि श्रीभागवत में कहा गया है–

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते प्रभो !
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते,
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।।

(स्कन्ध १०, अ० १४, श्लो० ४)

अर्थात् कल्याण को प्रवाहित करने वाली आपकी भक्ति को छोड़कर जो केवल ज्ञानप्राप्ति के लिए कष्ट उठाते हैं, उनको वह कष्टमात्र ही मिलता है, जैसा कि मोटे तुषों के कूटने वाले केवल क्लेश के भागी होते हैं यही आशय यहाँ के पद्यों का भी वैष्णव व्याख्याकारों ने माना है। केवल आनन्दतीर्थभाष्य के कर्ता श्रीमध्वाचार्य यहाँ अव्यक्तपद से प्रकृति का ग्रहण करते हैं और मुख्य प्रकृति लक्ष्मी की उपासना की भगवदुपासना से तुलना करते हैं, किन्तु अनिर्देश्य आदि विशेषणों के अर्थ उन्होंने योग्यप्रकार से नहीं लगाये और प्रकृति की उपासना की अपेक्षा भगवदुपासना सरल है, प्रकृति की उपासना में अधिक क्लेश होता है–यह उनका सिद्धान्त भी विलक्षण ही प्रतीत होता है। इसलिए इन पद्यों की उनकी व्याख्या की यहाँ उपेक्षा ही की जाती है।

श्रीशङ्कराचार्य और उनके अनुयायी व्याख्याकार ज्ञान को ही भक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं–यह प्रसिद्ध ही है। इस कारण उनके मार्ग पर चलने वाले श्रीनीलकण्ठजी ने इन विशेषणों की व्याख्या संग्राह्यरूप में की है, अतः उसे यहाँ लिख देना आवश्यक है। अक्षरशब्द से यहाँ वही तत्त्व लिया जाता है जो कि बृहदारण्यकोपनिषद् में जनक की सभा में गार्गी का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा था कि 'एतद् वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति–अस्थूलमनणु' इत्यादि। अर्थात् सर्वधर्मरहित निर्विशेषब्रह्म ही अक्षरशब्द का वाच्य है। उसकी जो उपासना करते हैं अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के बाद भी विपरीत भावना का उदय न हो जाय, इस कारण निदिध्यासनरूप परब्रह्म का ध्यान करते रहते हैं वे ही यहाँ कहे गये। उस ब्रह्म के सात विशेषणों की व्याख्या इस प्रकार है कि वह अनिर्देश्य है अर्थात् किसी शब्द से नहीं कहा जा सकता, 'अव्यक्त' है अर्थात् बुद्धि से भी उसका ग्रहण नहीं हो सकता। जैसा कि श्रुति में स्पष्ट कहा है–'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् मन और वाणी जिसे न प्राप्त कर बीच से ही लौट आते हैं।

कदाचित् प्रश्न हो कि ऐसे मन और वाणी में न आने वाले तत्त्व को माना ही क्यों जाय ? उसका उत्तर दिया जाता है कि वह 'सर्वत्रग' है अर्थात् सत्ता और स्फुरणरूप से सब जगत् में व्याप्त है, इसलिए उसको मानना आवश्यक है। इस पर प्रश्न हो कि सब पदार्थों में जो सत्ता व्याप्त है; वह न्यायशास्त्र का माना हुआ सत्ता सामान्य ही क्यों न मान लिया जाय और स्फुरण जो बतलाया जाता है वह भी न्यायशास्त्र की अभिमतबुद्धि की विषयता ही क्यों न मान ली जाय ? इसका उत्तर अचिन्त्यविशेषण से दिया जाता है। इसका अभिप्राय है कि नैयायिक तो सत्ता और विषयता को प्रत्यक्ष मानते हैं, किन्तु सबमें व्यापकब्रह्म किसी भी प्रमाण के द्वारा जाना नहीं जा सकता। सत्ता आदि से भिन्नब्रह्म को मानने की युक्ति यह है कि सत्ता में सत्ता न्याय मतानुसार नहीं मानी जाती, किन्तु सत्ता भी अवश्य ही सत् कही जाती है, यदि सत्ता असत् हो जायेगी तो वह भावरूप पदार्थ ही नहीं रहा, इसलिए सत्ता में भी ब्रह्म अनुगत है– यह मानना आवश्यक होगा। इसी प्रकार विषयता में भी समझ लेना चाहिये। न्याय की मानी हुई सत्ता से ब्रह्म की विशेषता दूसरे कूटस्थ विशेषण से भी सिद्ध करते हैं कि झूठे पदार्थ को सच्चा बता देना ही कूट शब्द का अर्थ है। उसमें स्थित होकर उसे प्रकाशित करनेवाला कूटस्थ कहा जाता है। यहाँ कूटशब्द से अहङ्कार समझना चाहिये। अहङ्कार का अर्थ है देह, इन्द्रिय आदि में अहं (मैं) यह बुद्धि। वह मिथ्या है, इसका भी प्रकाशक चैतन्य आत्मा या ब्रह्म ही है, क्योंकि यह देहादि में अहं बुद्धि भी जो भासमान होती है और जो भासमान हो, उसका प्रकाशक कोई उससे अतिरिक्त होना चाहिये। जैसा कि घट, पट आदि सब पदार्थों का प्रकाशक उनसे भिन्न सूर्य, दीप क आदि हैं। इसी प्रकार इस अहं बुद्धि का प्रकाशक भी इस बुद्धि से विलक्षण एक चैतन्य आत्मा मानना स्वतः सिद्ध हो जाता है। पुनः प्रश्न होता है कि उक्त प्रकार की अहं बुद्धि (मैं हूँ इस बुद्धि) में जो आया वही तो आत्मा है, उससे भी अतिरिक्त उसका प्रकाशक आत्मा मानने की आवश्यकता ही क्या ? इसका उत्तर "अचलम्" इस विशेषण से देते हैं। इसका आशय है कि अहं प्रतीति में तो मैं सुखी हूँ, मैं चिन्तित हूँ, दुःखी हूँ इत्यादि रूप से परिवर्तन प्रतीत हुआ करता है और "अहमिहैव गृहे तिष्ठामि" (मैं इस घर में बैठा हूँ) इत्यादि अनुभवों के अनुसार एकप्रदेश में रहना भी प्रतीत होता है, यदि ऐसा ही आत्मा माना जायेगा तब तो वह शरीर आदि की तरह अनित्य ही होगा ? फिर शरीर आदि से भिन्न आत्मा मानना ही व्यर्थ हो जायेगा, इसलिए आत्मा को तो अचल अर्थात् न बदलने वाला ही जानना चाहिये। जैसा कि गीता के द्वितीय अध्याय में ही सिद्ध किया जा चुका है। इसलिए अहं प्रतीति में आने वाला ही आत्मा नहीं है अपितु उसका भी भासक है। फिर प्रश्न होता है कि आत्मा

सबका प्रकाशक माना जाता है, परिवर्तन भी नहीं होता, इसलिए सदा ही उसका प्रकाश रहता है–यह मानना पड़ेगा, तब सुषुप्ति अर्थात् गहरी नींद में कोई भी प्रकाश नहीं होता–यह बात कैसे बनेगी ? और वह आत्मा इन्द्रिय आदि को प्रेरणा देता है–यह भी आत्मवादी सब मानते हैं। प्रेरणा देना अपने आपके बिना क्रियाशील हुए नहीं बन सकता। कुम्हार आदि को अपने व्यापार से ही चाक आदि में प्रेरणा देने वाला देखा जाता है। यदि आत्मा में भी क्रिया मान ली जाय तो आत्मा को सर्वव्यापक मानना नहीं बन सकता, क्योंकि व्यापक आकाश आदि में क्रिया नहीं देखी जाती ? इन सब बातों का उत्तर "ध्रुवम्" इस विशेषण से दिया जाता है। इसका अर्थ है कि आत्मा अवश्य ही नित्य है और निश्चल भी है। नित्य निश्चल ही ध्रुवशब्द का अर्थ है। गहरी नींद में भी प्रकाश रहता ही है, तभी तो जागने पर "मैं बड़े आनन्द से सोया"–इस प्रकार नींद में अनुभव किये हुए आनन्द का स्मरण होता है। यदि निद्रा अवस्था में आनन्द का अनुभव न हुआ होता तो स्मरण कैसे होता। बिना अनुभव के तो स्मरण बन ही नहीं सकता। इसलिए गहरी नींद में आनन्द का प्रकाश सिद्ध हो जाता है। बुद्धि के प्रलीन रहने के कारण उस समय स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। मैंने कुछ नहीं जाना–इस प्रकार निद्रा में अज्ञान का भी स्मरण होता है, वही अज्ञान सबको ढके रहता है, इसलिए बुद्धि आदि की प्रतीति नहीं होती। दूसरे प्रश्न का उत्तर है कि जैसे चुम्बक बिना अपना व्यापार किये हुए भी लोहे में व्यापार करा देता है, इसी प्रकार आत्मा बिना अपनी क्रिया के भी इन्द्रिय, मन आदि में क्रिया उत्पन्न करा सकता है। इसलिए आत्मवादियों के सिद्धान्त में कोई भी दोष नहीं रहता। (३)

सभी मतों में यह शङ्का होती है कि ऐसे अक्षर की उपासना किस प्रकार हो सकती है ? जबकि वह मन और वाणी का विषय ही नहीं हो सकता। उपासना तो चित्त को एक जगह स्थिर करने का ही नाम है। वैष्णवाचार्यों के मतानुसार भी निर्गुण आत्मा का उपासनारूप निदिध्यासन भी कैसे हो सकेगा ? क्योंकि जब मन उसे प्राप्त ही नहीं कर सकता तो बार-बार अनुसन्धान कैसे संभव हो ? इसी प्रश्न का उत्तर देने के लिए अग्रिम पद्य के तीन चरणों से उपासना का प्रकार बतलाते हैं और मध्य में ही तृतीय चरण से इस उपासना का फल भी कहते हैं। उपासना यों है कि सब इन्द्रियों का संयम अर्थात् विषयों में जाने से उसे रोकना पहिले होना चाहिये–यह तो सभी ध्यानमार्गों में आवश्यक ही होता है और सर्वत्र समबुद्धि रहनी चाहिये, अर्थात् सुख या दुःख की प्राप्ति में चित्त में कुछ भी विकार न होना चाहिये अथवा देहों के भिन्न-भिन्न रहने पर भी सबमें ज्ञान रूप आत्मा एक ही है–इस प्रकार आत्मा पर ही दृष्टि रखनी चाहिये। भगवद्गीता के पञ्चम अध्याय में "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" ऐसा कहा

गया है। उसके अनुसार यहाँ यह भी अर्थ हो सकता है कि सब जगत् के पदार्थों में "ये सब ब्रह्मरूप ही हैं—ऐसी भावना होनी चाहिये और इसी भावना से सब प्राणियों का हित करने में सदा तत्पर रहना चाहिये। किसी का किञ्चित् भी अपकार अपने द्वारा न हो—इसमें सावधान रहना चाहिये। इस प्रकार के बर्ताव से ही अक्षरब्रह्म की उपासना बन जाती है। इस उपासना का फल भगवान् कहते हैं कि अक्षर की उपासना करने वाले भी मुझको ही प्राप्त करते हैं। यहाँ एवकार का अभिप्राय श्रीशङ्कराचार्य यह लगाते हैं कि वे तो सदा ही मेरे स्वरूप में स्थित हैं। जैसा कि 'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' में कहा जा चुका है। श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मुक्त होने पर भी जीव परब्रह्म के साथ एकता नहीं प्राप्त करता। इसी के अनुसार वे यहाँ अर्थ करते हैं कि मुझको ही प्राप्त करते हैं, अर्थात् मेरे समान ही संसार से छुटकारा पा जाते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य की व्याख्या है कि ऐसे आत्मोपासक भी मुझे प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु भक्ति के बिना इस रूप में आनन्द उन्हें नहीं मिलता। इसी कारण पूर्व पद्य में इन्हें युक्ततम नहीं कहा, किन्तु उपासकों को ही युक्ततम बतलाया।

श्रीशङ्कराचार्य के सिद्धान्तानुयायी अन्य नीलकण्ठजी आदि व्याख्याता तो इस भगवत् प्राप्ति को ही पराकाष्ठा मानते हैं। (४)

तब पुनः यह शङ्का होगी कि जब ये भी आपको प्राप्त कर लेते हैं तो फिर आपने साकार सगुणोपासकों को ही युक्ततम क्यों बतलाया ? इसका उत्तर अग्रिम पद्य में दिया जाता है कि अव्यक्त में मन लगाने वाले को क्लेश अर्थात् मन बुद्धि का कष्ट अधिक होता है, क्योंकि देहधारी पुरुष अव्यक्त में अपने मन का निवेश बड़े कष्ट से कर सकते हैं जब तक मनुष्य आदि को अपने देह का अभिमान रहता है, इसके दोनों अर्थ हो सकते हैं, सामान्य अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित मनुष्य शरीर को ही आत्मा समझा करते हैं, वे भी इस शब्द से कहे जा सकते हैं और जिन्होंने शास्त्रवाक्यों या गुरुवाक्यों से आत्मा को देह से पृथक् समझ लिया उन्हें भी यह मेरा देह है—ऐसी देह में ममता बुद्धि तो रहती है। वे देह में ममता रखने वाले भी इस पद से कहे जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यही होता है कि जब तक हम लोगों को यह मेरा देह है, यह मेरी आँख है, इससे मैं देखता हूँ, ये कान हैं, इनसे मैं सुनता हूँ, इत्यादि रूप से देह और देह के अवयवों में अहन्ता या ममता रहेगी, तब तक हम लोग व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण योग्य अर्थों में ही झुकेंगे, क्योंकि इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने ग्रहण करने योग्य पदार्थों की ओर ही जाती हैं और उनके साथ ही मन भी उन पदार्थों की ओर ही जाया करता है। उनको उधर से रोक कर जो इन्द्रियों से ग्रहण नहीं किया जा सकता उस ओर मन को लगाना बहुत कठिन है।

यहाँ पद्य में "अधिकतर" पद आया है। इसका आशय श्रीशङ्कराचार्य यही लगाते हैं कि यद्यपि सगुण साकार की उपासना में भी इन्द्रियों को बाह्य सांसारिक विषयों से तो रोकना पड़ता है इसलिए अधिक क्लेश तो वहाँ भी है, किन्तु कुछ अवलम्ब रहने से वह मार्ग सुकर हो सकता है। जैसा कि हम द्वितीय अध्याय के ६१वें श्लोक पर मूर्तिपूजा के प्रतिपादन में लिख चुके हैं कि इन्द्रियों के विषयों को भगवान् से सम्बन्ध कर रोकने में सुकरता होती है। सुन्दर माला आदि गन्ध भगवान् के लिए तैयार करने या सुन्दर खाद्य पदार्थ भगवान् को नैवेद्य देने के लिए बनाने में इन्द्रियाँ और मन लग सकते हैं, किन्तु जहाँ बिना किसी अवलम्बन के ही बलात् इन्द्रियों को रोकना पड़े, वहाँ उन इन्द्रियों के दमन में देहाभिमानियों को और भी अधिक कष्ट का अनुभव होना स्वाभाविक है।

श्रीनीलकण्ठजी अव्यक्तोपासना में जो क्लेश है उसे स्पष्ट करते हैं कि जो व्यक्त मूर्ति आदि के उपासक हैं वे इस प्रकार सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं कि वास्तव में यह सब संसार ब्रह्म पर ही अध्यस्त है, अर्थात् माया द्वारा परब्रह्म ही जगद्रूप से भासित हो रहा है। पहिले परब्रह्म पर चेतन प्राणियों का आभास होता है फिर चेतन प्राणियों पर आतिवाहिक अर्थात् जड़रूप मृत्तिका पाषाण आदि का अध्यास हो जाता है। यह मूर्ति भी मृत्तिका, पाषाण, धातु आदि किसी से ही बनी हुई होगी, तब जैसे रज्जु पर किसी को किसी अवसर पर सर्प का भ्रम हो जाय और फिर वह अपनी दृष्टि गड़ाकर बार-बार उस रज्जु को देखता रहे तो जैसे अध्यास का सर्प गायब हो जाता है और रज्जु ही उसे प्रतिभासित होता है, इसी प्रकार प्रतिमा पर पूर्ण ध्यान लगाने से इसका भी जड़त्व दूर हो जायेगा और वह प्रतिमा ही चेतनरूप में इसके सामने प्रकाशित हो जायेगी। जैसा कि कई भक्तों ने प्रतिमा में ही परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया और साक्षात्कार करके बाणासुर आदि परब्रह्मरूप शङ्कर के साथ साक्षात् व्यवहार करने लगे। ऐसे चरित्र पुराणों में स्पष्ट मिलते हैं। इसे ही योगदर्शन भाष्य में "वितर्कज प्रत्यक्ष" कहा गया है। इस प्रकार व्यक्त की उपासना करने वाले क्रम से परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं और जो पहिले ही अव्यक्त की ओर छलांग मारकर जाना चाहें, उनकी वैसी ही गति होती है जैसी की निरालम्ब आकाश में कूद फाँद करने वालों की, अर्थात् उन्हें केवल क्लेश ही मिलता है। सिद्धि हाथ नहीं लगती। जैसा कि हम श्रीभागवत के श्लोक के द्वारा दिखा चुके हैं।

यहाँ के पद्यों को, बारहवें पद्य पर ध्यान देकर कई व्याख्याकारों ने भक्ति और ज्ञान के तारतम्य पर ही लगाया है। अर्थात् इन पद्यों के द्वारा यही विवेचन किया है कि भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान ? अर्जुन के प्रश्न को भी वे उस ओर ही खींचते हैं, जैसा

कि हम इस अध्याय के आरम्भ से ही उनका मत प्रदर्शित करते आये हैं, किन्तु हमारे मत से सम्पूर्ण प्रकरण की आलोचना करने से यहाँ उपासना का ही प्रकरण होने से और विभूति कथन एवं विश्वरूप प्रदर्शन के अनन्तर इस प्रकार का प्रश्नोत्तर होने से व्यक्त उपासना या अव्यक्त उपासना में कौन श्रेष्ठ है—यही अर्जुन का प्रश्न है और उसी के अनुसार अध्याय के अन्त तक भगवान् ने भी व्यक्त उपासना की श्रेष्ठता ही प्रदर्शित की है। बारहवें श्लोक का आशय भी हम इसी क्रम के अनुसार स्पष्ट करेंगे। (५)

●

सैंतालीसवाँ-पुष्प

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।।७।।
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।८।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।।९।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धमवाप्स्यसि ।।१०।।

सगुण साकार की उपासना करने वाले को और भी लाभ है–यह प्रदर्शित करते हैं कि हे पार्थ ! जो अपने कर्मों को मेरे अर्थात् साकार विश्वरूप के आधार पर छोड़कर सब अपने कर्मों के फलों को मुझे अर्पण कर अनन्यभाव से मन का योग लगाकर मुझे ही सबसे उत्कृष्ट मानकर मेरा ही ध्यान करते हुए अपनी चित्तवृत्ति को मेरी ओर ही रखते हैं, उनका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार समुद्र से मैं शीघ्र ही उद्धार करने वाला हो जाता हूँ, क्योंकि वे अपने चित्त को मुझमें ही अर्पण कर चुके हैं। इसका तात्पर्य यही हुआ कि सगुण साकाररूप भी चित्तयुक्त है, वह अपने चित्त से यह देखता रहता है कि कौन मेरी उपासना कर रहे हैं। ऐसा देखकर वह अपने उपासकों की सहायता करता रहता है। यह ईश्वर की सहायता का बहुत अवलम्ब भी सगुण साकार के उपासकों को प्राप्त होता है और जो व्यापक अक्षर ब्रह्म की ही उपासना में लगते हैं उनको अक्षरब्रह्म तो कोई सहायता दे नहीं सकता, क्योंकि अक्षरब्रह्म का चित्त आदि के साथ योग नहीं, इसलिए वह यह जान भी नहीं सकता कि कौन मेरी उपासना करता है, तब सहायता प्राप्त होने की तो कथा ही क्या । अक्षरब्रह्म तो सबके प्रति एक-सा ही है। यही बात पूर्व भी भगवान् ने कही कि यद्यपि मैं सबके प्रति समानरूप हूँ, मेरा न किसी से द्वेष है और न प्रेम, किन्तु जो मेरा भजन करते हैं, वे मेरी ओर झुके हुए हैं, अर्थात् मुझमें अपना मन लगाये हुए हैं, इसलिए मैं भी उनकी ओर झुकता हूँ,

अर्थात् उनकी सहायता करता हूँ। वहाँ भी "अस्मद्" शब्द से सगुण साकारोपासना का ही अभिप्राय है। अनन्योपासना का कई प्रकार से तात्पर्य हम पूर्व पद्यों में कह आये हैं, वही यहाँ भी समझना चाहिये।

कई व्याख्याकार इसका यह आशय बतलाते हैं कि सगुण साकार मेरे रूप में जो मन लगाते हैं, उन्हें मैं बहुत शीघ्र ही शुद्धब्रह्म की प्राप्ति करा देता हूँ। शुद्धब्रह्म प्राप्ति ही मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार पाना है।

श्रीवल्लभाचार्य इसका यह आशय लगाते हैं कि यद्यपि मेरे भक्त मेरे सगुण साकाररूप में ही मन लगावेंगे, किन्तु मुझमें अर्थात् कृष्णरूप में मन लगाने में ही ऐसी शक्ति है कि उनको परब्रह्म प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। यही बात श्रीभागवत् के रास पञ्चाध्यायी में परीक्षित के प्रश्न पर शुकदेवजी ने कही है कि भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव ही मनुष्यों का कल्याण करने के लिए है। उन पर प्रेम से या द्वेष से भी मन लगाने वालों को मुक्ति प्राप्ति हो ही जाती है। (६-७)

इस प्रकार साकार उपासना की श्रेष्ठता सिद्ध कर आगे भगवान् वैसी उपासना का ही अर्जुन को उपदेश देते हैं कि तुम भी मुझमें अर्थात् मेरे साकाररूप में ही मन को स्थापित करो। पद्य में "आधत्स्व" पद आया है। आधानशब्द का प्रयोग संस्कृतभाषा में किसी वस्तु को बन्धक (गिरवी) रूप में रखने के अर्थ में हुआ करता है। इस शब्द के प्रयोग से यहाँ भी यही आशय लेना चाहिए कि अपने मन को मेरे पास बन्धक रख दो अर्थात् जैसे बन्धक रखी हुई वस्तु से उसका स्वामी उससे कोई दूसरा काम नहीं ले सकता, उस प्रकार तुम भी अपने मन से मेरी उपासना के अतिरिक्त कोई दूसरा सांसारिक काम न लो। मन तो संकल्प करने वाला होता है और बुद्धि निश्चय करने वाली कही जाती है। इसलिये आगे भगवान् कहते हैं कि केवल संकल्प ही मेरे विषय में न करो किन्तु निश्चयात्मक बुद्धि को भी मरे आधार पर ही स्थापित कर दो, अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान भी मेरा ही किया करो। बुद्धि की वृत्ति ही ज्ञानशब्द से कही जाती है। इनका कार्यकारणभाव भी बतलाया गया कि मुझमें मन लगाने से ही मेरा ज्ञान प्राप्त कर सकोगे। एकादश अध्याय के अन्त में जो भक्ति से मेरा दर्शन और उसमें प्रवेश भी हो सकता है–यह कहा गया है उसे ही यहाँ दोहराया गया। ऐसा करने से अपना देह छोड़ने के अनन्तर भी बिना सन्देह के मुझे ईश्वररूप को प्राप्तकर मेरे में ही निवास करोगे। यहाँ "निवसिष्यसि" आर्ष प्रयोग है। लोक में "निवत्स्यसि" प्रयोग होता है। (८)

इस प्रकार मन और बुद्धि का लगाना बहुत कठिन कार्य है–इस विचार से आगे भगवान् कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से मन को स्थिर करने में अपने को असमर्थ पाते हो तो हे धनञ्जय ! अभ्यास के सम्बन्ध से मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो।

पहिले छठे अध्याय में भी जब अर्जुन ने मन के रोकने को अतिकठिन कार्य बतलाया था तब भगवान् ने यही उत्तर दिया था कि अभ्यास से धीरे धीरे मन पकड़ा जाता है। अभ्यास का स्वरूप "योगदर्शन" में यही बतलाया गया है कि मन को स्थिर करने का बार बार यत्न करना ही अभ्यास कहा जाता है। मन का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु की ओर बार बार ले जाया जाय, वहाँ फिर धीरे-धीरे अधिक काल तक ठहरने लगता है। इसी आशय से सनातनधर्म में नित्य सन्ध्योपासनादि कर्म करने की विधि बतलाई गई है कि बार बार प्रतिदिन मन भगवान् की ओर ले जाया जायेगा तो वह कुछ काल तक भगवान् में ठहरने लगेगा। इस पर भ्रमर के दृष्टान्त से विस्तृत व्याख्या हम द्वितीय अध्याय के ६१वें पद्य में लिख चुके हैं। यहाँ अभ्यास से अभिप्राय यही है कि श्रवण कीर्तन आदि जो नव प्रकार की भक्ति बतलाई गई है, उसी का अनुष्ठान किया करो। वे नवधा भक्ति नीचे लिखे प्रकार से श्रीभागवत् में वर्णित हैं –

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।

(स्क० ७। अ० ५ श्लो० २३)

अर्थात् भगवान् के, अपने इष्टदेव के गुणानुवाद सुनना, अपने मुख से भी उनका कथन करना, उन्हीं गुणों को बार बार याद करना, चरणकमल की सेवा, पूजन करना, प्रणाम करना, उनके प्रति दासभाव प्रकट करना, आगे दृढ़ता हो जाने पर अपने इष्ट से मित्रभाव स्थापित करना और अन्त में आत्मनिवेदन अर्थात् सर्वरूप से अपने आपको उनके ही अधीन बना देना–यही नौ प्रकार की भक्ति है। इन्हीं का बार बार आवर्तन "अभ्यास" शब्द से यहाँ कहा गया। (९)

यदि इस प्रकार का अभ्यास करने में भी असमर्थ हो अर्थात् अभ्यास में भी मन नहीं लगता तो उससे भी सरल उपाय यह है कि मेरी प्रसन्नता के लिए कुछ काम करते रहो। इस प्रकार मेरे लिए काम करते हुए भी सिद्धि प्राप्त कर सकोगे, अर्थात् इस प्रकार के कार्यों से अभ्यास में मन लगेगा और अभ्यास से फिर पूर्वोक्त प्रकार से मन स्थिर हो जायेगा तब अन्त में मुझे प्राप्त कर लोगे।

यहाँ मेरे लिये कार्यों का विवरण कई व्याख्याकारों ने मन्दिर में झाड़ू लगाना, मन्दिर धोना, किसी पूजा करने वाले के लिए चन्दन, पुष्प, तुलसी आदि का सम्पादन कर देना या भगवान् को भोग लगाने को रसोई बना देना, आदि किया है। ऐसे छोटे छोटे कामों में अनायास मन लग सकता है और कुछ मन लगने पर फिर पूर्वोक्त नवधाभक्ति के अर्चन, पादसेवन और वन्दन आदि में भी मन लग जाता है, फिर वह क्रम से भगवान् में स्थिर भी हो जायेगा।

इन दोनों पद्यों में मूर्तिपूजा का विधान स्पष्टरूप से प्राप्त होता है। मूर्तिपूजा का कुछ विवरण हम दूसरे अध्याय के ६१वें श्लोक में लिख आए हैं। अब यहाँ उसका विस्तृत विवरण किया जाता है। भगवान् की पूर्व उक्ति से यह सिद्ध हो चुका है कि देहधारियों का अव्यक्त में प्रवेश दु:ख से अर्थात् अतिकठिनता से हो सकता है। इसी कारण से श्रुति में भी ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दोनों रूप बतलाये गये हैं–

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चैवामूर्तञ्च,
मर्त्यञ्चामृतञ्च स्थितञ्च यञ्च सच्च त्यच्च ।

(बृहदारण्यक० २।३।१)

अर्थात् ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त। इन्हीं को मर्त्य और अमर्त्य, स्थित और चर तथा सत् और असत् भी कहते हैं। यद्यपि आगे के विवरण से सिद्ध होता है कि ये दो रूप ब्रह्म के वहाँ जगत् की अवस्था में ही बतलाए गए हैं। आकाश और वायु अमूर्त हैं और तेज जल पृथिवी ये मूर्त हैं, तथापि श्रुति में आरम्भ में ब्रह्म के दो रूप हैं–ऐसा कहा गया, इसलिए कारणरूप ब्रह्म में भी दो प्रकार के रूप हैं–यह मानना आवश्यक होगा। इसका तात्पर्य यही निकला कि अमूर्त अर्थात् अप्रकटरूप से देहधारी कोई काम ही नहीं ले सकते, इसलिए जो अमूर्त अर्थात् अप्रकट पदार्थ हैं उनकी भी कल्पित मूर्ति देहधारियों को बनानी पड़ती है। इसके कई एक निदर्शन हम द्वितीय अध्याय के मूर्तिपूजा प्रकरण में दे आये हैं कि अमूर्तशब्द की लिपिरूप मूर्ति कल्पना देहधारियों को करनी पड़ती है। इसी प्रकार अमूर्तरूप बिन्दु और रेखा की भी मूर्ति कल्पना उन्हें करनी पड़ती है। यदि कहो कि अक्षर, बिन्दु, रेखा आदि के बिना रूप कल्पना के तो विद्या ही प्राप्त न होगी ? और बिना विद्या प्राप्त किये तो मनुष्य जन्म ही निरर्थक हो जायेगा ? तो दूसरी बात और भी सोचिये कि बिना मूर्ति कल्पना के ईश्वर का ज्ञान या ईश्वरोपासना न बन सकेगी और बिना ईश्वरोपासना या ईश्वरज्ञान के मनुष्य जीवन का क्या मूल्य रह जायेगा ? इसी अभिप्राय से आचार्यों का यह वचन है कि –

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्याशरीरिणः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।।

यह पद्य और इसकी दो प्रकार की व्याख्या हम द्वितीयाध्याय में प्रदर्शित कर चुके हैं। वहाँ ब्रह्म ही अपना स्वरूप प्रकाशित करता है इस अर्थ का हमने केवल अवतारवाद ही उदाहरण बतलाया था, किन्तु श्रीरामानुजाचार्य ने ब्रह्मकर्तृकरूप प्रकाशन के पाँच भेद बतलाए हैं, अर्थात् परब्रह्म ही अपने को पाँच रूपों में प्रकाशित किया

करता है, इन पाँच रूपों का उन्होंने पाञ्चरात्र आगम के अनुसार इस प्रकार विवरण किया है–अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अन्तर्यामी। इनमें प्रतिमारूप से जो भगवान् प्रकट होते हैं वह "अर्चा" कही जाती है। परब्रह्म का अवताररूप से प्रकट होना 'विभव' कहा जाता है। व्यूह चार होते हैं–वासुदेव व्यूह, सकर्षण व्यूह, प्रद्युम्न व्यूह और अनिरुद्ध व्यूह। अनन्त कल्याण गुण वाला, प्राकृतगुण और दोषों से वर्जित पहिला वासुदेव व्यूह कहा जाता है, उससे उत्पन्न जीव संकर्षण व्यूह कहे जाते हैं, मन-समूह रूप से प्रद्युम्न व्यूह कहे जाते हैं और सब जीवों के अहङ्कार समूह रूप से अनिरुद्ध व्यूह हैं। ये चारों व्यूह हुए। इनमें जो अनिरुद्ध व्यूह आया वह परब्रह्म का सर्वोत्पादक स्थूल रूप है। उनका ही सूक्ष्मरूप आगे चौथे सूक्ष्मरूप से कहा जाता है और जीव, जड़ आदि सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबको अपनी अपनी मर्यादा में रखने वाला 'अन्तर्यामी' भगवान् का पाँचवाँ रूप है। इनमें उपासक का क्रम से प्रवेश होता है। पहिले उपासक अर्चा अर्थात् मूर्ति की पांच प्रकार की उपासना करता है–अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग। भगवद्मूर्ति को मन्दिर में प्रतिष्ठित करना और उस स्थान को मार्जन, प्रक्षालन आदि से प्रतिदिन स्वच्छ करते रहना–'अभिगमन' कहा जाता है। चन्दन, पुष्प, धूप, दीप आदि सामग्री को इकट्ठा करना 'उपादान' कहा जाता है। मूर्ति में षोडशोपचार समर्पित करना "इज्या" कही जाती है। नाम मन्त्र आदि का जप 'स्वाध्याय' है और अन्त में चित्त में भगवान् का ध्यान ही 'योग' है। इस पांच प्रकार की अर्चा की उपासना से अन्तःकरण का मल क्षीण हो जाने पर साधक को भिन्न भिन्न अवतारों की उपासना का अधिकार मिलता है। इसी प्रकार पूर्व पूर्व की सिद्धि हो जाने पर व्यूह, सूक्ष्म, अन्तर्यामी इन रूपों की उपासना का अधिकार मिलता जाता है। पाँचों रूपों की उपासना सिद्ध हो जाने पर भगवान् उन्हें मुक्ति पद दे देते हैं; जहाँ से संसार में फिर नहीं लौटना पड़ता। स्मरण रहे कि इनके सिद्धान्त में मुक्ति में भी जीव और ब्रह्म एक नहीं होते, किन्तु जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। केवल इतना भेद रहता है कि ब्रह्म जगत् का उत्पादन, पालन और संहार करता रहता है, इस प्रकार ब्रह्म की समानता को प्राप्त नहीं कर सकते। यह तो उनके सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। यहाँ कहना इतना ही है कि श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त में मूर्तिकल्पित नहीं है, अपितु परब्रह्म ही मूर्तिरूप से प्रकट हुआ है। प्रतिष्ठा आदि के द्वारा उस प्रकटता को प्रस्फुट किया जाता है।

●

अड़तालीसवाँ-पुष्प

''मूर्तिपूजा का समर्थन''

श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार अर्चा अर्थात् मूर्ति भक्तों की कल्पना नहीं है, अपितु स्वयं भगवान् ही अर्चारूप से प्रकट होते हैं–इसका विवरण किया जा चुका। अन्य आचार्यों के मत से भक्तों के द्वारा ही जो ब्रह्म की मूर्ति कल्पना की जाती है, उस कल्पना में भी उन्होंने बड़े रहस्य माने हैं। प्रथमतः विष्णु भगवान् की शालग्राम शिला में और शङ्कर भगवान् की नर्मदेश्वर में जो पूजा की जाती है उसी पर दृष्टिपात कीजिये। शालग्राम शिला जो नदी से निकाली जाती है, उनके मध्य में स्वर्ण रहता है और वह स्वर्ण चारों ओर काले प्रस्तर से घिरा हुआ रहता है। यह विश्वरूप भगवान् का एक प्रतिरूपक है। भगवद्रूप विश्व की भी ऐसी ही परिस्थिति है कि सप्तभुवन रूप विश्व के मध्य में देदीप्यमान सूर्य सुवर्णरूप है और उसके चारों ओर कृष्ण वर्ण का सोम उसे घेरे हुए है। जिस प्रकार कृष्ण वर्ण सोम के मण्डल के मध्य चमकता हुआ सूर्यमण्डल विराजमान रहता है और यह सूर्यमण्डल या सोममण्डल गोल आकार के ही होते हैं उसी की प्रतिकृति (नकल) मानो भगवान् ने एक नदी में प्रस्तररूप से प्रकट कर दी है। इसी प्रस्तर का पता पूर्व आचार्यों ने बहुत काल के अन्वेषण के अनन्तर लगाया होगा और तभी विश्वरूप भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में इसकी पूजा प्रचलित की गई।

इसी प्रकार यह भी देखना चाहिए कि सूर्य सदा एक स्थान में नहीं रहता, वह दिन में पूर्व से पश्चिम की ओर जाता हुआ दिखाई देता है और पश्चिम में जाकर हमारी दृष्टि से ओझल हो जाता है। जो आजकल के विद्वान् भूमि का भ्रमण मानते हैं, उनके मत से भी यह तो सिद्ध ही है कि भूमि का और सूर्य का क्रम सदा एक प्रकार का नहीं रहता। इसी कारण हम पृथिवी के निवासियों को सूर्य कभी पूर्व ओर और कभी पश्चिम की ओर दिखाई देता है। इस प्रकार के भिन्न-भिन्न गोल आकारों को यदि इकट्ठा किया जाय तो वह प्रलम्ब आकार का एक गोल बनेगा। वैसा ही प्रलम्ब गोल आकार नर्मदा के पाषाणों में प्राप्त होता है। इसलिए उन प्रस्तरों में भगवान् शङ्कर की पूजा प्रचलित की गई है। तात्पर्य यह हुआ कि सूर्यमण्डल को मध्य में एकत्र स्थित मानकर गोलरूप में विष्णु भगवान् की मूर्ति कल्पना की गई और सूर्य या पृथिवी के भ्रमण से जो ब्रह्माण्ड की परिस्थिति होती है, उसी की प्रतिकृति मानकर नर्मदेश्वर को शङ्कर भगवान् की मूर्ति माना गया। ये दोनों ही विश्वरूप ईश्वर हैं और

चित्त को स्थिर करने के लिए उन मूर्तियों का आधार मान कर इनकी उपासना प्रचलित है। भिन्न-भिन्न उपासकों के लिए ये दोनों भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ कल्पित हैं। अधिकारानुसार उपासक इनका उपयोग करते हैं।

अब जो सम्पूर्ण-मनुष्य के आकार रूप में विष्णु, शिव, शक्ति आदि की मूर्तियाँ कल्पित की गई हैं उनका विवरण करना अवसर प्राप्त है। विष्णु भगवान् जगत् के पालक माने जाते हैं। जगत् के पालक के लिए दुग्ध परमावश्यक है। बाल्यावस्था से ही दुग्ध का उपयोग आरम्भ हो जाता है। इसलिए भगवान् विष्णु का क्षीरसागर अर्थात् दुग्ध के समुद्र में ही शयन माना जाता है। ब्रह्माण्ड के अनन्त जीवों के पालनार्थ दुग्ध देना, बिना दुग्ध-समुद्र के कैसे बन सकता है ? इसके अतिरिक्त कौस्तुभमणि जैसा उनके वक्षःस्थल में विराजमान है और सम्पूर्ण धन-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री श्रीमाता लक्ष्मीदेवी भी उनकी सेवा में सदा प्रस्तुत रहती हैं, जिससे धन-सम्पत्ति द्वारा भी वे सब जगत् का पालन कर सकते हैं। जगत् के पालन के लिए यह भी आवश्यक है कि संहार की सामग्री को दबाया जाय, इसी अभिप्राय से भगवान् विष्णु का शयन, संहारकों के ईश्वर शेषनाग पर माना जाता है। इसका यही आशय है कि संहारक सर्प को वे अपने शरीर के नीचे दबाये हुए है।

इसी प्रकार शङ्कर भगवान् जगत् के संहारकर्ता माने जाते हैं। उनका रूप भी संहारकारक ही कल्पित है। संहारकारक के पास संहार की सामग्री चाहिए। संहार की सामग्री सबसे विशेष सर्प ही माने जा सकते हैं। वे सर्प उनके प्रत्येक अङ्ग में लिपटे हुए हैं। जिस महासर्प को विष्णु भगवान् ने अपने शरीर के नीचे दबा रक्खा था वे ही बड़े बड़े सर्प भगवान् शङ्कर के अङ्गों में प्रस्फुट रूप में व्याप्त देखे जाते हैं अन्य भी संहार की सामग्री विष या विष के जिनमें अंश हैं वे आक धतूरे आदि या संहार के साधन त्रिशूल आदि भी उनके हाथों में स्फुटरूप से दिखाई देते हैं एवं ब्रह्मा जगत् के उत्पादक माने जाते हैं। उत्पत्ति का प्रधान साधन जलतत्त्व ही है। जल से ही सब वृक्ष लता आदि की या प्राणियों की उत्पत्ति देखी जाती हैं। वह जल ही उनके हाथ के कमण्डलु में विराजमान है। इसी प्रकार पृथिवी ही सब प्राणियों के शरीर की उत्पादिका है, वह पृथिवी ही कमल रूप में कल्पित कर ब्रह्मा का आसन रूप मानी गई है। यह इन तीनों देवताओं की बाह्य परिस्थिति का अपने अपने अधिकार के अनुकूल होना बतलाया गया। अब इनकी मूर्ति का अन्तरङ्ग रहस्य भी प्रकट किया जाता है। विष्णुपुराण में भगवान् विष्णु की मूर्ति का विवरण इस प्रकार मिलता है।

आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणात्मकम् ।
विभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ।

श्रीवत्ससंस्थानधरमनन्तेन समाश्रितम् ।
प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ।।
भूतादिमिन्द्रियादिं च द्विधाहङ्कारमीश्वरः ।
विभर्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ।।
चलत्स्वरूपमत्यन्तं जवेनान्तरितानिलम् ।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम् ।।
पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृतः ।
सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ।।
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै ।
शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दनः ।।
विभर्त्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ।
विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसंस्थितम् ।।
इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहङ्कारमेव च ।
भूतानि च हृषीकेशे मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।।
विद्याविद्ये च मैत्रेय सर्वमेतत्समाश्रितम् ।।

(वि०पु० प्र०अ० २२)

इनका अर्थ है कि सम्पूर्ण जगत् के जीवधारियों के जो आत्मा-जीव निर्मल और गुणों से रहित हैं, उन सबके समुदाय को कौस्तुभमणिरूप से धारण करते हैं, अर्थात् विष्णु भगवान् के वक्षःस्थल में जो कौस्तुभमणि है वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवात्माओं का प्रतीक है। अनन्त भगवान् श्रीविष्णु के वक्षःस्थल में जो श्रीवत्स का चिन्ह है वह प्रधान अर्थात् प्रकृति का प्रतिरूप है एवं भगवान् विष्णु के हाथ में जो कौमोदकी गदा है वह बुद्धिरूप समझनी चाहिये। भूतों को उत्पन्न करने वाला और इन्द्रियों को उत्पन्न करने वाला जो राजस और तामस दो प्रकार का अहङ्कार सांख्यदर्शन में प्रसिद्ध है, वह भगवान् विष्णु के आकार में शङ्ख और शार्ङ्गरूप में विराजमान है और विष्णु भगवान् के हाथ में जो सुदर्शनचक्र है–जो अपने वेग के आगे वायु को भी पीछे छोड़ देता है, वह संसार के जीवों के मन का रूप जानना चाहिये एवं मुक्ता माणिक्य, मरकत, इन्द्रनील और हीरक इन पाँच प्रकार के रत्नों की बनी हुई जो वैजयन्ती नाम

की माला विष्णु भगवान् धारण करते हैं, वह आकाश, वायु तेज, जल और पृथिवी इन पाँच महाभूतों का प्रतीक है और संसार के प्राणियों के जो पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रिय और पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रिय होती हैं वे वाणरूप से भगवान् विष्णु के आयुधों में विराजमान हैं। ('जैसे वाण अपने लक्ष्य पर जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों पर दौड़ कर जाया करती हैं–यही इन्द्रियों और वाणों की समानता समझनी चाहिए। पूर्वोक्त प्रकृति आदि में समानता अपनी बुद्धि से समझ लेनी चाहिए) एवं भगवान् विष्णु जो अत्यन्त स्वच्छ नन्दक नाम का खड्ग धारण करते हैं वह संसार के प्राणियों की विद्या अर्थात् ज्ञानरूप जानना चाहिये। जैसे खड्ग अपने कोश से ढँका हुआ रहता है उसी प्रकार यह विद्या भी अविद्या अर्थात् अज्ञान से आच्छादित रहती है। इससे विद्या और अविद्या दोनों ही भगवान् के हाथ में हैं, वे ही संसार के प्राणियों को प्राप्त हाती हैं–यह दिखलाया गया। इस प्रकार प्रकृति से आरम्भ कर इन्द्रिय महाभूत आदि पर्यन्त या बुद्धि के धर्म-ज्ञान, अज्ञान ये सब भगवान् विष्णु के आकार में ही विराजमान हैं। भगवान् विष्णु का जो श्यामवर्ण है वह उनमें कोई वर्ण न होने या सब वर्ण उनमें ही होने की सूचना देता है। सब वर्णों का अभाव भी श्यामरूप से कहा जाता है और सब रूपों के पदार्थों को इकट्ठा मिलाकर पीसा जाय तो वे सब भी मिलकर श्याम हो जाते हैं। देवताओं की या भगवान् की जो भुजाएं कल्पित होती हैं वे दिशाओं की प्रतीक हैं। चारों दिशाओं में व्याप्ति बतलाने के कारण प्रायः चतुर्भुज मूर्ति ही मानी जाया करती है। जहाँ अवान्तर दिशा अर्थात् कोणों की भी संख्या मिला ली जाय तो आठ भुजा की भी मूर्ति होती है, जो कि शक्तियों की मूर्तियों में प्रसिद्ध हैं जिनका विवरण आगे किया जायेगा। यदि ऊपर का और नीचे का भाग–ये दो भी दिशाओं में सम्मिलित कर लिये जायें तो दश दिशाएं हो जाती हैं। इसीलिए शक्तियों की दश भुजा की मूर्ति भी मानी गई है और दिशाओं को अपने रूप से अनन्त मान लिया जाय तो अनन्त का प्रतीक सहस्र माना जाता है इसलिए महिर्षमर्दिनी देवी के सहस्र भुजा रूप का वर्णन मार्कण्डेयपुराण में मिलता है और वेद के पुरुषसूक्त में भी पुरुषरूप भगवान् के हजारों मस्तक, नेत्र, चरण आदि का वर्णन है। इन सबको हाथों का भी उपलक्षण मानना चाहिये एवं भगवान् कृष्ण ने जो अर्जुन को विश्व रूप दिखलाया था, उसमें हजार हाथों का वर्णन है। मुख्य दिशा चार ही हैं, इसलिए परब्रह्म की प्रतीक विष्णु शिव आदि की मूर्तियाँ चतुर्भुज हुई हैं और भगवान् की शक्ति की, दिशा अवान्तर दिशा आदि सबमें व्यापकता दिखलाने के लिए शक्ति की मूर्तियाँ अष्टभुजा या दश भुजा मानी गई है। पृथिवी ही सबभूतों की वेष्टन रूपा है और पृथिवी को वेदों में "अग्निगर्भा" कहा गया है–"यथाग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी" इसी कारण भगवान् विष्णु का वस्त्र अर्थात् आवरण या आच्छादन पीत माना गया।

इस प्रकार विष्णु की मूर्ति या उनके आयुध आदि का रहस्य विष्णुपुराण के आधार पर लिखा गया।

शिवमूर्ति का इसी प्रकार का रहस्य 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि, इस पद्य की व्याख्या में बतला चुके हैं। अतः उसकी यहाँ पुनरुक्ति अनावश्यक है। ईश्वर की ही तीसरी मूर्ति ब्रह्मा नाम से मानी जाती है उनका भी वर्णन आवश्यक है। यद्यपि ब्रह्मा का मन्दिर पुष्कर क्षेत्र के अतिरिक्त प्रायः कहीं प्राप्त नहीं होता, तथापि उनका आकार और आयुध पुराणों में प्रतिपादित है। उनके अनुसार ही कुछ लिखा जाता है। ब्रह्मा का रक्त वर्ण माना जाता है। सांख्यदर्शन में रजोगुण का रक्त वर्ण कहा गया है। रजोगुण ही सबका उत्पादक है। इसी कारण सृष्टिकारक वह रूप माना गया। तात्पर्य यह है कि क्रियाशक्ति ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पादिका है। उसका गति और अगतिरूप में संघर्ष चलता रहता है। रजोगुण क्रिया रूप ही है, इसलिए उसका रूप रक्त माना गया और रजोगुण के अधिष्ठाता होने के कारण ब्रह्मा का भी वही रूप कल्पित हुआ। ब्रह्मा के जो चार मुख हैं वे चारों वेदों या चारों वर्णों के प्रतीक हैं। सभी ब्रह्मा के द्वारा उत्पादित हैं। ब्रह्मा के हाथ में जो कमण्डलु है उसका वर्णन पूर्व कर चुके हैं। अन्य हाथों में पुस्तक, चरुपात्र और स्रुवा वर्णित हैं। वे यज्ञ की सामग्री होने के कारण यज्ञ के ही प्रतीक माने जाने चाहिये। उनका वाहन जो हंस बताया गया है, वह विवेक बुद्धि का प्रतीक है। नीर और क्षीर का विवेक अर्थात् पृथक् भाव कर देना हंस का प्रधान धर्म माना जाता है। इस कारण हंस को तिर्यक् योनि में सबसे बुद्धिमान् माना गया और बुद्धि के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं, इस कारण उनका वाहन हंस होना युक्तियुक्त है। पुष्कर में जो महाकाली मन्दिर है, वहाँ ऐसी घटना बतलाई गई है कि उनकी शक्ति सावित्री रूठ कर पर्वत पर जा बैठी हैं और ब्रह्मा के पास गायत्री अवस्थित हैं। इसकी घटना पुराण आदि में तथा लोक में यों प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा जब कोई यज्ञ आदि करना चाहते थे तब उनकी स्त्री सावित्री ने अपना शृंगार बनाने में कुछ विलम्ब कर दिया। ब्रह्मा से यह विलम्ब सहन नहीं हुआ, इसीलिए उन्होंने गायत्री को अपनी अर्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञ कार्य आरम्भ कर दिया। यह घटना देखकर सावित्री रूठकर पर्वत पर जा बैठी। इसका तात्पर्य वैज्ञानिकों के उस कथन से है कि सूर्यमण्डल उदय होने से चार मिनट पूर्व ही वायुस्तर पर पड़े हुए सूर्य किरणों के वक्र हो जाने के कारण वे हमारी बुद्धि में मन्दता पैदा करती है। इसी कारण उनको "मन्देहा" नाम के राक्षस, पुराणों में कहा गया है और उन्हीं के प्रभाव को हटाने के लिए उसी समय हमें सन्ध्योपासन का उपदेश किया गया है। सन्ध्या में जो सूर्य की ओर अर्घ्यरूप से जलप्रक्षेप किया जाता है, वह जल उन वक्रकिरणों को पुनः सीधा कर देता है और इससे बुद्धि पर पड़ने

वाला उनका प्रभाव दूर हो जाता है। वह चार मिनट पूर्व आ जाने वाली शक्ति गायत्री रूप से मानी गई। सावित्री अर्थात् सूर्य के प्रधान शक्ति के आने में विलम्ब देखकर सूर्य ने गायत्री का प्रथम ग्रहण कर लिया—यह कल्पना की गई। सूर्य ही सब जगत् के पदार्थों का उत्पादक वैज्ञानिकों में प्रसिद्ध है, इसलिए सूर्य और ब्रह्मा एक माने गये और सूर्य की उक्त घटनाओं को ब्रह्मा के साथ जोड़ दिया गया। सावित्री के पर्वत पर जा बैठने का अभिप्राय यह है कि सूर्य की मुख्य किरणों का प्रकाश जब आता है तब वह पर्वतों के शिखरों पर ही सबसे पहिले पड़ता है। अस्तु ! यह प्रसङ्गागत वर्णन हुआ।

इस प्रकार परब्रह्म के जो सत्व आदि गुणों के भेद से तीन रूप माने गये हैं, उनकी मूर्ति के रहस्य का दिग्दर्शन यहाँ कराया गया। परब्रह्म के मन और वाणी में न आने के कारण उपासना के लिए जो पाँच रूप माने गये हैं—विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश और सूर्य, उनकी भी मूर्तियों का दिग्दर्शन करा देना भी यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

सभी पुराणों में प्रायः ऐसा विवरण मिलता है कि जहाँ पर ब्रह्म को जगत् का उत्पादक कहा गया और साथ ही उसे सर्वव्यापक, सदा एकरूप और निर्गुण भी बतलाया गया, वहीं श्रोता ने यह प्रश्न किया कि ऐसे ब्रह्म से सृष्टि कैसे हो सकती है ? तब जो जिस पुराण में वक्ता माने गये हैं, उन्होंने यही उत्तर दिया कि सब भावों में एक-एक शक्ति रहती है। ब्रह्म में भी शक्ति है, वही शक्ति जगत् का निर्माण, पालन और संहार किया करती है। ब्रह्म साक्षी मात्र रहता है। भगवत्‌गीता में भी कहा गया है कि –

''मयाध्याक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'' (९।१०)

अर्थात् परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण कहते हैं कि मेरी अध्यक्षता में प्रकृति सब चर और अचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस शक्ति को वेदान्तदर्शन में भेद और अभेद रूप एवं सत्व और असत्वरूप से अनिर्वचनीय (न कहने योग्य) माना गया है, क्योंकि यदि शक्ति को ब्रह्म से अभिन्न मान लिया जाय तब तो वह भी सदा एक रूप रहने वाली एवं व्यापक सिद्ध होगी ! तब ब्रह्म पर जो शङ्का होती है वही इस पर भी हो जायेगी कि ऐसी शक्ति भी परिवर्तन और परिच्छिन्न जगत् का उत्पादन कैसे कर सकती है ? और यदि उसे ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मान लिया जाय, तो एक तो ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्'' (यह सब कुछ जो दिखाई देता है वह आरम्भ में एक ही रूप था उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं थे)

इत्यादि शतशः श्रुतियों का विरोध होगा और दूसरे यह भी प्रश्न होगा कि यदि सर्वथा भिन्न है तो पृथक् रूप से कहीं प्राप्त क्यों नहीं होती ? किन्तु पृथक् रूप शक्तिमान् से कहीं भी नहीं देखा जा सकता। जैसा अग्नि में दाहकता की शक्ति है किन्तु वह दाहकता शक्ति अग्नि से पृथक् होकर कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इसी प्रकार ब्रह्म की उत्पादन, पालन और संहार की शक्तियाँ भी ब्रह्म से पृथक् होकर कहीं भी नहीं मिलतीं। इसी प्रकार उस शक्ति को सत् या असत् कहने में भी यही दोष प्राप्त होंगे। यदि सद् रूप कहा गया तो आदि में ब्रह्म और शक्ति दो पदार्थ सिद्ध हो गये। फिर सर्वथा अद्वैत बताने वाले श्रुतियों की क्या गति होगी और यदि असत् रूप मान लिया जाय तो वह कोई पदार्थ ही न हुआ, फिर उसका मानना ही व्यर्थ हो जायेगा। इसीलिए उसे सर्वथा अनिवर्चनीय ही माना जाता है। वह अनिर्वचनीय शक्ति सदा परब्रह्म के साथ ही रहती है। कभी परब्रह्म ज्ञानरूप है और शक्ति क्रियारूप–ऐसा मानकर ज्ञानरूप परब्रह्म के ऊपर क्रियारूप शक्ति खड़ी हुई है–ऐसा मान लिया जाता है। इस प्रकार की भी मूर्तियाँ कई जगह देखी जाती हैं कि जहाँ शिव पर आद्याशक्ति खड़ी हुई है, कहीं शक्ति और शक्तिमान् को साथ साथ ही माना जाता है–ऐसी भी बहुत सी प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनमें लक्ष्मी नारायण साथ-साथ लेटे हुए हैं या लक्ष्मीदेवी नारायण के चरण दबा रही हैं या शिव पार्वती भी कई जगह साथ बैठे हुए दिखाए जाते हैं। कई जगह शक्तिरूप भगवती के भिन्न मन्दिर भी प्राप्त होते हैं। देव्युपनिषत्, देवी भागवत् आदि पुराणों में भी शक्तिरूपा भगवती का ऐसा कथन मिलता है कि मैं परब्रह्म रूप ही हूँ। परब्रह्म में और मुझमें कोई भेद नहीं है। वस्तुतः परब्रह्म का कोई चिन्ह नहीं है, उन्हें चाहे जगत् का पिता मानकर पुरुष रूप से उनकी उपासना की जाय या माता मानकर स्त्रीरूप से उपासना की जाय, इसमें किसी प्रकार का भेद नहीं होता, क्योंकि परब्रह्म स्वयं स्त्री या पुरुष रूप नहीं है। दोनों ही रूप उपासकों के श्रद्धा और रुचि के अनुसार कल्पित ही हैं। यह अभेद भावना की बात हुई। जो भेद अभेदरूप से अनिवर्चनीय है, उसकी भिन्न रूप से भी उपासना कर सकते हैं और अभिन्नरूप से भी।

भिन्नरूप से उपासना करने में शक्ति के बहुत भेद हैं। शक्ति को शक्तिसामान्य रूप से एक भी माना जा सकता है और जगत् के उत्पन्न करने की शक्ति, पालन की शक्ति और संहार की शक्ति, इस प्रकार से शक्ति के तीन भेद भी कहे जा सकते हैं। कहीं जगत् की आदि अवस्था से लेकर पूर्णावस्था तक क्रमशः दश भागों में विभक्त कर दश शक्तियाँ भी मानी गई हैं। जो दशमहाविद्या नाम से तन्त्रशास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इनमें जगत् की आदि अवस्था आद्याशक्ति या काली के नाम से विख्यात हैं और परिपूर्णावस्था षोडशी, भुवनेश्वरी, त्रिपुरा आदि नामों से कही जाती हैं। पूर्णावस्था रूप भुवनेश्वरी का ध्यान इस प्रकार है–

उद्यद्दिनेशद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्।।

अर्थात् प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा के समान रक्तवर्णवाली एवं चन्द्रमा को मुकुटरूप से धारण किये उन्नत कुच तथा तीन नेत्रवाली व कुछ हँसती हुई, पाश, अङ्कुश, वरद और अभय मुद्रा से युक्त हाथों वाली भगवती भुवनेश्वरी की मैं उपासना करता हूँ।

यहाँ शक्ति का रक्तवर्ण प्रकृति के रजोगुण का प्रतीक है। रजोगुण ही सृष्टि में प्रधान रहता है। सृष्टि की पूर्णता में उसका ही रूप प्रकट किया अथवा तन्त्रशास्त्रों में शिव को प्रकाशरूप और शक्ति को विमर्शरूप माना गया है, इसी कारण तन्त्र के सब विषयों में शक्तिरूप पार्वती प्रश्न करती हैं और शङ्कर उसका उत्तर देते हैं। इसका भी तात्पर्य यही है कि विमर्श से प्रश्न उठता है और प्रकाश अथवा पूर्ण ज्ञान उसका समाधान कर देता है। प्रकाश को स्वच्छ श्वेतवर्ण और विमर्श को रक्तवर्ण माना जाता है। इस कारण भी शक्ति को यहाँ रक्तवर्ण से ही रञ्जित किया गया। भगवती के तीन नेत्र इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप जो तन्त्रशास्त्र में शक्ति के रूप माने जाते हैं; उनके ही प्रतीक है। अथवा सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि नाम के जो तीन तेज हैं, उन्हीं के प्रतीक तीन नेत्र माने गये हैं। मुकुटरूप चन्द्रमा सोम का प्रतीक है, जो कि सोमजगत् के पदार्थों का उत्पादक है। अग्नि और सोम दो ही जगत् के तत्त्व माने गये हैं– "अग्नीषोमात्मकं जगत्"। उनमें अग्निनेत्ररूप से इस स्वरूप में अन्तर्गत हो गया और सोम का चन्द्रमारूप से किरीट मान लिया गया। उन्नत कुच जो बताए गए हैं, वे दुग्ध का निधान होने के कारण उत्पन्न जगत् के पालन पोषण की सूचना दे रहे हैं। मन्द हास्य से आनन्दरूपता बतलाई गई है और हाथों में जो पाश, अङ्कुश धर्म का स्वरूप है, क्योंकि कुमार्ग में जाने वाले प्राणियों को धर्म ही अङ्कुश के समान रोका करता है। पाश अर्थ का सूचक है, क्योंकि पाश की तरह अर्थ ही बाँध कर संसार में प्राणियों को घुमाया करता है। अभयमुद्रा मोक्ष को सूचित करती है तथा वरदानमुद्रा से संसार की सब सम्पत्तियों का दान अभिव्यञ्जित होता है। इन सबको देने वाली शक्तिरूपा जगदम्बा है–यही इससे सूचित किया जाता है। ये वर और अभय मुद्राएँ तो प्रायः सभी शक्ति–मूर्तियों में दिखाई जाती हैं, क्योंकि सांसारिक सम्पत्ति और मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से ही उपासना हुआ करती है।

इसी प्रकार शक्ति के जो तीन भेद माने गये उनके नाम–महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती प्रसिद्ध हैं। महाकाली कृष्णरूपा कही गई हैं, जो कि संसार के आरम्भ के रूप अर्थात् संसार की सृष्टि का आरम्भ ही हो रहा है उस रूप को सूचित

करता है। उस समय तमोगुण ही प्रधान रहता है। श्रुति में भी स्पष्ट कहा गया है कि "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे" तमोगुण का रूप कृष्ण ही माना जाता है और काली के दशमुख, दशभुजा और दश ही चरण ध्यान में कहे गये हैं। वे दशों दिशाओं में उसकी व्याप्ति सूचित करते हैं। सृष्टि दशों दिशाओं में ही साथ साथ होती है किसी एक विशेष दिशा में नहीं। इसी प्रकार महालक्ष्मी का ध्यान रक्तवर्ण से किया जाता है। रक्तवर्ण रजोगुण का सूचक है–यह कह चुके हैं। इससे तमोगुण को दबाकर सृष्टि परिपूर्ण हो गई–यह दिखाया जाता है और महासरस्वती श्वेतवर्णा है। श्वेतवर्णमोक्ष का स्वरूप है। चार प्रकार के जो प्रलय पुराणों में वर्णित हुए हैं, उनमें आत्यन्तिक लय मोक्ष ही है, जहाँ से कि जीव का पुनः उठना ही नहीं होता। इस प्रकार ये तीन शक्तियों के स्वरूप जगत् के आदि मध्य और अन्त के बोधन करने वाले हैं। इन सब मूर्तियों के हाथों में जो आयुध आदि चिह्न हैं, उन सबका यहाँ विवरण करने से बहुत अधिक विस्तार हो जायेगा, पूर्व में जो आयुध आदि का दिग्दर्शन कराया गया है, उसी के अनुसार बुद्धिमान् पाठक सब मूर्तियों के चिह्नों का विवरण समझ लेवें।

आगे गणेश की प्रतिमा का विवरण लिखा जाता है। गणेश प्रतिमा का वर्णन "मुद्गलपुराण" में विस्तार से प्राप्त होता है। उसके प्रत्येक खण्ड में लम्बोदर गजानन आदि भिन्न अङ्गों का रहस्यनिरूपण किया गया है। उसका सारांश यह है कि गणेश का मस्तक भाग ईश्वर का प्रतीक है और नीचे का धड़ का भाग जगत् का प्रतीक है। ईश्वर का वाचक प्रणव या ओङ्कार कहा जाता है, इसके अनुसार मस्तक को ओङ्कार रूप भी कई जगह कहा गया है। प्राचीनकाल में जो ओङ्कार लिखने की रीति थी– "ॐ" इससे गणेश के मुख के आकार की समानता स्पष्ट प्रतिभासित हो जाती है। नीचे का आकार जो विश्व का रूप कहा गया, वह भी नीचे के आकार के विस्तार की और विश्व के विस्तार की समानता से स्पष्ट ही है। विश्व के अन्तर्गत ईश्वर की उपासना हो सकती है–इसका वर्णन पूर्व किया जा चुका है। उनके हाथों में जो चार चिह्न हैं, वे चारों पुरुषार्थ के प्रतीक कहे जाते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार ही पुरुषार्थ माने गये हैं। गणेश के हाथ में जो अङ्कुश है वह धर्म का प्रतीक है। अङ्कुश की तरह धर्म ही कुमार्ग में जाते हुए मनुष्यों को रोका करता है। उनके हाथ में जो पाश है वह अर्थ का प्रतीक है। पाश की तरह ही अर्थ-धन सम्पत्ति आदि पुरुष को बाँधने वाले होते हैं। उनके हाथ का मोदक काम का प्रतीक है। मोदक के समान ही काम मनुष्यों को तात्कालिक आनन्द देने वाला हुआ करता है और कमल मोक्ष का प्रतीक है। जिस प्रकार कमल जल में रहकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, इसी प्रकार संसार में रहता हुआ भी संसार से निर्लिप्त रहने वाला पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

कई विद्वान् श्रीगणेश को उनचास मरुतों में आरम्भ के मरुत् का स्वरूप मान कर भी इनकी प्रतिमा की व्याख्या किया करते हैं। अद्वैतवाद की प्रक्रिया में सब जगत् ही ब्रह्म का रूप है इसलिए मरुत देवताओं के अन्तर्गत होने पर भी गणेश को परब्रह्म के रूपों में से एक मानना विरुद्ध नहीं होता। प्रथम मरुत् भूमि से ही आरम्भ होता है। भूमि से आरम्भ कर सूर्यमण्डलपर्यन्त मरुतों की स्थिति मानी जाती है। इस विचार से गणेश को भूमिमण्डल का अधिष्ठातारूप भी माना जाता है। भूमि के रस का आस्वादन करने वाला प्रधानरूप से मूषक ही हुआ करता है। भूमि के द्वारा जो रोग आदि फैलते हैं उनकी सूचना भी मूषक के द्वारा ही मिला करती है, इसी विचार से भूमि के अधिष्ठाता गणेश का वाहन मूषक को माना गया है। यह भी कहा जा सकता है कि गणेश बुद्धि के भी अधिष्ठाता हैं और मूषक कुतर्क का रूप है। कुतर्क जैसे सब विषयों को छिन्न भिन्न कर डालता है, वैसे ही मूषक भी वस्त्र आदि को काटा करता है। बिना कुतर्क को दबाये बुद्धि काम नहीं दे सकती, इसीलिए बुद्धि के अधिष्ठाता गणेश मूष को दबाकर बैठते हैं। भूमि के अधिष्ठाता होने के कारण ही गणेश सब देवताओं में प्रथम पूजित हुआ करते हैं, क्योंकि भूमि में स्थित मनुष्यों का भूमण्डल स्थित देवता से ही मुख्य सम्बन्ध होता है। भूमण्डलस्थित मनुष्यों को ऐसा उपदेश भी गणेश प्रतिमा से दिया जाता है कि अपने कार्यों का आरम्भ लघुरूप से किया जाय, मध्य में उनका विस्तार रहे और अन्त में फिर संक्षिप्तरूप हो जाय—ऐसी ही गणेश की प्रतिमा है, जिसका आदि और अन्त संक्षिप्त है और मध्य में उदर बहुत विस्तृत रूप है। मरुत् की गति एक ओर ही होती है इसीलिए गणेश का भी एक ही दन्त माना गया है और उस दाँत से विघ्नरूप शत्रुओं का विदारण कर जो उनके रुधिररूप सिन्दूर से गणेश का सम्पूर्ण शरीर लाल रहता है वह रजोगुण का चिह्न है। पृथिवी के प्राणियों में हाथी ही सबसे बड़ा होता है, इसी कारण गणेश का मुख इस मरुत्पक्ष में हाथी के समान माना गया है। हाथी के कान भी बहुत विस्तृत होते हैं इसी प्रकार गणेश भी "शूर्पकर्ण" भी कहे जाते हैं। शूर्पकर्ण का यह भी आशय है कि सूप जैसे धान्य आदि का कूड़ा कर्कट निकाल कर उन्हें स्वच्छ कर देता है, इसी प्रकार बुद्धि भी अपने विचार से सब मलों को हटाकर एक स्वच्छ ज्ञान के रूप में परिणत हो जाया करती है। गणेश की शक्ति ऋद्धि और बुद्धि मानी जाती हैं। उनमें बुद्धि का विवरण किया गया, ऋद्धि अर्थात् सम्पत्ति भी पृथिवी मण्डल से ही सबको प्राप्त होती है। इसलिए वह भी पृथिवी के अधिष्ठाता गणेश की शक्ति मानी गई और सिद्धि इनकी गोद में विराजमान रहती है। इसका भी अभिप्राय यही है कि गणेश की आराधना से ही सब कार्यों में सिद्धि प्राप्त हुआ करती है।

यों जगत् सहित ब्रह्म के रूप में, प्रथममरुत् देवता के रूप में और बुद्धि के अधिष्ठाता रूप में तीन प्रकार से गणेश प्रतिमा का विवरण किया गया। तीनों ही परब्रह्म के रूप हैं। जगत् के मस्तक पर भी परब्रह्म विराजमान रहता है। जैसा कि "ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्" इत्यादि पन्द्रहवें अध्याय के प्रारम्भ के पद्य की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा। बुद्धि के प्रेरणा देने वाला अतएव उसका अधिष्ठाता भी आत्मारूप परब्रह्म ही है एवं मरुत् आदि सब देवता भी परब्रह्म के ही अंश हैं, इन सब विचारों से गणेश को भी परब्रह्म के पाँच स्वरूपों में एक रूप में से कल्पित किया गया है।

कई विद्वान् गणेश को इन्द्र का रूप मानकर भी इनकी प्रतिमा की व्याख्या करते हैं। गणेश की पूजा में जो वैदिकमन्त्र प्रयुक्त होते हैं उनका देवता इन्द्र ही वेदाङ्गों में माना जाता है। इन्द्र भी गणरूप सब देवताओं का स्वामी है। इसलिए गणपति या गणेश नाम इन्द्र के साथ संगत होता है और देवताओं का अपना शरीर ही उनके वाहन आदि के रूप में वर्णित हुआ करता है—इस निरुक्त के सिद्धान्त के अनुसार इन्द्र का वाहन जो ऐरावत हाथी है उसके समान ही गणेश का मुखमण्डल आदि भी कल्पित है। ऐरावत हाथी भी लाल वस्त्र से आच्छादित माना गया है, इसी प्रकार गणेश की प्रतिमा भी सिन्दूर से रञ्जित है। मरुत् देवता भी इन्द्र के सहचर ही हैं, इसलिए यह व्याख्या भी पूर्व की तीन व्याख्याओं के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये। इन्द्र के वज्र के समान ही इनका एक दाँत भी विघ्नरूप शत्रुओं का विघातक पूर्व कहा जा चुका है।

गणेश और स्वामी कार्तिकेय की यह कथा जो पुराणों में प्राप्त होती है कि भगवान् शङ्कर ने जब यह आदेश दिया कि जो पृथिवी की प्रदक्षिणा कर पहिले लौटेगा, उसी का प्रथम विवाह किया जायगा, तब कार्तिकेय तो मयूर पर चढ़कर झट से पृथिवी की प्रदक्षिणा करने को चल पड़े, किन्तु गणेश वैसा न कर अपने पिता माता की ही प्रदक्षिणा कर वहाँ स्थित हो गये और यही उत्तर दिया कि आपकी प्रदक्षिणा पृथिवी की प्रदक्षिणा के समान हो गई। इस कथा से भी इनकी बुद्धि की अधिष्ठातृता ही सिद्ध होती है और वैदिक प्रक्रिया में बुद्धि का अधिष्ठाता इन्द्र ही माना जाता है, क्योंकि इन्द्र का ही रूप है—सूर्य और सूर्य ही सबकी बुद्धि को प्रेरणा देता है, इससे भी गणपति की इन्द्ररूपता ही सिद्ध होती है। शिव पार्वती के पुत्र होने के कारण ही ये शिवगणों के अधिष्ठाता हैं। इसलिए इन्हें भी गणेश कहा जाता है और इन्द्र भी सब देवों का स्वामी है—यह भी इन्द्र का पूर्वोक्त के साथ साम्य हो जाता है। शिवपुराण आदि में जो गणेश को पार्वती के अङ्ग के मल से बनाया हुआ कहा गया है, वह भी गणेश का पृथिवी तत्त्व का अधिष्ठाता होना ही सिद्ध करता है। इसलिए उस व्याख्या

को भी गणेश की मरुत्‌रूपता में ही लगाना चाहिए। शरीर का मल पृथिवी का भाग होता है–यह सुप्रसिद्ध ही है।

इस प्रकार गणेश प्रतिमा की कई प्रकार की व्याख्या और उन सबका तात्पर्यसमन्वय भी दिखाया गया।

अब पाँच रूपों में से एक सूर्य की व्याख्या शेष है। सूर्य के मन्दिर तो बहुत अल्पसंख्या में प्राप्त होते हैं, किन्तु वेदों में सूर्य ही सब देवताओं में प्रधान माने गये हैं और वेदों में इन्हें सब प्रजा का प्राणरूप भी कहा गया है, इसलिए इन्हें भी ब्रह्म के पाँचरूपों में एक रूप–ब्रह्म का प्रतिनिधि मानना युक्तियुक्त ही है। ये प्रत्यक्षदेव कहे जाते हैं, क्योंकि सब प्रजा को प्रतिदिन ही इनके दर्शन प्राप्त हुआ करते हैं। मन्दिर में जो इनका रथ बनाया जाता है जैसा कि जयपुर में एक सूर्य मन्दिर प्रतिष्ठित है और वह प्रतिष्ठित सूर्य, भानु सप्तमी को नगर में घुमाया भी जाता है। उस रथ का वर्णन विष्णुपुराण में यह प्राप्त होता है कि सूर्य की जो सांवत्सरिक गति है, अर्थात् इनकी गति का जो चक्र, क्रान्तिवृत्त नाम से ज्यौतिष में प्रसिद्ध है, वही इनका रथ माना जाता है। निरुक्त दैवतकाण्ड में भी यह स्पष्ट कहा गया है कि देवताओं का अपना स्वरूप ही अपना रथ या वाहन कहा जाता है। इसी के अनुसार इनकी गति को ही विष्णुपुराण में इनका रथ बतलाया गया। आकाशकेन्द्र का मण्डल "विषुवत्‌वृत्त" कहा जाता है और सूर्य की गति का या अन्यान्य ग्रहों की गति का मार्ग "क्रान्तिवृत्त" नाम से प्रसिद्ध है। उनमें से सूर्यक्रान्तिवृत्त विषुवत्‌वृत्त को दो जगह काटता है। मध्य में विच्छिन्न होने के कारण सूर्य का सारथी अनूरु कहा जाता है। अनूरु का तात्पर्य यही है कि उसका मध्य भाग कटा हुआ है। सात छन्द ही सूर्य के सात अश्व कहे जाते हैं, क्योंकि सूर्य को ही "वेदमूर्ति" श्रुतियों में कहा गया है और वेद के चलाने वाले छन्द ही होते हैं। छन्द नाम नियत मात्रा में अक्षरों का परिमाण कहा जाता है। भिन्न भिन्न देवताओं के लिए भिन्न भिन्न छन्द भी वैदिक परिभाषा में नियत हैं, जैसा कि अग्नि का गायत्री छन्द है। इसका तात्पर्य यही है कि अग्नि की स्तुति के मन्त्र प्रायः गायत्री छन्द में ही निबद्ध होते हैं। इन्द्र का त्रिष्टुप् छन्द है। इन्द्र के स्तुति के मन्त्रों में प्रायः त्रिष्टुप् छन्द का ही व्यवहार किया जाता है। आदित्य की स्तुति में प्रायः जगती छन्द का व्यवहार देखा जाता है। ये छन्द ही वेद में विशेषकर व्यवहार में लाये जाते हैं। गायत्री से आरम्भ कर जगतीपर्यन्त सात ही छन्द होते हैं। ये ही वेदमयसूर्य के सात अश्व माने गये हैं। अथवा सूर्य के क्रान्तिवृत्त में सात विभाग कर उनको अजवीथी, नाग वीथी आदि संज्ञाएँ दी गई हैं। उन्हें ही सात घोड़े माना जा सकता है। सूर्य का रथ मन्त्रों में हिरण्यमय अर्थात् सोने का कहा गया है –

''हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्''

इसका तात्पर्य है कि सूर्यमण्डल में प्रकाश नहीं है। वर्तमानकाल के वैज्ञानिक भी सूर्यमण्डल में काले धब्बे बतलाया करते हैं और वे सूर्य का फोटो लेकर उससे सिद्ध करते हैं तथा यह भी कहते हैं कि ये काले धब्बे घटते बढ़ते रहते हैं। वस्तुतः मन्त्र में तो सूर्य के लोक अर्थात् मण्डल को कृष्णवर्ण ही कहा गया है–

''आकृष्णेन रजसावर्तमानो निवेशयन्नमृतम्मर्त्यञ्च''

किन्तु उनके चारों ओर जो सोममण्डल व्याप्त है वह सूर्य की किरणों के आघात से जल उठता है, उसी का प्रकाश चारों ओर फैला करता है। सूर्य के समीपवर्ती होने के कारण उसी को सूर्य का रथ माना गया और उसके ही घोड़े सारथी आदि का वर्णन ऊपर किया गया।

इस प्रकार परब्रह्म के प्रतिनिधिरूप जो पाँच देवता माने गये हैं, उन सबकी मूर्तियों का विवरण यहाँ किया गया। ऐसी रहस्यमयमूर्ति जिनसे परमात्मा परमेश्वर के ज्ञान में पूर्ण सहायता मिले, उनके द्वारा परमात्मा की उपासना कितनी आवश्यक है यह इस विवरण से पूर्णरूप से समझ में आ सकेगा। संभव है बहुत पाठक सज्जनों को यह शङ्का हो कि भगवद्गीता तो वैष्णवग्रन्थ है, इनमें शङ्कर आदि का इतना वर्णन करने की आवश्यकता क्या थी ? उनसे हमारा निवेदन होगा कि गीता में अद्वैतवाद ही प्रधान है। इसी कारण पुष्पिका में इसे ''अद्वैतामृतवर्षिणी'' कहा गया है। अद्वैतवाद में ब्रह्म और जगत् में किसी प्रकार अल्प भी भेद नहीं माना जाता, फिर ब्रह्म में मन और बुद्धि का प्रवेश न होने के कारण ब्रह्म के ही स्थान में जो पाँच रूप माने गये, उनमें तो भेद दृष्टि करने का कोई स्थान ही नहीं रहता। इसके अतिरिक्त लोक में इन सबके ही, विशेषकर विष्णु, शिव और शक्ति के उपासना-स्थान मन्दिररूप में भारत में सर्वत्र व्याप्त हैं। इसी कारण उन सबकी मूर्तियों का संक्षिप्त रहस्य उपासना प्रकरण में बतलाना हमें आवश्यक प्रतीत हुआ। अब मूर्तिपूजा पर जो आधुनिक युग में सामान्य मनुष्यों की शङ्काएँ होती हैं या कई समाजों की ओर से शङ्का उपस्थापित कर उपासकों के मन को अस्थिर करने का यत्न किया जाता है, उन शङ्काओं का समाधान अगले पुष्प में और कर इस प्रकरण की पूर्ति की जायेगी।

●

उनचासवाँ-पुष्प

(२) मूर्तिपूजा का समर्थन

प्रथमतः मूर्तिपूजा पर यह शङ्का उठाई जा सकती है कि उपासना में चित्त को एकाग्र करने के लिए यदि मूर्ति की आवश्यकता मानी भी जाय तो भी भिन्न-भिन्न प्रकार की इतनी मूर्तियाँ बनाने की क्या आवश्यकता है। एक प्रकार की ही मूर्ति से चित्त की स्थिरता का कार्य लिया जा सकता है ? इसका उत्तर होगा कि उपासकों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और सभी उपासकों का उपकार करना आवश्यक है इसी कारण नाना प्रकार की मूर्तियाँ कल्पित हुई हैं। कई सांसारिक मनुष्यों की चित्तवृत्ति क्रोधप्रधान ही होती है, वे सदा झगड़ा करने में ही प्रसन्न रहते हैं। घर में भी सबसे झगड़ना, बाहर गये तो दुकानदार आदि से भी विवाद कर आना, इष्टमित्रों पर भी सामान्य सी बात पर लड़ पड़ने में ही उनकी प्रवृत्ति रहा करती है। तब उनका चित्त स्थिर करने के लिए क्रोधप्रधान मूर्तियों की ही आवश्यकता होगी। जैसा कि हिरण्यकशिपु का वक्षःस्थल विदीर्ण करते हुए नृसिंह भगवान् की मूर्ति या अपने आयुधों से असुरों का रुधिर बहाने वाली भगवती चण्डिका की मूर्ति। ऐसी मूर्तियों में ही अपनी क्रोधरूप रुचि के अनुकूल होने के कारण उनका भी मन लग सकेगा और वे भी उपासनामार्ग में प्रवृत्त हो सकेंगे। पहिले ही उनकी चित्तवृत्ति में क्रोध की प्रधानता है, फिर क्रोधमयी मूर्ति की उपासना से तो उनका क्रोध और भी बढ़ जायेगा, इससे उलटा उनका अपकार ही होगा—ऐसी शङ्का करना अनुचित होगा, क्योंकि काम क्रोध आदि मन के दोष मन की चञ्चलता में ही उत्पन्न हुआ करते हैं, उपासना के द्वारा चित्त स्थिर हो जाने पर ये सब दोष निवृत्त ही होंगे, बढ़ेंगे नहीं। इसी अभिप्राय से श्रीभागवत में भगवान् का वचन है कि—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते ।।

अर्थात् मुझमें जिनने मन लगा लिया है उनके हृदय में काम की कामनाओं का सिलसिला नहीं बढ़ सकता, जैसे कि भूँज डालने पर धान अपना अङ्कुर पैदा नहीं कर सकता। यहाँ काम पद को मन के क्रोध आदि सब दोषों का उपलक्षण मानना चाहिये, अर्थात् उपासना से भूँजे हुए मन के दोष आगे अपना सिलसिला नहीं बढ़ा सकते।

इसी प्रकार कुछ अधिकारियों का मन शान्ति की ओर ही अधिक झुकाव रखता

है। वे सबसे शान्तिमय व्यवहार में ही रुचि रखते हैं। उनके उपयोग के लिए शान्तिमय भगवान् शङ्कर की मूर्ति ही लाभदायक हो सकती है। जिस शान्तिमय मूर्ति में अग्नि भी नेत्ररूप से विराजमान है और जल भी गङ्गारूप से जटाजूट में धारण है। विष भी कण्ठ में कालिमा की छंटा दिखा रहा है और अमृतमय चन्द्रमा भी शोभित है, किसी का कोई विरोधी नहीं। इस विषय का उपमन्यु के शिवस्तोत्र में विस्तृत वर्णन है कि–

सविषोऽप्यमृतायते भवान्,
शवमुण्डाभरणोऽपि पावनः ।
भव एव भवान्तकः सताम्,
समदृष्टिर्विषमेक्षणोऽपि सन् ।
अपि शूलधरो निरामयो
दृढवैराग्यरतोऽपि रागवान् ।
अपि भैक्ष्यचरो महेश्वर–
श्चरितं चित्रमिदं हि ते प्रभो ।

अर्थात् आप विष धारण करते हुए भी भक्तों के लिए अमृतरूप हैं। शवों के मुण्डों की माला को धारण करते हुए भी परम पवित्र हैं। आपका नाम 'भव' है किन्तु भक्तों के भव अर्थात् संसार का नाश करते हैं। आपकी दृष्टि अर्थात् नेत्र विषम अर्थात् तीन हैं (तीन विषम संख्या मानी जाती है) तो भी समदृष्टि हैं, अर्थात् सबको समानरूप से देखते हैं। आपको शूल है 'शूल एक प्रधान रोग होता है' किन्तु शूल धारण करते हुए भी आप सदा रागद्वेषों से रहित हैं। राग-द्वेष आदि आप में नहीं, इससे आपको वैराग्य सम्पन्न माना जाता है, किन्तु भगवती पार्वती पर आपका दृढ़-अनुराग भी है। आप स्वयं भिक्षाटन करते हैं, किन्तु भक्तों को सब कुछ देते हैं और आपका नाम भी महेश्वर है। यह आपका चरित्र सब जगत् से विचित्र ही प्रतीत होता है। ऐसी शान्तमयी मूर्ति की उपासना शान्त भक्तों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगी। ऐसे ही उन्नति या दुःखकाल में एकरूप रहने वाले भगवान् रामचन्द्र की उपासना भी शान्तिप्रिय उपासकों के लिए लाभदायक हो सकती है। इसी प्रकार कई अधिकारियों का मन सुन्दरता में विशेष लगता है। वे सौन्दर्य के ही उपासक होते हैं। सब जगह सौन्दर्य की ही खोज किया करते हैं। उनके लिए सौन्दर्यमय लक्ष्मी नारायण की ही मूर्ति उपयुक्त हो सकती है, जिसके कि सौन्दर्य का अद्भुत वर्णन कवियों ने किया है। जैसा कि श्रीअप्ययदीक्षित ने अपने वरदराजस्तव में कहा है–

नाथ त्वदंघ्रिनखधावनतोयलग्ना-

स्तत्कान्तिलेशकणिका जलधिं प्रविष्टाः ।

ता एव तस्य मथनेन घनीभवन्त्यो

नूनं समुद्रनवनीतपदं प्रपन्नाः ।

अर्थात् हे भगवान् विष्णु ! आपके चरण का सदा श्रीगङ्गा प्रक्षालन करती रहती हैं। उस प्रक्षालन के जल में जो आपके चरण नखों की कान्ति का कुछ अंश बह कर समुद्र में प्रविष्ट हो गया, समुद्र मन्थन के समय वही अंश इकट्ठा होकर समुद्र के मक्खन–चन्द्रमारूप से निकल पड़ा और भी कहा है–

तापत्रयौषधवरस्य तव स्मितस्य

निश्वासमन्दमरुता निबुसीकृतस्य ।

एते करण्डकरचया इव विप्रकीर्णा

जैवात्रिकस्य किरणा जगति भ्रमन्ति ।।

अर्थात् आपका जो मन्द हास है वही भक्तों के तीनों प्रकार के तापों की औषधि है, उस औषधि में से आपके निश्वास का वायु कूड़ा-करकट निकाल कर उसे स्वच्छ कर देता है, वही कूड़ा करकट चन्द्रमा के किरणों के रूप में चारों ओर जगत् में फैला रहा है, अर्थात् चन्द्रमा के किरण आपके मन्द हास के कूड़ा-करकट हैं। इस प्रकार के अद्भुत, जिसके सौन्दर्य का वर्णन कवि लोग करते हुए नहीं थकते, ऐसी सुन्दर मूर्ति सौन्दर्य के उपासकों को दी जाय तो उनका मन कितना एकाग्र हो सकेगा यह सोच लेना चाहिये। इसी प्रकार कोटिकाम कमनीय राधाकृष्ण की मूर्ति भी सुन्दरता के उपासकों के लिए परम उपयुक्त है। क्रीडा आदि करते हुए बालकों से प्रेम करने वाले उपासकों को भी कृष्ण की मूर्ति की उपासना ही उपयुक्त है। जैसा कि उनका वर्णन है –

गोधूलिधूसरितकोमलगोपवेशम्,

गोपालबालकशतैरनुगम्यमानम् ।

सायन्तने प्रतिगृहं पशुबन्धनाय,

गच्छन्तमच्युतशिशुं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ।।

अर्थात् गौओं की धूलि से जिनका अङ्ग धूसर वर्ण का हो रहा है, गौ चराने वालों के समान जिनका सुन्दर वेश है। सैकड़ों गो चराने वाले बालक जिनके साथ

हैं और सायंकाल गौओं को अपने घरों में बांधने के लिए जो घूम रहे हैं–ऐसे बालकरूप अच्युत भगवान् को मैं सदा प्रणाम करता हूँ। इसी प्रकार अद्भुत बातें देख कर ही जिन्हें आनन्द मिला करता है, ऐसे साधकों के लिए भी कालिय सर्प के फणों पर नृत्य करते हुए या गोवर्द्धन पर्वत को अपने नख पर उठाये हुए भगवान् कृष्ण की मूर्ति ही परम लाभदायक हो सकती है। श्रीवल्लभसम्प्रदाय में यशोदा की गोद में खेलते हुए कृष्ण ही मुख्यरूप से उपास्य माने जाते हैं। बालकों में अधिक प्रेम रखने वाले साधकों के लिए वैसे ही कृष्णमूर्ति चित्त को स्थिर करने वाली सिद्ध होती है। ऐसे ही भिन्न भिन्न रुचि के अधिकारियों के लाभार्थ अनेक प्रकार की मूर्तियों की आचार्यों ने कल्पना की है।

अब दूसरा प्रश्न मूर्तिपूजा पर यह किया जाता है कि चित्त की स्थिरता के लिए योग आदि अन्य उपाय भी हैं। फिर मूर्तिपूजा की ही विशेषकर क्यों आवश्यकता मानी जाय ? इसका उत्तर तो पूर्व के पद्यों में भगवद्गीता में ही स्पष्ट दे दिया गया है कि योग आदि में जो अव्यक्त की ओर मन लगाया जाता है उसमें क्लेश बहुत अधिक है और यदि जैसा कि योगदर्शन में कहा गया है कि 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (यो०सू० १।३९) जहाँ मन लगे उसी का ध्यान करते रहना चाहिए। इस उपदेश के अनुसार व्यक्त में ही मन लगाकर समाधि की जाय, तब तो वह योगमार्ग भी मूर्तिपूजा रूप ही हो गया, क्योंकि देहधारियों का मन तो व्यक्त मूर्तियों में ही लगा करता है। देहधारियों की प्रवृत्ति व्यक्त की ओर ही होती है। इसी कारण जो महानुभाव मूर्तिपूजा का विरोध करते रहे वे भी किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा की ओर झुक ही जाते हैं। जैसा कि दादू संप्रदाय के प्रवर्तक श्री दादूदयाल जी मूर्तिपूजा के विरोधी रहे। उन्होंने अपनी 'वाणी' में यह लिखा है कि टाँकी देकर गढ़े जाने वाले देवता को हम नहीं मानते न हमारे अनुयायियों को ऐसा देवता मानना चाहिये, किन्तु वे भी जहां ईश्वर का वर्णन अपनी 'वाणी' में करते हैं, वहां कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा सब नक्षत्र आदि उसी परमेश्वर की मानों घूम घूम कर आरती उतारते हैं। अब सोचिये कि आरती तो परिच्छिन्न की ही उतारी जाती है, सर्वत्र व्यापक परमात्मा की आरती भी कैसे उतारी जाय ? इसलिए आरती उतारना कह कर उन्होंने परमात्मा को परिच्छिन्न मान लिया और परिच्छिन्न मानते ही मूर्ति कल्पना है। इसी प्रकार श्रीस्वामी दयानन्दजी ने भी अपने ग्रन्थ में परमात्मा की मन से परिक्रमा करना लिखा है। परिक्रमा शब्द का अर्थ है "परितः क्रमण" अर्थात् चारों ओर घूमना। व्यापक परमात्मा का चारों ओर ही क्या हुआ ? और व्यापक के चारों ओर कोई घूम ही कैसे सकता है। इसलिए मन से भी परिक्रमा का उपदेश देते हुए उन्होंने भी मूर्तिपूजा के विरोधी होते हुए भी ईश्वर को परिच्छिन्न

मान लिया और परिच्छेद ही मूर्ति है। इसलिए कहा जा सकता है कि स्वभाव ने उन्हें भी मूर्तिपूजा की ओर झुका ही डाला।

अब तीसरा प्रश्न मूर्तिपूजा पर विरोधियों की ओर से यह उठाया जाता है कि वेद में या प्रामाणिक पुराणों में मूर्तिपूजा का कहीं विधान है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न रूप से विशकलित कर देखना चाहिये कि वेद में ईश्वर की पूजा का विधान है या नहीं एवं वेद में ईश्वर के अङ्गों का वर्णन है या नहीं ? और वेद में आकार कल्पना भी कहीं की गई है या नहीं ? पहिले प्रश्न का उत्तर होगा कि ईश्वर की पूजा का विधान वेद में स्थान-स्थान पर है, जैसा कि –

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधसो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ।।

(ऋक् सं० ६।५।६)

अर्थात् हे बुद्धिमान् पुरुषों ! तुम सब इन्द्र की पूजा करो, विशेष रूप से पूजा करो और हे पुत्रों ! तुम लोग भी इन्द्र की पूजा करो, जिस प्रकार जितेन्द्रिय पुरुष पूजा करते हैं।

एवं–

माचिदन्यद्विशंसत सखायो मारिषण्यत ।
इन्दमित्स्तोता वृषणं सचास्तुते मुहुरुक्था च शंसत ।।

(ऋक् सं० ५।७।१०)

"हे मित्रों ! इन्द्र के अतिरिक्त अन्य किसी की स्तुति न करो। अन्य की स्तुति करके अपने को क्षीण न बनावो, इन्द्र ही सभी कामनाओं की पूर्ति करने वाला है, इसलिए सामूहिक रूप से इन्द्र की ही स्तुति तुम लोग करो। (स्मरण रहे कि शङ्का करने वाले आर्यसामाजिक सज्जन इन्द्र आदि शब्दों को ईश्वर का ही वाचक मानते हैं)।

और भी देखिये–

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ।।

हम तीन नेत्र वाले शङ्कर भगवान् की पूजा करते हैं जो कि सुन्दर गन्ध से सुशोभित हैं और संसार के मनुष्यों की पुष्टि बढ़ाने वाले हैं। जिस प्रकार ककड़ी,

खरबूजा आदि अपने बन्धन स्थान से टूट कर अलग हो जाते हैं इसी प्रकार हम मृत्यु अर्थात् कर्म के बन्धन से मुक्त हो जावें और अमृत अर्थात् मोक्ष या परब्रह्म से मुक्त न होवें।

कहाँ तक कहा जाय ईश्वर की पूजा का विधान वेद में प्रतिपद् पर है। यदि ईश्वर की पूजा का विधान न होता तो ईश्वर का मानना ही व्यर्थ हो जाता। अब यहाँ यह भी सोचना चाहिए कि ईश्वर की पूजा बिना मूर्ति कल्पना की कैसे हो सकती है? "अर्च-पूजायाम्" भगवान् पाणिनि ने अर्च धातु का पूजा ही अर्थ बतलाया और पूजा शब्द गन्ध पुष्प आदि के अर्पण में ही प्रसिद्ध है। व्यापक परब्रह्म को गन्ध पुष्प आदि का अर्पण बिना मूर्ति कल्पना के किया ही नहीं जा सकता। ईश्वर के मानने का मनुष्यों को यही तो फल है कि वे उसकी पूजा, अर्चा आदि कर अपना उद्धार कर सकें।

अब दूसरी बात जो ईश्वर के अङ्ग वर्णन की है उसके कई उदाहरण पूर्व द्वितीय अध्याय के ६१वें श्लोक की व्याख्या में दिये जा चुके हैं और भी कुछ मन्त्र अङ्ग प्रतिपादन के यहाँ दिये जाते हैं–

आश्रुतकर्णश्रुधी हवंनूचिद्दधिष्व मे गिरः ।
इन्द्रस्तोममिमं मम कृष्वायुजश्चिदन्तरम् ।।

(ऋ० सं० १।१।२०।३)

अर्थात् हे अधिक सुनने वाले इन्द्र ! मेरी प्रार्थना को अच्छी तरह सुनो और उसे सुनकर पूर्व की तरह ये मेरे वचन भी हृदय से धारण करो और हे इन्द्र ! तुम्हारे लिए प्रयुक्त इस मेरे स्तोम को बार-बार श्रवण करो।

एवं इन्द्र की ही प्रार्थना में दूसरा मन्त्र है–

आद्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याह्याचतुभिराषड्भिर्हूयमानः ।
अष्टाभिर्दशभिः सोमपेयमयं सुतः सुमखः मा मृधस्कः ।।

(ऋ०सं० २।६।२१।४)

हे भगवान् इन्द्र ! दो, चार छह, आठ या दस घोड़े के रथ में विराज कर यहाँ पधारो। ये सोम तुम्हारे लिए तैयार है।

ऐसे भी शतशः मन्त्र वेदों में प्राप्त हैं, जिनमें देवताओं के अङ्गों का या अङ्गों से किये जाने वाले कार्यों का विवरण विस्तार से प्राप्त होता है और यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि मूर्ति पूजा का विरोध करने वाले आर्यसमाज के विद्वान् श्रीस्वामीदयानन्दजी

के कथनानुसार देवताओं के बोधक शब्दों को वे ईश्वर का ही वाचक मानते हैं। अब यह भी देखना होगा कि ईश्वर के मुख्य अङ्ग नेत्र आदि तो हो नहीं सकते, तब कल्पित मूर्तियों के अङ्गों का ही वह वर्णन मानना होगा, यदि ईश्वर के मुख ही अङ्ग मान लिये जाँय तो फिर व्यापकता की हानि हो जायेगी और ईश्वर साकार वेद से सिद्ध हो गया तो उसकी प्रतिकृति बनाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकेगा। वेद में आकार कल्पना का विशिष्ट उदाहरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है और भी आकार कल्पना के कई उदाहरण वेदों में प्राप्त हैं। आक्षेपकर्ता सज्जन तो यहां तक साहस करते हैं कि पुराण, रामायण आदि में भी मूर्तिपूजा नहीं है, किन्तु वहाँ तो स्पष्ट ऐसे वर्णन प्राप्त होते हैं जिनका कोई दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। जैसा कि श्रीवाल्मीकीयरामायण में जब भगवान् रामचन्द्र सीता को साथ लेकर पुष्पक विमान में लङ्का से लौट रहे हैं तब सीता को अनेक स्थान दिखा रहे हैं, वहाँ लिखा है कि–

एतत्तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ।
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येनाभिपूजितम् ।।
एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ।
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोत्प्रभुः ।।

(वा०रा०यु० १२६।१५-१६)

अर्थात् महासागर पर जो यह तीर्थ दिखाई दे रहा है, "सेतुबन्ध" इस नाम से विख्यात है, तीनों लोकों में पूजनीय एवं परम पवित्र तथा बड़े-बड़े पापों को नष्ट करने वाला है। यहाँ पहिले भगवान् शङ्कर ने कृपा की थी। श्रीस्वामीदयानन्दजी ने एक श्लोक का कुछ ही भाग लिखकर इसका यह अर्थ कर दिया कि यहाँ मैंने तेरे वियोग में चौमासा किया था। यहाँ चौमासा करना किस शब्द का अर्थ है यह वे ही महानुभाव जान सकते हैं। श्रीमद्भागवत में तो आठ प्रकार की प्रतिमा भी गिनाई गई हैं–

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मानोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ।।

(११।२७।१२)

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं कि पूजा के लिए मेरी मूर्ति आठ प्रकार की होती है–पत्थर की, लकड़ी की, लोहा की, मिट्टी अथवा चन्दन के लेप की, लेख्या अर्थात् सुवर्ण आदि पर लिखे मन्त्र की, बालुका की, मणि की और मनोमयी अर्थात् अपने मन को मेरे स्वरूपमय बनाना। अब चौथा आक्षेप यही अवशिष्ट रहता है जो

मूर्तिपूजा पर आक्षेप करने वालों का एक ब्रह्मास्त्र है कि वेद में जब मूर्ति का स्पष्ट निषेध लिखा है, तब मूर्ति बनाना और उसकी पूजा स्पष्ट ही वेद से विरुद्ध हो जाता है। इसका प्रधान मन्त्र वे यह दिया करते हैं कि–

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येष ।।

(यजु०सं० ३२।३)

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध से ही आक्षेपकर्ता लोग मूर्तिपूजा का निषेध निकाला करते हैं और इसका यही अर्थ किया करते हैं कि उस परमात्मा की कोई प्रतिमा अर्थात् मूर्ति नहीं है, जिसका कि बहुत बड़ा यश है। अब विचार करने की बात है कि पूर्वचरण में "तस्य" पद आया है और दूसरे चरण में "यस्य" पद आया है। यस्य और तस्य का परस्पर सम्बन्ध संस्कृतभाषा के जाननेवाले सभी माना करते हैं। उनका परस्पर सम्बन्ध यहाँ कार्य-कारणभाव के अतिरिक्त कुछ हो ही नहीं सकता। कार्यकारणभाव से यही अर्थ होगा कि जिस परमात्मा का बहुत बड़ा यश है, उस परमात्मा की कोई प्रतिमा हो नहीं सकती। बहुत बड़ा यश होना कारण हुआ और प्रतिमा न होना कार्य। यह बिलकुल उलटी बात है कि जिसका बहुत बड़ा यश हो उसकी मूर्ति न बनाई जाय। लोक में तो ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है बहुत बड़ा यश हो उसके अनेक चित्र लिए जाते हैं और पत्थर आदि के "स्टेच्यू" भी अनेक स्थान पर रक्खे जाते हैं। तब ऐसी उलटी बात वेद ने क्यों कही ? ऐसा विचार करने पर यह अर्थ अप्रामाणिक ही सिद्ध होगा। यहाँ प्रकरण भी ऐसा अर्थ करने के विरुद्ध ही है। यह मन्त्र यजुर्वेदसंहिता में जहाँ आया है उसे पूर्व पुरुषसूक्त है और आगे के मन्त्रों में भी परमात्मा के बड़े यश का ही वर्णन प्राप्त होता है। इन्हीं सब बातों को सोच कर यहाँ भाष्यकारों ने "प्रतिमा" शब्द का अर्थ प्रतिमान अर्थात् समानता ही किया है। तब यह सुसंगत अर्थ हो जायेगा कि जिस परमात्मा का बहुत बड़ा यश है और जो सब संसार का उत्पादक है उसके समान कोई नहीं हो सकता। यही अर्थ प्रकरणसंगत और मन्त्र के द्वितीय चरण के कहे हुए कार्यकारणभाव से भी सुसंगत होगा। यदि प्रकरण संगति की ओर ध्यान न देकर एवं "प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः"–(एक एक मन्त्र का पृथक् अर्थ नहीं करना चाहिये किन्तु प्रकरण के अनुसार ही अर्थ करना चाहिए) इस निरुक्तकार के कथन पर ध्यान न देकर एक एक मन्त्र का मनमाना अर्थ किया जाय तो मूर्तिपूजा की ओर से भी यह मन्त्र उपस्थित किया जा सकता है कि–

एह्याश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वे देवा आयुष्टे शरदः शतम् ।।

इसका हम अर्थ करेंगे कि हे भगवन् जगदीश्वर ! आओ और इस प्रस्तर की प्रतिमा में विराजो। तुम्हारी इस प्रतिमा की विश्वेदेवा सौवर्ष की आयु करें। यदि कहा जाय कि ऐसा अर्थ करना न प्रकरण के अनुकूल है न सनातनधर्मानुयायी भाष्यकारों ने ही ऐसा अर्थ किया है, तब तो हम भी दिखा चुके हैं कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' का अर्थ जो आप करते हैं वह भी न प्रकरण के अनुकूल है न प्राचीन भाष्यकारों ने ही ऐसा अर्थ माना है। एक ईशावास्योपनिषद् या शुक्ल यजुर्वेद संहिता के ४०वें अध्याय का यह मन्त्र भी ईश्वर के शरीर निषेध के लिए उपस्थित किया जाता है कि–

सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ना-
विरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूर्याथा-
तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।

इसमें स्वयम्भू और सब अर्थ के बनाने वाले ईश्वर के अकायम्, अव्रणम् इत्यादि विशेषण दिये गये हैं। इससे ईश्वर का काय अर्थात् शरीररहित होना सिद्ध हो जाता है। फिर उस शरीर विरहित ईश्वर का प्रतिमारूप शरीर बनाना सर्वथा अनुचित ही होगा ? इसका उत्तर है कि एक तो मन्त्र का यह अर्थ करना ही असङ्गत है, क्योंकि यहाँ उत्तरार्द्ध में कवि आदि जो विशेषण आये हैं, वे सब प्रथमान्त और पुल्लिङ्ग के रूप हैं और पूर्वार्द्ध में अकायम् आदि विशेषणों को या तो द्वितीयान्त माना जाय–ऐसा करने पर आदि के "सः" पद के साथ उनका अन्वय नहीं होगा और 'पर्यगात्' क्रिया के साथ सम्बन्ध भी इन द्वितीयान्तों का कर्ता रूप से नहीं बन सकेगा। इसके लिए उत्तरार्द्ध के कवि आदि को ही इसका कर्ता मानना पड़ेगा, किन्तु उत्तरार्द्ध में 'व्यदधात्' क्रियापद पृथक् उपस्थित है, इसलिए वह भी असङ्गत ही रहेगा। इस कारण इस मन्त्र का अर्थ तो जो कुछ श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने लगाया है वही उपयुक्त है कि–इसके पूर्व मन्त्र में जो 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' आया है उसी से इस मन्त्र का भी सम्बन्ध है, अर्थात् "मातरिश्वा" नाम का वायु जब अप् अर्थात् सोम के भागों को अग्नि पर अर्पित करता है तो "शुक्र" नाम का एक पदार्थ उत्पन्न होता है जो कि आगे सब जगत् का उत्पादक बनता है। इस शुक्र का वर्णन वेद में अन्यत्र भी आया है–'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' अर्थात् यह जो शुक्र जगत् की पूर्वावस्थारूप उत्पन्न हुआ वह कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है, अपितु अमृतपद से कहे हुए ब्रह्म और ब्रह्म, यहाँ कही हुई ब्रह्म की शक्ति या प्रकृति का ही एक रूप है। ये परब्रह्म, प्रकृति और शुक्र एक ही हैं। इनमें भेद नहीं समझना चाहिए। इसी शुक्र का इस प्रकृत में आरम्भ में ही

निर्देश किया गया और उसी शुक्र के विशेषण आगे दिये गये हैं कि वह जो शुक्र वायु के हवन से उत्पन्न होता है वह अकाय है—अर्थात् दूसरे किसी पदार्थ का चयन (चिनाई) उसमें नहीं है और उसके बीच में कोई व्रण अर्थात् छिद्र भी नहीं है तथा स्नायु अर्थात् कहीं गाँठ भी नहीं है। इस प्रकार वह शुद्ध और पाप अर्थात् दोषों से न वेधा हुआ जो शुक्र है उसको वही पूर्वोक्त मातरिश्वा वायु, पर्यगात् अर्थात् चारों ओर से वेष्टित करता है। पूर्वार्द्ध के सब विशेषण शुक्र के द्वितीयान्त हैं। उत्तरार्द्ध में उसी मातरिश्वा वायु के विशेषण आये हैं, वह कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी है। सोम का परिणाम होने के कारण, उसमें मन का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण वह जड़ नहीं है अतएव मनीषी भी है, अर्थात् सोम के परिणाम रूप मन का वह स्वामी है। चारों ओर शुक्र को व्याप्त किये हुए है और स्वयम्भू अर्थात् स्वयं ही उत्पन्न है किसी के व्यवधान से उत्पन्न नहीं और वही शुक्र द्वारा सब अर्थों को सदा के लिए उत्पन्न करता है—यही इस मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ है। इस अर्थ के अनुसार इसमें ईश्वर की कोई चर्चा ही नहीं।

यदि पुराने भाष्यकारों के मतानुसार पूर्वार्द्ध के विशेषणों को वैदिकभाषा के परिवर्तनानुसार नपुंसक मानकर प्रतिवादियों का ही किया हुआ अर्थ मान लिया जाय तो भी वहाँ यह प्रश्न होगा कि जब 'अकायम्' कह दिया तो फिर 'अव्रणम्' और 'अस्नाविरम्' कहने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। जब शरीर ही नहीं तो व्रण या स्नायु का कोई सम्बन्ध ही सम्भव नहीं। अमुक पुरुष के कोई बालक नहीं है और उसके मुख में दाँत भी नहीं है—ऐसा व्यवहार तो कहीं भी नहीं देखा जाता ? इससे तो यही सिद्ध होगा कि ईश्वर का शरीर व्रण और स्नायु से रहित है, इसलिए उसे सर्वसाधारण शरीर नहीं कहा जा सकता, तब तो व्रण आदि से रहित ईश्वर का शरीर ही इससे सिद्ध हो गया। तब फिर उसकी प्रतिकृति प्रतिमा रूप से बनाने में भी कोई दोष नहीं रहा।

इसी प्रकार ईश्वर या परब्रह्म में जो रूप आदि का निषेध करने के वचन संहिता या उपनिषदों में मिलते हैं—जैसा कि—

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूँषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

अर्थात् जो आँख से नहीं देखा जाता क्योंकि आँख में देखने की शक्ति उसी परब्रह्म से प्राप्त है, तब कोई भी चतुर नर अपने कन्धे पर अपने आप नहीं चढ़ सकता, इसी कारण आँख और सबको देखती है, स्वयं अपने को नहीं देख सकती। जब आँख आँख को भी नहीं देख सकती तो आँख के भी भीतर बैठा हुआ जो आँख

को शक्ति दे रहा है उसे देखने की तो कथा ही क्या ? बस, आँख आदि इन्द्रियों से जो नहीं देखा जाता उसी को हे शिष्य ! तुम ब्रह्म समझो। जिसकी सब लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार रूप रस आदि सब गुणों का निषेध करने पर ब्रह्म या ईश्वर निराकार ही सिद्ध हो जाता है; तब उस निराकार की आकार कल्पना कैसी ? इसका उत्तर तो हम पूर्व ही दे चुके हैं कि परब्रह्म या ईश्वर का कोई वास्तविक आकार नहीं है, किन्तु उपासक लोग अपने चित्त को स्थिर करने के लिए कल्पित आकार बना लेते हैं। यदि यहाँ यह कहा जाय कि उक्त वचन में 'नेदं यदिदमुपासते' भी लिखा गया है, इसका अर्थ है कि जिसकी सब सांसारिक लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं, इस कथन से तो आपकी बनाई हुई मूर्तियों का ब्रह्म या ईश्वर से भिन्न होना सिद्ध हो गया ? तो उत्तर होगा कि यह कथन तो उलटा आपके विपरीत पड़ेगा, क्योंकि यहाँ उपास्यरूप को ब्रह्म से भिन्न बतलाया गया है और 'उपासते' यह वर्तमानकाल की क्रिया है, इससे तो यही सिद्ध होगा कि वेद के समय में वहाँ उससे भी पूर्व ऐसी मूर्ति की उपासना प्रचलित थी, फिर इतनी प्राचीन मूर्ति पूजा को आजकल के लोग भी मानें या करें तो इससे उनकी प्रशंसा ही सिद्ध होगी, कोई आक्षेप उन पर नहीं हो सकता। फिर यह भी तो देखिये कि यहीं आगे चलकर यह वचन भी आता है कि–

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

अर्थात् जो मन से भी नहीं जाना जाता, (इन मन्त्रों में पश्यति, मनुते, इत्यादि कर्मवाच्य के प्रयोग हैं, वेद में इन्हें कर्तृवाच्यरूप में प्रयुक्त कर दिया गया है। जैसा और भी सैकड़ों जगह वेद में क्रियाओं के परिवर्तन देखे जाते हैं) क्योंकि मन में भी मनन करने की शक्ति उसी ब्रह्म से प्राप्त है; इसलिए पूर्वोक्त न्याय से मन भी उसका मनन नहीं कर सकता, तब विचार कीजिए कि मन से ईश्वर का चिन्तन तो आप भी मानते हैं। यदि मन से चिन्तन न करें तो आँख बन्द कर सीधा शरीर कर एकान्त में क्यों बैठते हैं ? इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर का पूजा, ध्यान आदि कुछ भी न किया जाय तो फिर मनुष्यों को ईश्वर का उपदेश ही वेद ने क्यों किया ? क्योंकि मनुष्यों को उस उपदेश से कोई लाभ नहीं ? इससे अन्ततः यही मानना पड़ेगा कि जनसाधारण पहिले कर्म या उपासना करते हुए आगे बढ़ते जाते हैं, अन्त में जब ज्ञानकाण्ड में पहुँचते हैं अर्थात् परिपक्व ज्ञानी बन जाते हैं, तब परब्रह्म में सर्वधर्मों का निषेध उन्हें श्रुति बता देती है और इस प्रकार सर्वधर्मगुण शून्य परब्रह्म को जानकर वे अपने आत्मा को उसी में लीन कर देते हैं। जब तक पूर्ण ज्ञान न हो अर्थात् एक ही परब्रह्म

सर्वत्र व्यापक है और वही हमारे आत्मा में भी है, हम भी उससे पृथक् नहीं–ऐसा अद्वैत ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान कहा जाता है और उस ज्ञान के लिए ही ये सब वचन हैं। इस प्रकार का ज्ञान जब तक उदित न हुआ हो तब तक सब सांसारिक मनुष्य अज्ञानी ही कहे जा सकते हैं और उनके लिए ही कर्म उपासना आदि सब शास्त्रों में बतलाए गये हैं, जिससे वे भी क्रमिक उन्नति कर सकें। इसलिए "प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" इत्यादि वचन कह कर प्रतिमापूजक अज्ञानी हैं–ऐसा उपहास करना भी किसी प्रकार उपयुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संसार के सभी मनुष्य जब तक अद्वैत ज्ञान न प्राप्त हो तब तक उपनिषदों में अज्ञानी कहे गये हैं और जब अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो जाय तब कर्म उपासना आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं रहती। सभी ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि सब वेदों को ही उपनिषदों में अपरा विद्या कहा गया है और इनके बतलाए हुए कर्म, उपासना आदि को अज्ञानी अर्थात् पूर्ण रूप से अद्वैत साक्षात्कार जिन्हें न हुआ हो उनके लिए ही माना है।

इस प्रकार वेद के संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि भागों में जो मूर्तिपूजा का विरोध दिखाने की चेष्टा प्रतिपक्षियों की ओर से की जाती है, उस सबका उत्तर यहाँ दिया गया। अब पुराण आदि में भी जो मूर्तिपूजा का विरोध प्रदर्शन किया जाता है, उस पर भी कुछ कहना आवश्यक है। श्रीभागवत् के दशमस्कन्ध का मुनियों के प्रति भगवान् कृष्ण के कथन का यह पद्य कई विद्वान् उपस्थित करते हैं–

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।।

(अ० ८४ श्लो० १३)

इसका अर्थ है कि तीन–वात, पित्त, कफ धातुओं से बने हुए अन्त में श्मशान में जो अवश्य भस्म होगा उस शरीर को ही जो आत्मा मान लेता है और पुत्र, स्त्री आदि को जो अपना ही स्वरूप मानता है एवं भूमि के बने हुए पदार्थों में जिसकी पूज्य बुद्धि होती है और सामान्य जलमात्र को जो तीर्थ समझ लेता है, ज्ञानवान् आप जैसे ऋषि मुनि आदि में जिसकी पूज्यबुद्धि नहीं होती, वह बैल या गदहा कहने योग्य है। यहाँ भूमि के बने पदार्थों में पूज्यबुद्धि रखने वाले को बैल या गदहा बतलाया गया है। मूर्तिपूजकों की मूर्तियाँ भी मृत्तिका, पाषाण आदि की ही बनी हुई होती हैं और उनमें मूर्तिपूजक पूज्यबुद्धि रखते हैं, इसलिए उन्हें श्रीभागवत् में ही बैल या गदहा बतलाया गया। इससे पुराण में भी मूर्तिपूजा का विरोध सिद्ध हुआ–यह आक्षेप बिलकुल बेसमझी का है, क्योंकि मूर्तिपूजकों को भूमि के पदार्थ मृत्तिका पाषाण आदि में पूज्य बुद्धि

बिल्कुल नहीं होती। उस मूर्ति को द्वार बनाकर जिस परमात्मा में वे अपना चित्त लगाते हैं, उसी परमात्मा में उनकी पूज्य बुद्धि रहती है। वे परमात्मा को पूज्य मानते हैं न कि मृत्तिका, पाषाण आदि की बनी हुई मूर्तियों को, जैसा कि हम द्वितीय अध्याय में दिखा चुके हैं कि मूर्तिपूजक पाषाण की मूर्ति के आगे खड़ा होकर कहा करता है कि जिसमें पृथिवी जल, तेज आदि कुछ भी नहीं हैं और जिसकी कोई मूर्ति भी नहीं है– ऐसे परमात्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। ऐसी ही बुद्धि से सब लोग मूर्ति को द्वार बनाकर विष्णु, शिव आदि या उनके अवतार राम कृष्ण आदि को ही प्रणाम किया करते हैं, उनमें ही पूज्यबुद्धि रखते हैं। पद्य में जो भूमि के पदार्थों में पूज्य बुद्धि वाले बतलाए गये हैं उसका तात्पर्य तो उन लोगों से है जो भूमि से बने हुए मकान, अन्न, धन आदि को ही सर्वस्व मानकर उनमें ही पूज्यबुद्धि या प्रतिष्ठा रक्खें, उन्हें गोखर कहा गया है। मूर्तिपूजकों पर यह वाक्य किसी प्रकार घटित नहीं हो सकता। ऐसा ही आशय इसके पूर्व के पद्यों में भी आया है कि –

नह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ।।

अर्थात् केवल जलाशय ही तीर्थ नहीं हैं और मृत्तिका या पाषाण से बने हुए ही देवता भी नहीं हैं क्योंकि वे तीर्थ और देवता तो बहुत काल में मनुष्यों को पवित्र किया करते हैं और आप जैसे सत्पुरुष तो दर्शनमात्र से सबको पवित्र कर देते हैं। यहाँ वहीं मीमांसा का न्याय लगाना चाहिये कि "न निन्दा निन्द्यान् निन्दितुं प्रवर्तते अपितु स्तुत्यान् स्तोतुम्" अर्थात् ऐसे अवसरों में जहाँ एक के सामने दूसरे की निन्दा की जाती है, वहाँ उस निन्दा का उस निन्दनीय की निन्दा में तात्पर्य नहीं होता, किन्तु जिसकी स्तुति की जाती है उसकी स्तुति में ही सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्य समझना चाहिये। इसी न्याय के अनुसार यहाँ तीर्थ रूप से माने गये जलाशयों की या देवताओं के प्रतिनिधिरूप से मानी गई मृत्तिका पाषाण आदि की मूर्तियों की निन्दा में तात्पर्य नहीं, अपितु सम्पूर्ण पद्य का तात्पर्य मुनियों की स्तुति में ही है। यही पद्य के तृतीय चरण में भी स्पष्ट किया गया है कि वे जलाशय या मूर्तियाँ बहुत काल में फल देती हैं और सत्पुरुष तो तत्काल ही पवित्रता रूप फल दे देते हैं। इससे सत्पुरुषों की स्तुति में ही तात्पर्य है–यह स्पष्ट हो गया। बहुत काल में ही सही किन्तु अन्ततः पवित्रता तो जलाशयरूप तीर्थ और मृत्तिका पाषाण की बनी हुई मूर्तियाँ भी देती ही है यह पद्य में ही स्पष्ट किया। इसी प्रकार पुराणों के वचनों की भी संगति सर्वत्र सिद्ध हो जाती है। मूर्तिपूजा का विरोध कहीं भी सिद्ध नहीं होता।

कई विद्वान् एक वेदान्तसूत्र भी वेद में उपस्थित किया करते हैं। वह सूत्र है–

"न प्रतीके नहि सः" (ब्रह्मसू०अ० ४पा० १ सू० ४) इसका वे यह अर्थ करते हैं कि प्रतीक में ब्रह्म दृष्टि नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह प्रतीक ब्रह्म नहीं है। मूर्ति भी एक प्रतीक ही है इसलिए उसमें ब्रह्म दृष्टि न होने से उसकी पूजा व्यर्थ ही सिद्ध हुई। किन्तु यह आक्षेप भी न समझने के कारण ही है, क्योंकि भाष्यकार ने इस सूत्र का अर्थ किया कि "मनोब्रह्मेत्युपासीत", "आकाशो ब्रह्म" "आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः" इत्यादि श्रुतियों में जो मन, आकाश और आदित्य इत्यादि को ब्रह्म कहा गया है, वे ही यहाँ प्रतीकशब्द से लिये गये हैं, क्योंकि वेदान्तसूत्र उपनिषदों की ही मीमांसा करते हैं। इसलिए सूत्रों में उनका ही ग्रहण युक्तियुक्त है। उनमें साधक को अपना आत्मग्रह करना चाहिये या नहीं, अर्थात् अपने आत्मा की उन मन, आदित्य आदि के साथ एकत्व की भावना करनी चाहिये या नहीं ? इस सन्देह के निराकरण के लिए यह सूत्र प्रवृत्त है। सूत्रकार कहते हैं कि उन प्रतीकों में अर्थात् मन, आकाश, आदित्य आदि में आत्मा की अभेद भावना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे प्रतीक साक्षात् ब्रह्मरूप नहीं हैं ब्रह्म से बने हुए हैं और साधक का आत्मा भी ब्रह्म का ही अंश है, किन्तु जैसे सोने के बने आभूषण कटक, कुण्डल, रुचक आदि सब सोने से अभिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु वे परस्पर एक नहीं हो सकते। कड़ा कड़ा ही रहेगा और कानों का कुण्डल कुण्डल ही रहेगा। इसी प्रकार ब्रह्म से बने हुए आकाश आदित्य आदि और ब्रह्म के अंश जीव, ये सब भी ब्रह्म से अभिन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु इन सबमें परस्पर एकता नहीं हो सकती– यही सूत्रकार का निर्णय है। यहाँ मूर्ति पूजा का कोई प्रसङ्ग ही नहीं। बस, अब अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं। मूर्तिपूजा के विरोध में जो श्रुति, पुराण, सूत्र आदि प्रतिपक्षियों की ओर से उपस्थित किये जाते हैं, उन सबका स्पष्ट उत्तर हमने यहाँ लिख दिया और अपने दृढ़ प्रमाण तथा युक्तियों से मूर्तिपूजा का समर्थन भी कर दिया। इसी को भगवान् कृष्ण ने प्रस्तुत पद्य में भी कहा है कि अभ्यास करने में भी तुम असमर्थ हो तो मेरे कर्म-मन्दिरों की स्वच्छता, चन्दन पुष्प आदि इकट्ठे कर उनको मुझे अर्पण किया करो। उसी से धीरे धीरे मन मेरी ओर झुकेगा और फिर अभ्यास से मुझमें अर्थात् ईश्वर में स्थिर हो जायेगा, इस प्रकार क्रम से सिद्धि प्राप्त कर लोगे। (१०)

●

पचासवाँ-पुष्प

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।११।।
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

आगे कहते हैं कि यदि इस प्रकार मेरे कर्म अर्थात् मेरी पूजा के उपस्कर जुटाने आदि में भी अपने को असमर्थ पाते हो, जैसा कि किसी भोक्ता ब्राह्मण का एक किस्सा कहा जाता है, वह निमन्त्रण में बहुत भोजन कर आया था इससे रुग्ण होकर वैद्य को बुलाया, वैद्य ने अपने पास से गोलियाँ निकाल कर दीं कि इन्हें जल के साथ खा जाओ, तो वह कहने लगा कि वैद्य जी यदि मेरे पेट में इतना स्थान होता तो एकाध लड्डू ही क्यों न खाता। वैसी ही बात यहाँ भी है कि यदि सांसारिक पुरुषों के पास इतना पूजा के उपकरण आदि लगाने का समय हो तो वे उस समय में संसार के दूसरे काम ही क्यों न करें। इस विचार के अनुसार पूजा आदि के उपकरण जुटाने का भी समय यदि तुम्हारे पास न हो तो परम कृपालु भगवान् उसे भी छोड़ देना चाहते हुए कहते हैं कि अच्छा नया काम कुछ मत करो, जो कुछ भी करते हो उसके फल का त्याग कर दो, अर्थात् जो कर्म करते हो, वे ही कर्म फल की इच्छा त्याग कर किया करो। उनके फलों में चित्त मत लगाया करो। इस प्रकार मेरे योग अर्थात् मेरे साथ सम्बन्ध करने वाले कर्मयोग का आश्रय तुम्हें मिल जायेगा और धीरे-धीरे आत्मा अर्थात् अन्तःकरण का संयम–एकाग्रता करने में सफल हो जाओगे। इस प्रकार क्रम से सरल से सरल उपाय कहते जाना भगवान् की परम कृपालुता अभिव्यक्त करता है।

"मद्योग" शब्द का अर्थ वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तमजी यह करते हैं कि मेरे साथ योग रखने वाले मेरे भक्तों का ही तुम आश्रयण किया करो, अर्थात् उनके साथ मिलना-जुलना आरम्भ कर उनसे प्रेमबन्ध स्थापित करो। इससे धीरे-धीरे पूर्व पद्यों में कहे हुए सब उपाय क्रमशः सिद्ध होते जायेंगे। (११)

यह इस अध्याय का १२वाँ श्लोक एक प्रकार से कूट श्लोक कहने के योग्य है। महाभारत के आरम्भ में ही लिखा है कि जब श्रीभगवान् वेदव्यास महाभारत की रचना करने लगे, तब उन्हें चिन्ता हुई कि मैं तो बनाता जाऊँगा, किन्तु इतने बड़े ग्रन्थ को लिखेगा कौन ? उन्होंने श्रीगणेशजी से प्रार्थना की कि आप इसके लेखक बन

जाइये। श्रीगणेशजी ने कहा मैं इस प्रतिज्ञा पर लिख सकता हूँ कि मेरी लेखनी न रुके। श्रीव्यासजी ने कहा कि यह तो मैं मान लेता हूँ, किन्तु इतना आपको भी मानना पड़ेगा कि जो कुछ लिखो वह अर्थ समझ कर लिखना। श्रीगणेशजी ने भी यह स्वीकार कर लिया। तब व्यास भगवान् ने यह उपाय सोचा कि कुछ सामान्य बना देने के अनन्तर एक-एक कूटश्लोक वे वहाँ रख देते थे। उसका अर्थ समझने में श्रीगणेशजी को भी कुछ समय लग जाता था। इतने समय में वे और बहुत से पद्य बना लेते थे। इस प्रकार के कूटश्लोकों की गणना भी भगवान् व्यास ने कर दी है कि –

अष्टौ श्लोकसहस्राणि,
अष्टौ श्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति,
संजयो वेत्ति वा नवा ।।

अर्थात् आठ हजार आठ सौ श्लोक इस ग्रन्थ में इतने कठिन हैं कि उन्हें स्वयं मैं जानता हूँ या शुकदेव जानता है और मेरा शिष्य संजय जानता है या नहीं ? ऐसा सन्देह भगवान् व्यासजी को क्यों हुआ, इस विचार से इस पद्य को कूट में ही गिनते हैं और यहाँ "वानवा" शब्द का "वानवा चतुरः पुमान्" ऐसा अर्थ करते हैं, अर्थात् "वा नवा" यह सन्देहवाचक नहीं है, किन्तु "वानवा" एक पद है और वह चतुर पुरुषों का वाचक है। इससे पूर्वोक्त पद्य का यह अर्थ हुआ कि मैं जानता हूँ, शुकदेव जानता है, संजय जानता है और चतुर पुरुष जान सकते हैं। यहाँ यह प्रसङ्ग कहने का हमारा तात्पर्य यह है कि यह बारहवाँ श्लोक उन्हीं कूटश्लोकों के अन्तर्गत प्रतीत होता है। इसी कारण सभी व्याख्याकार इस पर भिन्न-भिन्न मार्ग लेते हैं। उन सबका प्रदर्शन कर हम अपना मत अन्त में दिखावेंगे।

श्रीशङ्कराचार्य इसकी व्याख्या यों करते हैं कि अविवेकपूर्वक अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक श्रेयस्कर है और उस ज्ञान से भी ज्ञानपूर्वक ध्यान श्रेष्ठ है तथा उससे भी ज्ञान ध्यानपूर्वक कर्मों का फल छोड़ना श्रेष्ठ है। उस कर्मफलत्याग के कारण अविद्या सहित संसार की शांति अर्थात् उपशम, अनन्तर अर्थात् बिना व्यवधान के ही प्राप्त हो जाता है। इस अपने कथन का आशय वे स्वयं ही प्रकट करते हैं कि पूर्व पद्यों में चित्त की स्थिरता के क्रमिक उपाय बतलाये गए और यह भी कहा गया कि यदि यह नहीं कर सकते हो तो यही करो। इससे यही सिद्ध होता है कि पूर्व पूर्व के अनुष्ठान में जो समर्थ नहीं है उसी को आगे का उपाय कृपापूर्वक भगवान् ने बतलाया। सबके अन्त में कर्मफल त्याग कहा, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते हो तो जो कर्म करते हो उन्हें ही फल की आशा छोड़कर किया करो। उसी फल के त्याग को इस

श्लोक के द्वारा स्तुति की जाती है कि यह कर्म फल त्याग सबसे श्रेय है अर्थात् उत्कृष्ट है। इस स्तुति का कारण यह है कि–

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा यस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति

इस श्रुति में ज्ञानपूर्वक हृदय की सब कामनाओं का क्षय हो जाय, तब क्षय होते ही मनुष्य अमृत अर्थात् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार ज्ञानपूर्वक कामक्षय का विधान किया गया है।

यहाँ बिना पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये भी जो कर्मफल का त्याग बतलाया, वह फल का त्याग काम त्याग रूप ही है, क्योंकि कर्मों के फल भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाओं की सिद्धि ही हुआ करती है, उसका त्याग ही कामनाओं का त्याग है। श्रुति के बतलाए हुए ज्ञानपूर्वक काम त्याग को और यहाँ अज्ञ पुरुष के किये गये काम त्याग के समान समझ कर ही यह स्तुति की गई है कि त्याग करते ही संसार का उपशम हो जाता है। वस्तुतः ज्ञानपूर्वक त्याग से ही संसार का उपशम होता है, क्योंकि "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती) यह श्रुतियों का परम सिद्धान्त है, तथापि स्तुति के लिए यहाँ अज्ञ पुरुष के कामना क्षय को शान्ति का कारण बतला दिया। जैसा कि एक ब्राह्मण अगस्त्य ने समुद्र का पान किया था; ब्राह्मणत्व धर्म समान होने के कारण सभी ब्राह्मणों की उस कर्म से स्तुति कर दी जाय कि ब्राह्मण ऐसे होते हैं जो समुद्र भी पी जाते हैं। इसी प्रकार कामनाओं का क्षय समान देखकर यहाँ भी स्तुति कर दी गई है।

श्रीरामानुजाचार्य इस पद्य की यह व्याख्या करते हैं कि बिना ज्ञान के जो अतिकठिनता से अर्थात् हठयोगरूप अभ्यास किया जाय, उससे ज्ञान ही श्रेय अर्थात् श्रेष्ठ है एवं केवल अक्षरों से प्राप्त अपरिपक्व ज्ञान से आत्मा का ध्यान अपने लिए अधिक कल्याण का उपाय है, वह ध्यान भी यदि पूर्ण सिद्ध न हुआ हो तो उसकी अपेक्षा कर्मों के फलों का त्याग कर देना ही आत्मा के लिए अधिक हितकर है, क्योंकि बिना फलाशा के कर्म करने से अपने आपको बड़ी शान्ति मिलती है। यह शान्ति क्रम से ही प्राप्त होती है–फलाशा के बिना कर्म करते रहने से चित्त शुद्धि होकर ध्यान में प्रवृत्ति होती है और ध्यान से ज्ञान उत्पन्न होता है, ज्ञान से भगवान् का साक्षात्कार होता है और उससे पराभक्ति प्राप्त होती है। इससे यह अभिप्राय प्रकाशित किया कि जो भक्तियोग का अभ्यास करने में भी असमर्थ हैं, उनके लिए आत्मनिष्ठा ही कल्याणकारक है और आत्मनिष्ठा में भी जिनके मन की शान्ति नहीं, उनको फल की आशा छोड़कर कर्मनिष्ठ होना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार पूर्वोक्त पद्यों का ही अनुवाद रूप यह पद्य है, यह इनके मत से अर्थ हुआ। आनन्दतीर्थोपनामक श्री मध्वाचार्य की व्याख्या है

कि अज्ञानपूर्वक अभ्यास से ज्ञान ही श्रेष्ठ है और केवल ज्ञान से ज्ञान सहित ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यान से कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है–यह कर्मयोग की स्तुति की गई है।

श्रीवल्लभाचार्य और गोस्वामीपुरुषोत्तमजी की व्याख्या प्राय: श्रीशङ्कराचार्यजी से मिलती जुलती है। केवल वहाँ भक्तिमार्ग के अनुसार ध्यानशब्द का अर्थ भगवत्सेवा या भगवान् के रूप का चिन्तन किया गया है। फल त्याग की स्तुति ही यहाँ है–यह उनका भी मत है।

श्रीनीलकण्ठजी लिखते हैं कि श्रवण आदि के अभ्यास से ज्ञान अर्थात् तत्त्व निश्चय श्रेष्ठ है। उस ज्ञान का ध्यान अर्थात् सदा अनुचिन्तन करते रहना उससे भी श्रेष्ठ है और उस ध्यान से भी कर्म के फलों का त्याग कर देना श्रेष्ठ है। कर्मफल का त्याग योगी ही कर सकता है इस कारण यहाँ कर्मफल त्यागी को योगी के समान मानकर उसकी स्तुति की गई।

अन्य व्याख्याएँ भी पूर्वोक्त व्याख्याओं का अनुसरण करती हैं। श्रीशङ्करानन्दजी यहाँ "ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:" इस श्रुतिविरोध की अशङ्का उठाकर इस पद्य का यही अर्थ करते हैं कि श्रवण मनन आदि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञान को ही मोक्ष का साक्षात् साधन सब श्रुति स्मृतियों ने बतलाया है। यदि अभ्यास और ज्ञान में कोई प्रतिबन्ध उपस्थित हो जाय तो ध्यान करना चाहिये। ध्यान का अर्थ एक प्रकार की चित्तवृत्ति बनाना ही है, जो कि उपासनाशब्द से भी कही जा सकती है। इस उपासना से ज्ञान के प्रतिबन्धक पूर्वजन्म के अनिष्ट संस्कार आदि दूर हो जाते हैं, इससे ज्ञान सिद्ध हो जाता है। ज्ञान सिद्धि का उपाय होने के कारण ही उसे यहाँ ज्ञान से श्रेष्ठ बतलाया गया। उस ध्यान से कर्मफलों का त्याग श्रेष्ठ है। कर्मफल त्याग का यहाँ यह अर्थ है कि कर्मों से उत्पन्न वासना नाम के संस्कार से जो सब संसार उत्पन्न होता है वह सभी कर्मफल कहा जा सकता है। उस सबका त्याग अर्थात् निर्विकल्प समाधि में सिद्ध होकर सब जगह ब्रह्मदर्शन करना ही कर्मफल त्याग कहा जा सकता है, उससे शीघ्र ही शान्ति प्राप्ति हो जाती है।

लोकमान्यतिलक पद्य का अर्थ करते हैं कि अभ्यास की अपेक्षा ज्ञान अधिक अच्छा है, ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता अधिक है। ध्यान की अपेक्षा कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है और इस कर्मफल के त्याग से तुरन्त ही शान्ति प्राप्त होती है।

आगे उन्होंने वेदान्त मार्गानुयायी, भक्ति मार्गानुयायी और सांख्ययोग मार्गानुयायी आदि सब व्याख्याकारों का खण्डन तो किया, किन्तु अपने आप भी ज्ञान की अपेक्षा ध्यान की योग्यता क्यों अधिक है ? इसका स्पष्टीकरण नहीं कर सके। आगे उन्होंने निष्कर्ष यह निकाला है कि साम्य बुद्धि प्राप्त करने के लिए तीन उपाय हैं–अभ्यास, ज्ञान और ध्यान।

इनमें यदि किसी से अभ्यास न सधे तो वह ज्ञान अथवा ध्यान में से किसी भी उपाय को स्वीकार कर ले। यह निष्कर्ष भी विचित्र ही है। गीता के पद्यों से यह अर्थ प्राप्त नहीं होता। आगे उन्होंने यह भी शङ्का उठाई है कि जो अभ्यास, ज्ञान, ध्यान आदि सबमें अशक्त है, वह सब कर्मों के फलों को भी कैसे छोड़ सकेगा ? इसका समाधान किया कि एकदम कर्मफल छोड़ने का यहाँ अभिप्राय नहीं है, किन्तु धीरे धीरे पूर्व अध्यायों में बतलाए गए मार्ग के अनुसार कर्मयोग का अभ्यास करे। परिपक्व दशा में कर्मफल त्याग सिद्ध हो जायेगा। तब शान्ति भी प्राप्त हो जायगी। यह समाधान भी इसलिए ठीक नहीं हुआ कि पूर्व पद्यों में किसी भी कर्म में समर्थ नहीं है तो कर्मफल त्याग कर दे—इस भगवान् की उक्ति से यह सिद्ध है कि सर्वथा अशक्त को ही यह कर्मफल त्याग का उपदेश किया गया है, क्रम-क्रम से परिपक्वता प्राप्त कर लेने वाले को नहीं।

श्रीविद्यावाचस्पतिजी ने अपने शीर्षककाण्ड में यह शीर्षक दिया कि ईश्वरीय उपासना के अनुकल्प अभ्यास, ज्ञान, ध्यान और कर्मफल त्याग, इन चार प्रकार के उपायों में आगे का उपाय श्रेष्ठ है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने में निरत रहने का नाम अभ्यास है और ईश्वर में परम अनुराग प्राप्त करने के हेतुभूत कर्मों में निरत रहना ध्यान है।

हमारे मत के अनुसार इस पद्य का अर्थ यह है कि ज्ञान ही निश्चयपूर्वक परम कल्याण का साधन है। वह अभ्यास से प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रथम चरण को पृथक् वाक्यरूप ही माना जाय और आगे जो ध्यान अर्थात् पूर्व दसवें पद्य में कही गई ईश्वरसेवा की विशेषता और उससे भी कर्मफल की विशेषता बतलाई गई है, वहाँ विशेषता अधिक जनों से साध्य होने के कारण ही मानी जाय। इस प्रकार आगे के तीन चरणों का तात्पर्य होगा कि ज्ञान की अपेक्षा ध्यान अर्थात् श्रवण कीर्तन आदि नवधाभक्ति विशेष है अर्थात् सुकर है। इसका अभ्यास थोड़े परिश्रम से सब लोग कर सकते हैं। उस ध्यान की अपेक्षा भी जो-जो कर्म सांसारिक स्वभावतः करते हैं उन्हें फल की आशा छोड़कर अपना कर्तव्य समझ कर करना और भी सुकर है। इस प्रकार फलाशा छोड़ने से क्रमशः ईश्वरोपासना और आगे अद्वैत ज्ञान भी सिद्ध हो जायेगा तथा परम शान्ति भी प्राप्त हो जायेगी। यह तीन चरणों की व्याख्या महाभारत के टीकाकार श्रीनीलकण्ठजी की प्रथम व्याख्या के अनुकूल है। पूर्व जो श्रीनीलकण्ठजी का मत दिखाया गया है वह उनकी दूसरी व्याख्या है।

इस प्रकार इसमें मन लगाने के सुगम से सुगम साधनों का उपदेश कर आगे उपासनाकाण्ड की पूर्ति करते हुए भगवान् यह भी दिखाते हैं कि भक्तजनों का लोकों के साथ व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए और उनकी अपनी अन्तःकरण की वृत्ति कैसी रहनी चाहिये—इसी का विवरण आगे के पद्यों में इस अध्याय की या उपासनाखण्ड की पूर्त्ति तक किया जाता है। (१२)

●

इक्यावनवाँ-पुष्प

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ।।१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद् भक्तः स मे प्रियः ।।१४।।
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः सच मे प्रियः ।।१५।।
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।१६।।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।।१७।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः ।।१९।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।।२०।।

श्रीशङ्कराचार्य इन पद्यों में यह विशेषता प्रकट करते हैं कि पूर्व अर्जुन के सगुण साकारोपासक और आकाररहित अक्षरोपासकों में कौन श्रेष्ठ है–इस प्रश्न पर सामान्यतः यह उत्तर दिया था कि सगुणसाकरोपासक श्रेष्ठ है। अक्षरोपासना में क्लेश अधिक होता है। यह उत्तर अर्जुन की योग्यता और अधिकार पर लक्ष्य रख कर ही दिया गया था, किन्तु अभिव्यञ्जित यही किया कि अक्षरोपासक ही श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ "ते प्राप्नुवन्ति मामेव" कहा। उसका अक्षरार्थ यह होता है कि वे तो सीधे मुझको ही प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् मेरे स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं और आगे साकारोपासकों के लिए सातवें पद्य में कहा कि उनका उद्धार मैं करता हूँ। इससे उनको अपने उद्धार के लिए साकार स्वरूप की अपेक्षा बतलाई गई। इससे सिद्ध हो जाता है कि जो बिना किसी की अपेक्षा

के ही मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं वे ही परमुखापेक्षी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। यदि साकारोपासक भी स्वयं ही भगवान् में लीन हो सकते तो "मैं उनका उद्धार करता हूँ"–यह कथन नहीं बन सकता था। अक्षरोपासना का अर्थ ज्ञाननिष्ठा या परब्रह्म के साथ अभेद भावना ही है। स्वयं ईश्वरभाव को जो प्राप्त कर चुका वह अपने उद्धार के लिए दूसरे ही की अपेक्षा (चाहे वह ईश्वर ही हो) क्यों करेगा ? इससे बात यही सिद्ध होती है कि भगवान् अर्जुन के परम हितैषी हैं इसलिए उसे उसके अधिकार के अनुसार कर्मयोग का ही उपदेश देते हैं, किन्तु अपने मुख्य तत्त्व का कथन भी छोड़ना नहीं चाहते, इसलिए अक्षरोपासकों के लिए जो वहाँ सर्वत्रसमानता की बुद्धि और सब भूतों का हितसाधन आवश्यक बतलाया था, उसको ही विस्तृत इन पद्यों में किया जाता है। इस प्रकार श्रीशङ्कराचार्य इन पद्यों को ज्ञाननिष्ठा या संन्यासमार्ग पर ही लगाते हैं। किन्तु हम तो पूर्व ही कह चुके हैं कि प्रथमखण्ड भूमिका के विस्तृत विवेचन के अनुसार यह मध्यमखण्ड भक्तिमार्ग या उपासनाखण्ड का ही विवरण मुख्यतया करता है। उसके अनुसार ही हमारे मत में इन पद्यों का आशय भी उपासना के प्रतिपादन में ही है। उपासक भक्तों के आचार और मनोवृत्ति का विवरण ही इनमें किया गया है। जैसा कि हम पूर्व बारहवें पद्य के अन्त में लिख आये हैं। पद्यों का अर्थ इस प्रकार है– सब प्राणियों से द्वेष करने वाला न हो, केवल इतना ही नहीं सबके साथ मित्रता भी रक्खे, उनके दुःखों को दूर करने वाला हो। योगदर्शन में भी कहा गया है कि–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-
विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

(योगसू० १।३३)

अर्थात् किसी मनुष्य को सुखी देखकर उस पर मैत्री की भावना करे, ये मेरा मित्र है ऐसा समझने पर ईर्ष्या नहीं होगी। किसी को दुःखी देखकर उस पर करुणा की भावना करे, करुणा की भावना का यह अर्थ नहीं है कि उसके दुःख से अपने आप भी दुःखी हो जाय, किन्तु उसके साथ सहानुभूति करना और यथाशक्ति उसके दुःख हटाने का प्रयत्न करना ही करुणा है। इसी प्रकार किसी को पुण्य करता हुआ देखकर मुदिता की भावना करे, अर्थात् अपने चित्त में प्रसन्न हो एवं किसी को पाप करता हुआ देख कर उस पर उपेक्षा की भावना करे, अर्थात् उससे द्वेष न करे, संसार में इसी प्रकार मनुष्य किया करते हैं–ऐसी उपेक्षा की भावना मन में करे। इस प्रकार की भावनाओं से चित्त में प्रसन्नता रहती है। इनमें से मैत्री और करुणा इन दो भावनाओं को यहाँ भगवान् ने कुछ विस्तार से बतलाया है, अन्य भावनाएँ भी आगे पद्यों में

आवेंगी। आगे भगवान् कहते हैं कि स्त्री, पुत्र, गृह सम्पत्ति, आदि में ममता न करे और मैं सब कुछ करता हूँ–ऐसा अहङ्कार भी चित्त में न रक्खे। भाग्यवश जो सुख या दुःख आवे उनमें भी समान रहे और यदि कोई अपना अपकार भी करे तो उसमें सहनशील रहे अर्थात् उसके अपकार की भावना मन में न करे। (१३)

निरन्तर जो कुछ प्राप्त हो जाय उसमें ही सन्तुष्ट रहा करे एवं योगी अर्थात् चित्त को एकाग्र रखने का अभ्यास किया करे, अथवा कर्मयोग में सदा निरत रहे। अन्तःकरण को अपने वश में रक्खे, आत्मज्ञान से कल्याण होगा–ऐसी मन में दृढ़ भावना रक्खे और मन तथा बुद्धि को मेरे में अर्पित कर दे, अर्थात् अपने मन और बुद्धि का विषय प्रधानरूप से मुझे ही बनाए रक्खे। जो इस प्रकार की भावना रखता है वह भक्त मुझे प्रिय है।

श्रीशङ्कराचार्य यहाँ कहते हैं कि पूर्व सप्तमाध्याय में जो भगवान् कह आये हैं कि "जिससे किसी प्राणी को कष्ट न हो" और ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है, उसी का विस्तार यहाँ के पद्यों में भी "यो मद्भक्तः स मे प्रियः" से किया जाता है। इससे उनका तात्पर्य यही है कि यहाँ ज्ञानी का ही वर्णन है। हम अपना मत पूर्व ही लिख चुके हैं। (१४)

जिससे कोई मनुष्य न घबराए तथा स्वयं भी किसी से न घबराए, अर्थात् ऐसा आचरण रक्खे कि कोई उससे द्वेष ही न करे और यदि करे भी तो अपने सदाचार के कारण निर्भय रहे तथा हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग ये जिसमें न हों, वही भक्त मुझे प्रिय होता है। (१५)

जो किसी कार्य में किसी दूसरे की सहायता की इच्छा न रक्खे, सदा पवित्र रहे, जो सब कार्यों के लिए चित्त में उत्साह रक्खे, किन्तु किसी भी कार्य में बद्ध न हो, सदा तटस्थता की भावना रक्खे। इससे पूर्व कही हुई योगसूत्रोक्त मुदिता और उपेक्षा भावना भी सूचित की गई। चित्त में कभी भी दुःख न आने दे और चित्त से सभी सुख दुःख देने वाले कार्यों के फल का त्याग ही रक्खे। कई व्याख्याकार इसका अर्थ कर्म-संन्यास ही मानते हैं, किन्तु श्रीशङ्कराचार्य यहाँ फल त्याग ही अर्थ समझते हैं। भगवद्गीता के अट्ठारहवें अध्याय के आरम्भ में जो त्याग की परिभाषा की गई है, उसके अनुसार यही अर्थ उचित भी है। ऐसा ही भक्त मुझे प्रिय होता है। (१६)

जो अपने कार्य की सिद्धि में अर्थात् इष्ट वस्तु प्राप्त होने पर न प्रसन्न हो और अनिष्ट भी कभी आ पड़े तो उससे द्वेष न करे। इन पदों से उदासीनता को ही स्पष्ट किया गया है एवं न शोक करता है न किसी वस्तु की इच्छा करता है,

इस प्रकार शुभ और अशुभ फलों का चित्त से त्याग करने वाला और भक्ति रखने वाला प्राणी मुझे प्रिय है। (१७)

शत्रु और मित्र में समान भाव रक्खे तथा यदि कहीं अपना आदर हो अथवा निरादर भी हो तो समान भाव रक्खे एवं शीत, गर्मी, सुख और दुःख में समान ही रहे तथा किसी का चित्त से सङ्ग न किया करे। (१८)

निन्दा और स्तुति को समान समझे, आवश्यकता से अधिक न बोले और सन्तुष्ट रहे अर्थात् वस्त्र, भोजन आदि जो मिल जाय, उसी से संतोष करे अधिक की इच्छा न करे, अनिकेत रहे, अनिकेत शब्द का अर्थ कई व्याख्याकार यह करते हैं कि जिसके घर-बार कुछ न हो, इससे संन्यास ही सिद्ध हुआ। किन्तु लोकमान्यतिलक इसका अर्थ करते हैं कि जिसका ठिकाना कहीं भी न हो, अर्थात् अनिश्चित रूप से कहीं भी रहा करे। जिसकी बुद्धि कभी डाँवाडोल न हो और निरन्तर मेरे में प्रेम रखने वाला हो, वही मनुष्य मुझे प्रिय होता है। (१९)

इस पद्य में "धर्म्यामृतम्" और "धर्मामृतं" दोनों प्रकार के पाठ देखे जाते हैं। "धर्म्यामृतम्" जहाँ पाठ है वहाँ "धर्मादनपेतं धर्म्यम्–इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म से युक्त–यह अर्थ हो जाता है। धर्म से युक्त और अमृत अर्थात् सुनने में भी चित्त को सुख देने वाला तथा मोक्ष को भी प्राप्त कराने वाला हो जाता है। "धर्मामृतम्" इस पाठ में धर्मरूप अमृत–यह अर्थ रहता है, तात्पर्य एक ही है। भगवान् कहते हैं कि मैंने "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" इत्यादि पद्यों में जो तुम्हें उपदेश दिया है वह अमृत रूप है। इस उपदेश को जो अपने आचरण में सदा लेते रहते हैं और श्रद्धा से युक्त रहते हैं, सब मनुष्यों में जो दूसरे के वाक्य के दोष देखने की प्रवृत्ति रही है उसको रोकने वाली चित्तवृत्ति का नाम श्रद्धा है, "दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिः श्रद्धा" ऐसी श्रद्धा से युक्त रहते हैं। अर्थात् इन मेरे वाक्यों में दोष देखने की इच्छा जिनके मन में कभी नहीं उठती और जो मुझ ईश्वर को ही परम अर्थात् अन्त में प्राप्त समझते हैं वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

यहाँ सभी पद्यों में प्रिय शब्द का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने पूर्वोक्त पद्य के अनुसार ज्ञानी ही किया, किन्तु इस पद्य में श्रीनीलकण्ठजी कहते हैं कि ज्ञानी को तो भगवान् ने पहिले "ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७।१८) इस वाक्य से अपना आत्मा ही कह दिया, इसलिए यहाँ प्रिय शब्द से भक्त अर्थात् अपने में प्रेम रखने वाले को ही भगवान् ने प्रिय कहा है–ऐसा कहते हैं। श्रीरामानुजाचार्य आदि को भी भक्त को ही भगवान् ने प्रिय कहा–यही इष्ट है।

इस प्रकार भगवद्गीता में कर्म, उपासना, ज्ञान, इन तीनों का तीन षट्कों में प्रतिपादन मानने वालों के मत से "उपासनाकाण्ड" यहाँ पूर्ण हुआ और 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के पदों का तीनों षट्कों में जो प्रतिपादन मानते हैं, उनके मतानुसार "तत्" पदार्थ अर्थात् ब्रह्म-ईश्वर निरूपण यहाँ पूर्ण हुआ। श्रीविद्यावाचस्पतिजी के मतानुसार "राजविद्या" अर्थात् विद्याओं में जो भगवान् कृष्ण को अत्यन्त प्रिय है, वह "भक्ति विद्या" परिपूर्ण हुई। (२०)

बारहवाँ अध्याय समाप्त ।

●